॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सहज सुख साधन

लेखक :

स्व० ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी

पत्र-व्यवहार एवं प्राप्ति स्थान :—
बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ
1325, चांदनी चौक, दिल्ली-6

Res. 7/36 A, दरियागंज, नई दिल्ली-2

जैन बालाश्रम मन्दिर
दरियागंज, नई दिल्ली-2

प्रात: 6 से 10 बजे   शाम 6 से 8 बजे

प्रथम संस्करण श्री महावीर जयन्ती
द्वितीय संस्करण पोहबदी 11 सं. 2047
2000 12.12.1990
श्री चन्दा प्रभु एवं श्री पार्शनाथ प्रभु
जन्म एवं तप कल्याणक के
शुभ अवसर पर

निशुल्क वितरण हुवा बिना पोस्टेज
डाक व्यय हेतु 5/-एवं जवाबी कार्ड
पते का भेजकर निशुल्क स्वाध्याय
के लिए

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥ १ ॥
अविरलशब्दघनौघः प्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
श्रीपरमगुरवे नमः परम्पराचार्य्य श्रीगुरवे नमः।

सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं धर्मसंबन्धकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं **'सहज सुख साधन'** नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य ! **ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी जैन** विरचितम्।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वे श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

श्री वीतरागाय नमः

ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी जैनधर्म के उद्‌भट विद्वान थे। उनका जन्म नवम्बर 187. ई० में और स्वर्गवास 10-2-1942 को हुआ। उन्होंने लगभग 100 ग्रन्थों की टीका व रचना की है। सभी ग्रन्थ उच्चकोटि के तथा आध्यात्मिक प्रधान हैं। उन्होंने "सहज सुख साधन" नामक लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना 16-10 1934 को पूर्ण की थी। यह ग्रन्थ दो जगह छप चुका था लेकिन अनुपलब्ध होने पर सन् 1971 में फुलेरा में मुनि विवेक सागर जी की प्रेरणा द्वारा भी प्रकाशित हुआ था। ये मुनि श्री आचार्य ज्ञानसागर जी (आ० विद्या सागर जी के गुरु) के शिष्य थे।

प्रस्तुत ग्रंथ का यह द्वितीय संस्करण श्रीमती वीणा जैन ध.प. श्री अजित प्रसाद जैन F.C A. (श्रीमती सुन्दरी देवी जैन 7/36 ए दरियागंज नई दिल्ली-2 की पुण्य स्मृति मे), श्रीमती विमला देवी जैन, ला. शीलचन्द जैन जौहरी 11, दरियागंज, श्री प्रेमचन्द जैन कागजी, 2 दरियागंज एवं श्री रतन चंद जैन 23, दरियागंज नई दिल्ली के सहयोग से छपाया जा रहा है। सभी धन्यवाद के पात्र हैं।
द्वितीय संस्करण 12-12-1990 पोहबदी 11 सं. 2047
भगवान चंदा प्रभु - पार्श्वप्रभु-जन्म, तप पंच कल्याणक पर

श्री महावीर जयन्ती 18-4-1989 महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ

प्राक्कथन

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वंदे तद्गुण लब्धये ॥

मोक्षमार्ग के नेतृत्व, कर्म रूपी पर्वतों के भेतृत्व तथा समस्त तत्वों के ज्ञातृत्व सदृश अनुपम गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उन गुणों के धारक तीर्थंकर प्रभु की वन्दना करता हूं।

संसारी प्राणी ने क्षणभंगुर और नाशवान भौतिकवाद में सुख मान रक्खा है और वह मोह के जाल में फंसकर रागद्वेषादिक कषाय के वश होकर हर समय कर्मों को बांधता रहता है। मिथ्यात्व में फंसकर, स्व-वस्तु जो अपनी आत्मा है उसे भूलकर पर-वस्तुओं को अपनी मान रहा है। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब सभी पर-वस्तु हैं इनसे मोह छोड़ना चाहिए, इष्ट अनिष्ट कल्पना नहीं करनी चाहिए। पहले श्रद्धान पक्का करो। बिना सम्यग्दर्शन के आगे का प्रयत्न बिना अंक की बिन्दी के समान निष्फल है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा से ही मनुष्य अपने जीवन को सुखी बना सकता है। मुनिधर्म का यदि पालन कर सके तो उत्तम है। यदि वह धारण नहीं किया जा सके तो श्रावक धर्म भी मानव जीवन के भवन का कलश है।

आजकल धर्म का सम्बन्ध शरीर सम्बन्धी बाह्य क्रियायों से जोड़ा जा रहा है जबकि धर्म आत्मा का स्वभाव है। स्वानुभूति अथवा आत्मानुभूति ही धर्म है। आत्मा को आधार मानकर चिन्तन करने वाले मुनियों की परम्परा जो श्रमण परम्परा है वो ही गन्तव्य स्थान मोक्ष तक ले जाने वाली है। निश्चय-व्यवहार एक-दूसरे के पूरक हैं। जैन दर्शन वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान का दर्शन है, इसमें पूर्वाग्रह अथवा हठवाद को स्थान नहीं।

प्राणी को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पापों तथा अभक्ष्य, सप्तव्यसन, रात्रि भोजन, चर्म प्रयोग, मद्य, मांस, मधु, पांच उदम्बर फल, द्विदल आदि का त्याग करना चाहिए। छना पानी पीना, दान देना, देवदर्शन, जलाभिषेक, पूजा-पाठ, जाप, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, व्रत उपवास, मुनि समागम आदि शुभकार्यों को सदैव करते रहना चाहिए। वैराग्यभाव उत्पन्न हों, कषाय मंद हों, भोगों से निवृत्ति हो, मुनि बनने के भाव हों, न बन सके तो अनुमोदना करे, अंत समय में समाधिमरण की तीव्र उत्कंठा हो। यदि ऐसा भाव जाग्रत नही हुआ है तो समझना चाहिए कि ये क्रियायें भोगों की प्राप्ति के लिए की जा रही है।

चरित्रं खलुधम्मो जो सो समोत्ति णिछिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो हु समो ॥

वास्तव में चरित्र धर्म है वही साम्यभाव है। मोह तथा क्षोभरहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है।

'स्वरूपेचरणं चारित्रं स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तु स्वाभाव त्वाद्धर्मः' स्वरूप में आचरण करना चारित्र है—वही वस्तु का स्वाभाव होने से धर्म है।

मात्र ज्ञान से दुःख का नाम नहीं होता—

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि बोल्लए अण्णाणी ।
वेज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥६१॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है ऐसा अज्ञानी कहता है। वैद्य औषधि जानता है तो क्या केवल जानने से रोग दूर होगा ? औषधि के साथ उसका सेवन भी जरूरी है। मोक्ष-मार्ग के ज्ञान के साथ सम्यक् आचरण भी जरूरी है।

आचरण उचित करुणापूर्ण तथा संयमी जीवन आत्मोत्थान का आचरण है। कागज के शेर से डरने वाले क्या सिंह को पकड़ सकेंगे ? जो विषय और भोगों के दास हैं, शरीर के गुलाम हैं, सदाचार पालन करने से जी चुराते हैं, क्या वो आध्यात्मिक गुणों का विकास कर सकेंगे ? जिस गृहस्थ ने मुनियों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं की तथा पंचपरमेष्ठियों की वन्दना नही की उसे मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

सच्चे गुरु का स्वरूप

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यान तपोरक्त:, तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

जो गृहस्थ पाप के आश्रवो को त्याग करने मे असमर्थ है, उसे पुण्य के कारणों को नही छोडना चाहिए। जो निरन्तर पाप को बांधता रहता है वह मरकर पशु योनि या नरक पर्याय रूप कुगति को प्राप्त करता है।

सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ सागर तक हर समय तत्व चर्चा करते हैं परन्तु कर्मों का विनाश तो दूर रहा देश सयम भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। यदि तत्व-चर्चा या ज्ञान मात्र से मुक्ति हो जावे तो फिर सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र निष्फल हो जायेगा। द्वादशांग की रचना मे प्रथम स्थान आचार सम्बन्धी अग को दिया है।

स्वाध्याय ही परम तप है। उससे हेय उपादेय का ज्ञान होगा। अनादि-काल से अधिकांश प्राणीमात्र क्रियायो को धर्म मानते हैं। धर्म वह है जो मोक्ष ले जावे।

"देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिव मगचारी रे
शिव चाहे तो द्विविधि कर्म तें, कर निज परनति न्यारी रे
आपा नहिं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे ॥"

धर्म ही अपना सच्चा बन्धु है। अत: धर्माराधना करना ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य है। धर्म याने ज्ञाता द्दष्टा रहना, इष्ट अनिष्ट पना नही होना। समभाव का होना। राग, द्वेष व मोह के अभाव का नाम ही समभाव है। समभाव में रत्नत्रय, दशधर्म, अहिंसा, श्रावक व निर्ग्रन्थ धर्म, दयाधर्म आदि 2 सभी गर्भित हो जाते हैं। हम सभी भव्य-आत्मायें इस आध्यात्मिक ग्रन्थ की स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर सकें, इसी शुभ भावना सहित।

श्री महावीर जयन्ती **महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ**

भूमिका

मानव पर्याय एक दिन बदल जरूर जाती है, परन्तु पर्यायधारी द्रव्य नित्य बना रहता है। यह मानव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्य से रचित है। दोनों की अनादि सगति संसार में हो रही है। दोनों में वैभाविक परिणमन शक्ति है। इस कारण कार्माण शरीर में बद्ध कर्मों के विपाक से आत्मा को राग द्वेष मोह परिणति होती है। इस अशुद्ध भाव का निमित्त पाकर पुनः कार्माण शरीर में कर्म पुद्गलों का कर्मरूप बन्ध होता है। बीज वृक्षवत् एक दूसरे के विभाव परिणमन में निमित्त हो रहे है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से यह जीव पुद्गल के मोह में उन्मत्त होकर अपने असल जीव द्रव्य को भूले हुए हैं। जिस २ पर्याय को यह जीव धारता है उसी में तन्मय हो जाता है और तद्रूप

ही अपने को मान लेता है। रातदिन इन्द्रिय सुख की तृष्णा में आकुल होकर उसके शमन का उपाय करता है। परन्तु सत्य उपाय को न पाकर तृष्णा का रोग अधिक-अधिक बढ़ता चला जाता है।

पुद्‌गल की संगति से जीव को भी उसी तरह अनेक दुःख व त्रास भोगने पड़ते हैं जैसे लोहे की सगति से अग्नि पीटी जाता है। इस कर्म पुद्‌गल की सगति से जीव उसी तरह पराधीन है जैसे पिंजरे में बन्द पक्षी पराधीन है। सच्चा सहजसुख आत्मा का गुण है। इसकी श्रद्धा बिना यह मूढ प्राणी विषय सुख का लोलुपी होकर भव भ्रमण में सकट उठाता हुआ पराधीनता की बेडी मे जकड़ा हुआ महान विपत्ति मे ग्रसित है। यदि उस प्राणी को अपने सहज सुख की श्रद्धा हो जावे और यह ज्ञान हो जावे कि वह सहज सुख मेरे ही पास है तथा मुझे मेरे ही द्वारा मिल सकता है तब इसको स्वाधीन होने का मार्ग मिल जावे। रागद्वेष, मोह जब पराधीनता को आमन्त्रण करते हैं तब वैराग्य पूर्ण आत्मज्ञान पराधीनता को काट कर आत्मा को स्वाधीन करता है।

जिस चिकनाई से बन्ध होता है उस चिकनाई के सूखने से ही बन्ध कटता है। प्राचीन काल मे श्री ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु, सपार्श्व, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि पार्श्व, महावीर चौबीस तीर्थंकर हो गए हैं। इनके मध्य में अनगिनती महात्मा हो गए है। श्री महावीर पीछे श्री गौतम, सुधर्म, जंबू तीन केवल ज्ञानी हो गए हैं। इन सबो ने आत्मा को पहचाना और जाना था कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय परमात्मा रूप ही है।

यह आत्मा भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि से भिन्न है। इसी ज्ञान को सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान करके

उन महात्माओं ने इसी आत्माके शुद्ध स्वभाव का ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पाला। इसी रत्नत्रयमई आत्म-समाधि के द्वारा अपने को बन्ध रहित मुक्त करके परमात्मपद में स्थापित किया। उन्ही तीर्थंकरादि महान् पुरुषों के दिखाए हुए मार्ग पर उनके पश्चात् अनेक महात्मा चले और अनेकों ने उसी सार उपदेश को ग्रन्थों के भीतर स्थापित किया।

अध्यात्ममय निश्चय धर्म के ग्रन्थ निर्माताओं में श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** का नाम अति प्रसिद्ध है। उनके निर्मापित पचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्ट-पाहुड आदि में श्री समयसार एक अपूर्व ग्रन्थ है, जो आत्मा को आत्मारूप परसे भिन्न दिखाने को दर्पण के समान है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के तीनो प्राभृतो के टीकाकार श्री **अमृतचन्द्र** आचार्य बडे ही आत्मज्ञानी व न्यायपूर्ण सुन्दर लेखक ही गए है। श्री समयसार के अर्थ को खोलने वाले जयपुर निवासी **पंडित जयचन्दजी** हो गए हैं। उनकी आत्म-ख्याति नाम टीका आत्मतत्त्व झलकाने को अपूर्व उपकार करती है। कारजा (बरार) निवासी श्री सेनगण के विद्वान् भट्टारक **श्री वीरसेनस्वामी** समयसार के व्याख्यान करने को एक अद्वितीय महात्मा हैं। उनके पास एक वर्षाकाल बिताकर मैंने समयसार आत्मख्याति का वांचन किया था। श्री वीरसेनस्वामी के अर्थ प्रकाश से मुझ अल्प बुद्धि को विशेष लाभ पहुंचा था। उसी के आश्रय से और भी जैन साहित्य के मनन करने से तथा **श्रीमद् राजचन्द्रजी** के मुख्य शिष्य **श्री लघुराजजी** महाराज की पुनः प्ररणा से इस ग्रन्थ के लेखन में इस बात का उद्यम किया गया है कि श्री तीर्थंकर प्रणीत जिन धर्म का कुछ बोध दर्शाया जावे व अनेक आचार्यों के वाक्यों का संग्रह कर दिया जावे जिससे पाठकगण **स्वाधीनता की कुंजी** को पाकर अपने ही अज्ञान के कपाटों को खोलकर अपने ही भीतर परमात्मदेव का दर्शन कर सकें।

जो भव्य जीव इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़कर फिर उन

ग्रन्थो का पठन करेंगे जिनके वाक्यो का इसमे सग्रह है तो पाठकों को विशेष आत्मलाभ होगा। इसमे यथासम्भव जिनवाणी का रहस्य समझ कर ही लिखा गया है। तौभी कही अज्ञान व प्रमाद से कोई भूल हो तो विद्वज्जन मुझे अल्पश्रुत जानकर क्षमा करें व भूल को ठीक करलें। मेरी भावना है कि यह ग्रन्थ सर्वजन पढकर आत्मज्ञान को पाकर सुखी हों।

अमरावती।
आश्विन सुदी ८ वीर सं० २४६०
ता० १६—१०—१९३४

जैन धर्मप्रेमी—

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

———

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

प्रथम अध्याय—

विषय		पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

आठवां अध्याय—

नौवां अध्याय—

ॐ

सहज सुख साधन ।

दोहा

सहजानन्द स्वभाव को, सुमरण कर बहु बार ।
भाव द्रव्य से नमन कर, नमूँ सुबुद्धि उदार ॥ १ ॥

श्री जिनेन्द्र ऋषभेश से, वीर धीर पर्यन्त ।
वर्तमान चोबीस जिन, नमहुँ परम गुणवन्त ॥ २ ॥

सिद्ध शुद्ध आतम विमल, परमानन्द विकास ।
नमहुँ भाव निज शुद्ध कर, होय आतम हुल्लास ॥ ३ ॥

श्री गुरु आचारज गुणी, साधु संघ प्रतिपाल ।
निजाराम के रमण से, पायो ज्ञान विशाल ॥ ४ ॥

उपाध्याय श्रुत के धनी, ज्ञान दान कर्तार ।
अध्यातम सत ज्ञान से, किये भव्य उद्धार ॥ ५ ॥

साधु साधते आपको, निज अनुभव पथ लीन ।
कर्म कलंक मिटाय के, रहें सदा स्वाधीन ॥ ६ ॥

तीनों पद धर गुरुनिको, बार बार सिर नाय ।
जिनवाणी पावन नमूँ, आत्म तत्व दरशाय ॥ ७ ॥

आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार ।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ॥ ८ ॥

यही धर्म उत्तम महा, यही शरण करतार ।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख शान्ती दातार ॥ ९ ॥

सहजानन्द सुधा महा, जो चाखन उत्साह ।
तिन हित साधन सार यह, लिखूँ तत्व अवगाह ॥१०॥

प्रथम अध्याय

संसार स्वरूप।

"संसरणं ससारः परिवर्तनम्" ससार उसको कहते हैं जहाँ जीव ससरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोडकर फिर अन्य अवस्था को धारता है। ससार मे थिरता नहीं, ध्रुवता नही, निराकुलता नही, ससार दुखो का समुद्र है।

शरीर सम्बन्धी दुख है— जन्मना, मरना, वृद्ध होना, रोगी होना, अशक्त होना, भूख प्यास से पीड़ित होना, गर्मी सरदी से कष्ट पाना, डांस मच्छरादि से पीड़ित होना, बलवानो द्वारा शस्त्र घात सहना, आदि।

मन सम्बन्धी दुःख है—इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोग तथा रोग पीड़ासे शोकित व खेदित होना, परकी सम्पत्ति अधिक देखकर ईर्ष्या भाव से संतापित रहना, बहुत धनादि परिग्रह की प्राप्ति की तृष्णा से आकुलित रहना, अपनी हानि करने वाले पर द्वेष व क्रोध भाव से कष्ट पाना, अपमानकर्ता को हानि करने के भाव से पीड़ित रहना, सताप व कष्ट दातारो से भयभीत रहना, इच्छानुकूल वस्तु न पाकर क्षोभित रहना, आदि।

शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से भरा हुआ यह संसाररूपी खारा समुद्र है। जैसे खारे समुद्र से प्यास बुझती नहीं वैसे संसार के नाशवंत पदार्थों के भोग से तृष्णा की दाह शमन होती नहीं। बड़े २ सम्राट भी संसार के प्रपंचजाल से कष्ट पाते हुए अन्त में निराश हो मर जाया करते हैं।

इस संसार के चार गतिरूपी विभाग हैं—नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति मनुष्य गति। इनमें से तिर्यंच गति व मनुष्य गति के दुःख तो प्रत्यक्ष प्रगट हैं। नरक गति व देव गति के दुःख यद्यपि प्रगट नहीं हैं तथापि आगम के द्वारा श्री गुरु वचन प्रतीति से जानने योग्य हैं।

(१) नरक गति के दुःख— नरक गति में नारकी जीव दीर्घ काल तक वास करते हुए कभी भी सुखशान्ति पाते नहीं। निरंतर परस्पर एक दूसरे से क्रोध करते हुए वचन प्रहार, शस्त्र प्रहार, कायप्रहार आदि से कष्ट देते व सहते रहते हैं, उनकी भूख प्यास की दाह मिटती नहीं, यद्यपि वे मिट्टी खाते है, वैतरणी नदी का खाराजल पीते हैं परन्तु इससे न क्षुधा शांत होती है न प्यास बुझती है। शरीर वैक्रियिक होता है जो छिदने भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। वे सदा मरण चाहते हैं परन्तु वे पूरी आयु भोगे विना नरक पर्याय छोड़ नहीं सकते। जैसे यहाँ किसी जेल खाने में दुष्टबुद्धिधारी चालीस-पचास कैदी एक ही बड़े कमरे में रख दिये जावें तो एक दूसरे को सताएँगे, परस्पर कुवचन बोलेंगे, लड़ेंगे, मारें पीटेंगे और वे सब ही दुःखी होंगे व घोर कष्ट पाने पर रुदन करेंगे, चिल्लावेंगे तो भी कोई कैदी उन पर दया नहीं करेगा। उलटे वाक्प्रहारके वाणोसे उनके मन को छेदित किया जायगा। यही दशा नरकघरा में नारकी जीवों की है। वे पंचेन्द्रिय सैनी नपुसंक होते हैं। पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा रखते हैं। परन्तु उनके शमन का कोई साधन न पाकर निरतर क्षोभित व संतापित रहते हैं। नारकियों के परिणाम बहुत खोटे रहते हैं। उनके अशुभतर कृष्ण, नील व कापोत तीन लेश्याएँ होती हैं। ये लेश्याएँ बुरे भावो के दृष्टान्त हैं। सबसे बुरे कृष्ण लेश्या के, मध्यम बुरे नील लेश्या के, जघन्य खोटे कापोत लेश्या के भाव होते हैं। नारकियों के पुद्गलों का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। भूमि कर्कश दुर्गन्धमई होती

है । छुरा छेदक व असह्य चलती है । शरीर उनका बहुत ही कुरूप भयावना होता है, जिसके देखने से ग्लानि आ जावे । अधिक शीत व अधिक उष्णता की घोर वेदना सहनी पडती है । इस तरह नरक गति मे प्राणी बहु काल तक तीव्र पाप के फल से घोर वेदना सहते हैं । जो रौद्रध्यानी है वे अधिक तर नर्क गति मे जाते है । दुष्ट परघातक स्वार्थसाधक हिसक परिणामो की प्रणाली को रौद्रध्यान कहते है । यह चार प्रकार का है—

१—**हिंसानन्दी**—दूसरे प्राणियो को कष्ट देकर, कष्ट दिलाकर व कष्ट देते हुए जानकर जिसके मन मे बडी प्रसन्नता रहती है वह हिसानदी रौद्रध्यानी है । वह मानवो को रोगी, शोकी, दु खित, भूखे प्यासे देखकर भी दया नही लाता है, किंतु उनसे यदि कुछ अपना मतलब निकलता हुआ जानता है तो उनकी हिंसा करके उनसे धनादि ग्रहण कर लेता है । किसी देशके मानव कारीगरी द्वारा मिहनत मजूरी करके अपना पेट भरते हैं हिसानन्दी ऐसा उद्योग करता है कि वैसी कारीगरी की वस्तु स्वय बना कर व बनवाकर उस देश मे सस्ते दाम मे विक्रय करता है और उस देश की कारीगरी का सत्यानाश करके व आप धनी होकर अपने को बडा चतुर मानता है व बडा ही प्रसन्न होता है ।

हिसानन्दी वैद्य दिनरात यही चाहता है कि प्रजा मे रोगो की वृद्धि हो जिससे मेरा व्यापार चले । वह रोगीको जो शीघ्र अच्छा होसकता है देर तक बीमार रखके अपना स्वार्थ साधता है । हिसानन्दी नाज का व्यापारी यह चाहता है कि अन्न न पैदा हो, दुर्भिक्ष पडे लोगो को अन्न का कष्ट हो, जिससे मेरा अन्न अच्छे दामो मे बिके और मैं धनवान होजाऊँ । हिसानन्दी वकील यह चाहता है कि भाई भाई मे, माता पुत्र मे परस्पर झगडा हो, मुकद्दमा चले, मै खूब धन कमाऊँ व जगत के प्राणी परस्पर मार पीट करे, फौजदारी केस चले, मुझे खूब धन मिले । हिसानन्दी वेश्या यह चाहती है कि धनिक पुत्र अपनी स्त्री मे स्नेह न करके मुझ से स्नेह करे और मुझे अपना सब धन दे डाले । यह धम कर्म से शून्य हो जावे । हिसानन्दी चोर मानवो को गोली से व खड्ग से मारकर धन लूट लेते है ।

हिसानन्दी देवी देवताओ के नाम पर व परमेश्वर के नाम पर

पशुओं की निर्दयता से बलि करता हुआ व शिकार में पशुओं का घात करता हुआ व मांसाहार के लिये पशुओं का वध करता हुआ बड़ा ही प्रसन्न होता है। हिंसानन्दी व्यापारी पशुओ के ऊपर भारी बोझा लादकर उनको मार-मारकर चलाता है। भूखे प्यासे होने पर भी अन्नादि नहीं देता है। दुःखी करके अपना काम लेता है। हिंसानन्दी ग्राम में, वन में आग लगा कर प्रसन्न होता है। थोड़ी-सी बात में क्रोधित हो मानवो को मार डालता है। जगत में हिंसा होती हुई सुनकर प्रसन्न होना, हिंसानन्दी का भाव रहता है। हिंसानन्दी व्यर्थ बहुत पानी फेक कर, भूमि खोदकर, अग्नि जलाकर, वायु को आकुलित कर, वृक्षों को काटकर प्रसन्न होता है। हिंसानन्दी के बडे क्रूर परिणाम रहते है। यदि कोई दोषी अपना दोष स्वीकार करके आधीनता मे आता है तो भी उस पर क्षमा नहीं करता है और उसे जडमूल से नाश करके ही प्रसन्नता मानता है।

२—मृषानन्दी—जो असत्य बोल करके, असत्य बुलवा करके,असत्य बोला हुआ जानकर व सुनकरके प्रसन्न होता है वह मृषानन्दी रौद्रध्यानी है। मृषानन्दी धन कमानेके लिये भारी असत्य बोलता है,उसको दया नही आती है कि यदि इसे मेरी मायाचारी विदित होगी तो कष्ट पाएगा। मृषानन्दी टिकटमास्टर मूर्ख गरीब ग्रामीण स्त्रीको असत्य कहकर अधिक दाम लेकर कम दाम का टिकट दे देता है। मृषानन्दी झूठा मुकद्दमा चलाकर, झूठा कागज बनाकर, झूठी गवाही देकर दूसरो को ठग कर बडा प्रसन्न होता है। मृषानन्दी हिसाब-किताब मे भोले ग्राहक से अधिक दाम लेकर असत्य कहकर विश्वास दिला कर ठग लेता है। मृषानन्दी गरीब विधवा के गहनो का डिब्बा रखकर पीछे मुकर जाता है और उसे धोखा देकर बडा ही अपने को चतुर मानता है। मृषानन्दी मिथ्या धर्म की कल्पनाओ को इसलिये जगत मे फैलाता है कि भोले लोग विश्वास करके खूब धन चढ़ाएँगे जो मुझे मिल जायगा। उसे धर्म के बहाने ठगते हुए कुछ भी दया नही आती है।

३—चौर्यानन्दी—चोरी करके, चोरी कराके व चोरी हुई जानकर जो प्रसन्न होता है वह चौर्यानन्दी रौद्रध्यानी है। चौर्यानन्दी अनेक प्रकार के जालो से चाहे जिसका धन बिना विचारे ठग लेता है, छिपके चुरा लाता है, डाका डालकर ले लेता है, प्राण वध करके ले लेता है, छोटे-

छोटे बच्चों को फुसलाकर जंगल में ले जाता है, उनका गहना उतार कर उन्हें मार कर फेंक देता है। चौर्यानन्दी चोरो से मित्रता करके चोरी का माल सस्ते दाम मे खरीदकर धनिक होकर अपना बड़ा गौरव मानता है, झूठा सिक्का चलाकर झूठे नोट बनाकर प्रजा को ठगता है। घी में चरबी, तेल व चाहे जो कुछ मिलाकर ठीक घी कहकर बेचता है और धन कमाता है। वह कम तोल कर व कम नापकर धोखा देकर धन एकत्र करने में बड़ा ही राजी रहता है। चौर्यानन्दी चोरी करने की शिक्षा देकर अनेको को चोरी के व्यसन में फंसा देता है।

४—**परिग्रहानन्दी**—जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरों को कष्ट देकर भी धनादि परिग्रह को एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है वह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानी है। परिग्रहानन्दी स्त्रियो के उचित हको को मार कर व भाइयो के हको को मार कर लक्ष्मी अपनाना चाहता है। वह दूसरो का अपने से अधिक परिग्रह देखकर निरन्तर यह भावना करता है कि या तो मेरा धन बढ जावे या इन दूसरो का धन नष्ट हो जावे। परिग्रहानन्दी धर्म सेवन के लिये समय नहीं निकालता है। धर्म के समय मे धन के संचय के आरम्भ मे लगा रहता है। परिग्रह के लिये भारी से भारी पाप करने में उसको ग्लानि नहो आती है। अत्यन्त तृष्णावान होकर जगत के मानवो को व पशुओं को कष्टदायक व्यापार का आरम्भ करता है। वृद्ध होने पर भी धनाशा त्यागता नही। परिग्रह के मोह मे अन्धा बना रहता है। परिग्रहानन्दी को जब कभी धन की व कुटुम्ब की हानि हो जाती है तब घोर विलाप करता है। प्राण निकलने के समान उसको कष्ट होता है।

इन चारो ही प्रकारके रौद्रध्यान करने वाले प्राणियों के भाव अशुभ रहते हैं। उनके कृष्ण नील कापोत लेश्या सम्बन्धी भाव पाये जाते हैं जिनसे वे नर्क आयु बाधकर नर्क चले जाते हैं जहा भी ये ही तीन लेश्याएँ होती हैं। अन्याय पूर्वक आरम्भ करने का व तीव्र धनादि का मोह नर्क में प्राणी को पटक देता है।

(२) **तिर्यंचगति का दुःख**—तिर्यंचगति में छः प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं।

(१) **एकेन्द्रिय स्थावर**—जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, तथा वनस्पतिकायिक। ये सब सचित्त दशा में हवा के द्वारा जीते हैं व बढ़ते हैं, हवा न मिलने से मर जाते हैं। खान की व खेत की मिट्टी जीव सहित है। सूखी व जली हुई मिट्टी जीव रहित है। कूप, बावड़ी, नदी का पानी सचित्त है। गर्म किया हुआ, रौंदा हुआ, टकराया हुआ पानी जीव रहित है। लाल ज्योतिमय स्फुलिंगों के साथ जलती हुई अग्नि सचित्त है। गर्म कोयलो में अचित्त आग है। समुद्र, नदी, सरोवर व उपवन की गीली हवा सचित्त है। गर्म व सूखी व धुएँ वाली हवा अचित्त है। फल फूल पत्ता शाखा हरी भरी वनस्पति सचित्त है। सूखा व पका फल, गर्म व पकाया हुआ सागादि व यंत्र से छिन्न भिन्न किया हुआ साग फलादि व लवणादिसे स्पर्श रस गधादि बदलाया हुआ साग फलादि जीव रहित अचित्त वनस्पति हैं।

जीव सहित सचित्त एकेन्द्रिय जीवों को एक स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर ज्ञान होता है। इसे मतिज्ञान कहते है। स्पर्शके पीछे सुख व दुःख का ज्ञान होता है इसे श्रुत ज्ञान कहते हैं। दो ज्ञान के धारी होते हैं। इनके चार प्राणपाये जाते हैं—स्पर्शनेंद्रिय, शरीर का बल, श्वासोछ्वास, आयु कर्म।

(२) **द्वन्द्रिय प्राणी**—जैसे सीप, शख, कौड़ी, केंचुआ, लट आदि। इनके दो इन्द्रियाँ होती हैं। स्पर्शन और रसना। इनसे ये जानते हैं। इनके प्राण छः होते हैं, एकेन्द्रिय से दो प्राण अधिक होते हैं। रसना इंद्रिय और वचन बल। एकेन्द्रिय की तरह इनके भी दो ज्ञान होते हैं।

(३) **तेन्द्रिय जीव**—जैसे कुन्थु, चीटी, कुम्भी, बिच्छू, घुन, खटमल, जू। इनके घ्राणेंद्रिय अधिक होती है। ये छूकर, स्वाद लेकर व सूँघकर जानते हैं। ज्ञान दो होते हैं—मति श्रुत। प्राण एक अधिक होता है। घ्राण को लेकर सात प्राण होते हैं।

(४) **चौन्द्रिय**—जैसे मक्खी, डांस, मच्छर, भिड, भ्रमर, पतंगा आदि। इनके आँख अधिक होती है। इससे आठ प्राण व दो ज्ञान मति-श्रुत होते हैं।

(५) **पंचेन्द्रिय मन रहित असैनी**—जैसे कोई जाति के पानी में पैदा

होने वाले सर्प । इनके कान भी होते हैं । इससे नौ प्राण व दो ज्ञान मति श्रुत होते हैं ।

(६) पंचेन्द्रिय मन सहित सैनी—जैसे चार पगवाले मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, बकरा, घोडा, हाथी, ऊँट आदि । दो पगवाले पक्षी जैसे मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, चील, हस, मैना, तोता आदि । उर से चलने वाले नागादि व जल मे पैदा होने वाले मछली, मगरमच्छ, कछुए आदि । इनके मन बल को लेकर दश प्राण होते हैं । साधारण दो ज्ञान मति श्रुत होते हैं । मन एक सूक्ष्म हृदय स्थान में कमल के आकार अग होता है, जिसकी सहायता से सैनी प्राणी सकेत समझ सकता है, शिक्षा ग्रहण कर सकता है, कारण कार्य का विचार कर सकता है, तर्क वितर्क कर सकता है व अनेक उपाय सोच सकता है ।

छः प्रकार के तिर्यंचो को क्या २ दु.ख हैं वे सब जगत को प्रगट हैं । एकेन्द्रिय जीवों के अकथनीय कष्ट हैं । मिट्टी को खोदते हैं. रौंदते हैं, जलाते हैं, कूटते हैं, उन पर अग्नि जलाते हैं । धूप की ताप से मिट्टी के प्राणी मर जाते हैं । मिट्टी के शरीर धारी का देह एक अँगुल का असख्यातवाँ भाग बहुत ही छोटा होता है । एक चने के दाने बराबर सचित्त मिट्टी मे अनगिनती पृथ्वी कायिक जीव हैं । जैसे हमें कोई कूटे, छीले, कुल्हाडी से छेदे तो स्पर्श का कष्ट होता है वैसे पृथ्वी के जीवो को हल चलाने आदि से घोर कष्ट होता है । पराधीन पने वे सहते हैं, कुछ बचने का उपाय नही कर सकते, भागने को असमर्थ है । सचित्त जल को गर्म करने, मसलने, रौंदने आदि से महान कष्ट उसी तरह होता है जैसे पृथ्वी के जीवो को । इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है । एक पानी की बून्द में अनगिनती जलकायिक जीव होते हैं । पवन कायिक जीव भीतादि की टक्करो से, गर्मी के झोको से, जल की तीव्र वृष्टि से, पखों से, हमारे दौड़ने कूदने से टकराकर बड़े कष्ट से मरते हैं । इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है । एक हवा के छोटे झोके में अनगिनती वायुकायिक प्राणी होते हैं ।

अग्नि जल रही है, जब उसको पानी से बुझाते हैं, मिट्टी डालकर बुझाते हैं व लोहे से निकलते हुए स्फुलिंगों को घन की चोटों से पीटते

हैं तब उन अग्निकायिक प्राणियों को स्पर्श का बहुत दु:ख होता है। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक उठतीहुई अग्नि की लौमें अनगिनती अग्निकायिक जीव हैं। वनस्पति दो प्रकार की होती है—एक साधारण, दूसरी प्रत्येक। जिस वनस्पति का शरीर एक हो व उसके स्वामी बहुत से जीव हों,जो साथ२ जन्में व साथ२मरें उनको साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसका स्वामी एक ही जीव हो उसको प्रत्येक कहते हैं। प्रत्येक के आश्रय जब साधारण काय रहते हैं तब उस प्रत्येक को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब साधारण काय उनके आश्रय नहीं होते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। जिन पत्तो में, फलादि में जो रेखाएँ बंधन आदि निकलते हैं वे जब तक न निकलें तब तक उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं, जब वे निकल आते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। तुच्छ फल सप्रतिष्ठित प्रत्येक के दृष्टान्त हैं।

साधारण वनस्पति को ही एकेन्द्रिय निगोद कहते हैं। बहुधा, आलू, घुइयां, मूली, गाजर भूमि में फलने वाली तरकारियाँ साधारण या सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं। अपनी मर्यादा को प्राप्त पकी ककड़ी, नारंगी व पका आम, अनार, सेव, अमरूद आदि प्रत्येक वनस्पति हैं। इन वनस्पति कायिक प्राणियो को बड़ा कष्ट होता है। कोई वृक्षो को काटता है, छीलता है, पत्तो को नोचता है, तोड़ता है, फलो को काटता हैं, सागको छोकता हैं, पकाता है, घास को छीलता है। पशुओ के द्वारा व मानवो के द्वारा इन वनस्पति जीवो को बड़ी निर्दयता से कष्ट दिया जाता है। वे विचारे पराधीन होकर स्पर्श द्वारा घोर वेदना सहते हैं व बड़े कष्ट से मरते है। इस तरह एकेन्द्रिय प्राणियों के कष्टों को विचारते हुए रोएँ खड़े हो जाते हैं जैसे—कोई किसी मानव की आंख बंद कर दे, जबान पर कपड़ा लगा दे, हाथ पैर बाध दे और मुग्दरों से मारे, छीले, पकावे, कुल्हाड़ी से टुकड़े करे तो वह मानव महाकष्ट वेदन करेगा, पर कह नहीं सकता, चिल्ला नहीं सकता, भाग नहीं सकता, इसी तरह ये एकेन्द्रिय प्राणी अपने मति ज्ञान श्रुतज्ञान के अनुसार जानकर घोर दु:ख सहन करते हैं। वे सब उनके ही बांधे हुए असाता वेदनीय आदि पाप कर्म के फल हैं।

दो इन्द्रिय प्राणियों से चौन्द्री प्राणियों को विकलत्रय कहते हैं। वे

कीडे, मकोडे, पतगे, चीटी, चीटे आदि पशुओ व मानवो से व हवा, पानी,आग, आदि से भी घोर कष्ट पाकर मरते हैं। बडे सबल जतु छोटो को पकडकर खा जाते है। बहुत से भूख प्यास से, पानी की वर्षा से,आग जलने से, दीपक की लौ से, नहाने व धोने के पानी से, बुहारने से, कपडो से, फटकारने से, शस्त्रो से, तडफ तडफ कर मरते है। पैरो के नीचे, गाडियो के नीचे मार के नीचे, चौकी पलग कुर्सी सरकाने से, बिछोना बिछाने से दबकर, टुकडे होकर, कुचलकर प्राण देते हैं। निर्दयी मानव जान बूझकर इनको मारते हैं। मक्खियो के छत्ते मे आग लगा देते हैं, मच्छरो को हाथो से मुरछलो से मारते हैं।

रात्रि को भोजन बनाने व खाने से बहुत से भूखे, प्यासे जतु अग्नि मे व भोजन मे पडकर प्राण गमाते हैं। सडीबुसी चीज मे ये पैदा होजाते हैं, अनाज मे पैदा हो जाते हैं, इनको धूप मे गली मे डाल दिया जाता है, गर्म कढाओ मे पटक दिया जाता है आटे मैदे व शक्कर की बोरी में बहुत से चलते फिरते दीख पडत है तो भी हलवाई लोग दया न करके उनको खौलते हुए पानी मे डाल देते हैं। रेशम के कीडो को औंटते पानी मे डालकर मार डालते हैं। इन विकलत्रयो के दुःख अपार है।

पचेन्द्रियोके दुःखो को विचारा जावे तो विदित होगा कि जिन पशु पक्षियोका कोई पालक नही हैं, उनको रात दिन भोजन ढूढत हुए बीतता है, पेट भर खाने को नही मिलता है वे विचारे भूख प्यास से, अधिक गर्मी सरदी,से अधिक वर्षा से तडफ तडफकर मरत हैं। शिकारी निर्दयता से गोली व तीर मारकर मार डालत हैं। मांसाहारी पकडकर कसाईखानो मे तलवार से सिर अलग करत हैं। पशुबलि करने वाले धर्म के नाम से बडी ही कठोरता से पकडकर मारते हैं। जिनको पाला जाता है उनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है, ज्यादा बोझा लादा जाता है। जितना चाहिये उतना घास दाना नही दिया जाता है। थके मादे होने पर भी कोडो की मार से चलाया जाता है, बेकाम व जखमी होने पर यो ही जगल मे व रास्ते में कही पटक दिया जाता है। वे भूखे प्यासे व रोग की वेदना से तडफ २ कर मरते हैं। पिंजरो मे बद किया जाता है, वे स्वतत्रता से उड नही सकते।

मछलियो को पकडकर जमीन पर छोड दिया जाता है, वे तड़फ २ कर मरती हैं, जाल में फँसकर प्राण गमाती हैं। हाथियो को दात के

लिए मार डाला जाता है। बैल, गाय, भैंसों को हड्डी के लिए, चमड़े के लिये मारा जाता है।

जीते हुए पशुओ को उबालकर चरबो निकाली जाती है। उनको कोडों से मारकर चमड़ा खींचा जाता है। सबल पशु पक्षी निर्बलों को मारकर खाते हैं। हिंसक मानव पशुओ को घोर कष्ट देते हैं, अपना स्वार्थ साधते हैं, उनके अगों को छेद डालते है, उनकी पूँछ काट डालते हैं, उनको घोर मानसिक व शारीरिक कष्ट देते हैं। इस तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंचो को असहनीय दुःख सहना पड़ता है।

तिर्यंचगति में व मनुष्य गति मे कितने प्राणी तीव्र पाप के उदय से लब्धपर्याप्त पैदा होते हैं। जो गर्मी सरदी पसीना मलादि से सम्मूर्छन जन्म पाते हैं, वे एकश्वास मे अठारह बार जन्मते मरते हैं। उनकी आयु १/१८ श्वास होती है। स्वास्थ्ययुक्त पुरुष की नाडी फड़कन की एक श्वास होती है, ४८ मिनट या एक मुहूर्त में ऐसे३७७३ श्वास होते हैं ऐसे जीव एक अतर्मुहूर्त मे ६६३३६ नीचे प्रमाण क्षुद्र भव धर कर जन्म मरण का कष्ट पाते हैं।

१	साधारण वनस्पति	बादर के	लगातार	६०१२ जन्म
२	,, ,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
३	पृथ्वीकायिक	बादर के	,,	६०१२ जन्म
४	,, ,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
५	जलकायिक	बादर के	,,	६०१२ जन्म
६	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
७	वायुकायिक	बादर के	,,	६०१२ जन्म
८	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
९	अग्निकायिक	बादर के	,,	६०१२ जन्म
१०	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
११	प्रत्येक वनस्पति के		,,	६०१२ जन्म

कुल एकेन्द्रियों के		६६१३२ जन्म
द्वेन्द्रियों के	लगातार	८० ,,
तेन्द्रियो के	,,	६० ,,
चौन्द्रियों के	,,	४० ,,
पंचेन्द्रियों के	,,	२४ ,,
		६६३३६

पचेन्द्रियों के २४ में से ८ असैनी तिर्यंच, ८ सैनी तिर्यंच, ८ मनुष्य के गर्भित हैं। तिर्यंच गति के महान दुःखों में पड़ने लायक पाप अधिकतर आर्तध्यान से बन्ध होता है।

आर्तध्यान—दुःखित व शोकित भावो की प्रणाली को आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं—

(१) **इष्ट वियोगज आर्तध्यान**—प्रिय पुत्र, माता, पिता, भाई, बहिन के मरने पर व किसी बन्धु व मित्र के परदेश जाने पर व धनादि की हानि होने पर जो शोक भाव करके भावो को दुखित रखना सो इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

(२) **अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान**—अपने मन को न रुचने वाले चाकर, भाई, पुत्र, न रुचने वाली स्त्री आदि के होने पर व मन को न रुचने वाले स्थान, वस्त्र, भोग व उपभोग के पदार्थ होने पर उनका सम्बन्ध कैसे छूटे इस बात की चिन्ता करना अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान है।

(३) **पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान**—शरीर मे रोग होने पर उसकी पीड़ा से क्लेशित भाव रखना पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान है।

(४) **निदान आर्तध्यान**—आगामी भोग मिले इस चिन्ता से आकुलित भाव रखना निदान आर्तध्यान है।

आर्तध्यानी रात दिन इष्ट वस्तु के न पाने पर व अनिष्ट के सयोग होने पर व पीड़ा होने से व आगामी भोग की तृष्णा से क्लेशित भाव रखता है। कभी रुदन किया करता है, कभी उदास हो पड़ जाता है, कभी रुचि से भोजन पान नहीं करता है। शोक से धर्म कर्म छोड़ बैठता है। कभी छाती पीटता है, कभी चिल्लाता है, कभी अपघात तक कर लेता है। रोगी होने पर रात दिन हाय हाय करता है। भोगों की प्राप्ति के लिये भीतर से तड़फड़ाता है। अनिष्ट सम्बन्ध दूर करने के लिये चिन्तित रहता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों के साधन में मन नहीं लगाता है।

मायाचार से भी तिर्यंच आयु का बध होता है। जो कोई कपट से दूसरो को ठगते हैं, विश्वासघात करते हैं, कपटसे अपनी प्रतिष्ठा कराते हैं वे तिर्यंच आयु का बध करते हैं।

एक मुनि ने एक नगर के बाहर चार मास का वर्षा योग धारण किया था। योग समाप्त होने पर वह दूसरे दिन वहा से बिहार कर गए। दूसरे एक मुनि निकटवर्ती ग्राम से आकर वही ठहर गए। तब नगर के नर नारी आकर मुनि वन्दना पूजा करते हुए ऐसा कहने लगे कि आपने हमारे नगर के बाहर देवालय मे योग साधन किया हमारा स्थान पवित्र हुआ आदि२। उस समय उन मुनि को कहना चाहिए था कि मैं वह मुनि नहीं हूँ, परन्तु वह अपनी पूजा देखकर चुप रहे। कपट से अपना परिचय नही दिया। इस माया के मुनि ने पशु गति बाध ली और मरकर हाथी की पर्याय पाई।

एकेन्द्रिय से चौन्द्रिय तक को कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ होती हैं। पचेन्द्रिय असैनी के पीत सहित चार व सैनी पचेन्द्रियो के पीत, पद्म, शुक्ल सहित छहो हो सकती हैं। अधिकतर खोटी लेश्या रूप भावो से तिर्यंच आयु बाध कर एकेन्द्रिय आदि आकर जन्मते हैं। तिर्यंच गति के कष्ट प्रत्यक्ष प्रगट हैं। वे प्रत्यक्ष पाप के फल बता रहे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नही है।

(३) **देवगतिके दु.ख**—देवगतिमे यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीहै परन्तु मानसिक कष्ट वहुत भारी है। देवोमे छोटी बडो पदविया होती हैं, विभूति सम्पदा कम व अधिक होती है उनमे दश दरजे है(१)राजाके समान इन्द्र, (२) पिता, भाई के समान सामानिक, (३) मन्त्री के समान त्रायस्त्रिश (४) सभा निवासी सभासद पारिषद, (५) इन्द्र के पीछे खडे होने वाले आत्मरक्ष, (६) कोतवाल के समान लोकपाल, (७) सेना बनने वाले अनीक, (८) प्रजा के समान प्रकीर्णक, (९) दास के समान वाहन बनने वाले आभियोग्य, (१०) कातिहीन क्षुद्रदेव किल्विषक। इन दशजातियो मे भी अनेक भेद होते हैं। नीची पदवीवाले ऊँचो को देखकर मन मे बड़ा ईर्ष्या भाव रखते हैं, जला ही करते हैं।

भोग सामग्री अनेक होती हैं। एक समय एकही इन्द्रिय द्वारा भोग हो सकता है। इच्छा यह होती है कि पांचों इन्द्रियोके भोग एकसाथ भोगूँ सो भोगने की शक्ति न होने पर आकुलता होती है जैसे किसी के सामने५० प्रकार की मिठाई परोसी जावे तो वह बार२ घबड़ाता है कि किसे खाऊँ किसे नखाऊँ,चाहता यह है कि मैं सबको एकसाथ भोगूँ। शक्ति न होनेपर वह दु:खी होता है। इसी तरह देव मन मे क्षोभित हो कष्ट पाते हैं। जब किसी देवी का मरण होता है तब इष्ट वियोग का दुःख होता है। जब अपना मरण काल आता है तब वियोग का बड़ा दु.ख होता है। सबसे अधिक कष्ट मानसिक तृष्णा का होता है। अधिक भोग करते हुए भी उनकी तृष्णा बढ़जाती है यद्यपि कुछ दान पूजा परोपकार आदि शुभ भाव से पुण्य बांधकर देव होते हैं परन्तु मिथ्या दर्शन के होने से वे मानसिक कष्ट ही में जीवन बिताते हैं।

शरीर को ही आपा जानना, इन्द्रियसुख को ही सुख समझना, आत्मा पर व अतीन्द्रिय सुखपर विश्वास न होना मिथ्यादर्शन है। सच है मिथ्यादृष्टी हर जगह दुःखी रहता है। क्योंकि उसे तृष्णा की दाह सदा सताती है।

(४) **मनुष्य गति**— इस गति के दु:ख प्रकट ही है। जब गर्भ मे नौ मास रहना पड़ता है तब उल्टा टँग कर दुर्गंध स्थान मे रह कर नर्क सम महान दु.ख होता है। गर्भ से निकलते हुए घोर कष्ट होता है। शिशु अवस्था में असमर्थ होने के कारण खानेपीने को न पाकर बारबार रोना पडता है, गिरकर पड़कर दु.ख सहना पडता है, अज्ञान से जरासा भी दुःख बहुत वेदित होता है। किसी के छोटी वय में माता पिता मर जाते हैं तब बड़े दु:ख से जीवन बिताना पडता है। कितने ही रोग से पीड़ित रहते हैं। कितने अल्प आयु मे मर जाते हैं, कितने ही दलिद्र से दु:खी रहते हैं, कितने ही इष्ट मित्र व इष्ट बन्धु के वियोग से, कितने अनिष्ट भाई व मालिक व सेवक के सयोग से दु:खी रहते हैं।

मानव गति में बडा दु:ख तृष्णा का है। पांचो इन्द्रियो के भोगों की घोर तृष्णा होतीहै। इच्छित पदार्थ नही मिलते हैं तब दु:ख होता है। यदि मनोज्ञ पदार्थ चेतन या अचेतन छूट जाते हैं तब उनके वियोग से घोर कष्ट

होता है। किसी की स्त्री दुःख दाई होती है, किसी के पुत्र कुपुत्र होते हैं, किसीके भाई कष्टदायक होते हैं। चाह की दाह में बड़े २ चक्रवर्ती राजा भी जला करते हैं। मानव गति में घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट हैं।

जिन किन्हीं मानव, पशु व देवों को कुछ सुख देखने में आता है वह ऐसा विनाशीक व अतृप्तिकारी है कि उससे आशा तृष्णा बढ़ जाती है। वह सुख अपने फल में कष्टदायक ही होता है। जैसे मृग को पानी रहित जंगल में मृग तृष्णा रूप चमकती घाम या बालू से प्यास नहीं बुझती मृग पानी समझकर जाता है परन्तु पानी न पाकर अधिक तृषातुर होजाता है, वैसे ही संसारी प्राणी सुख पाने की आशा से पांचों इन्द्रियों के भोगों में बार-बार जाते हैं, भोग करते हैं परन्तु विषय-सुख की तृषा को मिटाने की अपेक्षा बढ़ा लेते हैं, जिससे उनका सन्ताप भवभव में कभी भी मिटता नही।

असल बात यह है कि यह ससार केले के खम्भे के समान असार व दुःखो का समुद्र है। इसमे जो आसक्त है, इसमे जो मगन है ऐसे मूढ़ मिथ्या दृष्टी बहिरात्मा को चारो ही गति में कही भी सुख नही मिलता है। वह कही शारीरिक व कही मानसिक दु.खोको ही भोगता है। तृष्णाकी आताप से अनन्तवार जन्म मरण करता हुआ चारो गतियो में भ्रमण करता हुआ फिरता है।

यह ससार अथाह है, अनादि व अनन्त है। इस ससारी जीवने पांच प्रकार के परावर्तन अनन्तवार किए हैं। वे परावर्तन हैं—द्रव्य परावर्तन, क्षेत्र परावर्तन, काल परावर्तन, भव परावर्तन, भाव परावर्तन। इनका अति सक्षेप से स्वरूप यह है—

(१) **द्रव्य परावर्तन**—पुद्गल द्रव्य के सर्व ही परमाणु व स्कन्धों को इस जीवने क्रम क्रम से ग्रहण कर करके व भोग करके छोड़ा है। एक ऐसे द्रव्य परिवर्तन में अनन्त काल बिताया है।

(२) **क्षेत्र परावर्तन**—लोकाकाश का कोई प्रदेश शेष नही रहा, जहां

यह क्रम २ से उत्पन्न न हुआ हो। इस एक क्षेत्र परावर्तन में द्रव्य परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(३) **काल परावर्तन**—उत्सर्पिणी जहा आयु काय सुख बढ़ते जाते हैं। अवसर्पिणी जहां ये घटते जाते हैं। इन दोनों युगों के सूक्ष्म समयों में कोई ऐसा शेष नही रहा जिसमें इस जीव ने क्रम क्रम से जन्म व मरण न किया हो। इस एक काल परावर्तन में क्षेत्र परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(४) **भव परावर्तन**— चारो ही गतियो में नौ ग्रैवेयिक तक कोई भव शेष नही रहा जो इस जीवने धारण न किया हो। इस एक भव परावर्तन में काल परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(५) **भाव परावर्तन**—इस जीव ने आठ कर्मों के बंधने योग भावों को प्राप्त किया है। इस एक भाव परावर्तन में भव परावर्तनसे भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

इस तरह के पाचो प्रकार के परावर्तन इस ससारी जीव ने अनन्तवार किए हैं।

इस सब संसार के भ्रमण का मूल कारण मिथ्या दर्शन है। मिथ्या दर्शन के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग भी हैं। मिथ्यादृष्टी ससार के भोगों की तृष्णा से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के अतिचार रूपी पाच अविरति भावों में फंसा रहता है। वही मिथ्यादृष्टी आत्महित में प्रमादी रहता है। तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय करता है तथा मन वचन कायों को अति क्षोभित रखता है।

इस असार संसार में अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही कष्ट पाता है, उसी के लिए ही संसार का भ्रमण है। जो आत्म ज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है वह ससार से उदास व वैराग्यवान हो जाता है व अतीन्द्रिय आत्मीक सच्चे सुख को पहचान लेता है, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी हो जाता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यदि कर्मों के उदय से कुछ काल किसी गति

में रहना भी पड़ता है तो वह संसार में लिप्त न होने से संसार में प्राप्त शारीरिक मानसिक कष्टों को कर्मोदय विचार कर समताभाव से भोग लेता है। वह हर एक अवस्था में आत्मीक सुख को जो सच्चा सुख है स्वतन्त्रता से भोगता रहता है, यह बात सच है।

मिथ्या दृष्टी सदा दुखी-सम्यग्दृष्टी सदा सुखी।

जैनाचार्यों ने संसार का स्वरूप क्या बताया है सो पाठकों को उनके नीचे लिखे अनुभव पूर्ण वाक्यों से प्रकट होगा।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

भावार्थ—इस द्रव्यक्षेत्रादि पांच तरह के संसार भ्रमण में जहां यह जीव जन्म, मरण, रोग, भय के महान कष्ट पाता है, श्री जिनेन्द्र के धर्म को न जानता हुआ दीर्घकाल तक भ्रमण किया करता है।

सव्वेपि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥२५॥

भावार्थ—प्रथम पुद्गल द्रव्य परिवर्तन में इस एक जीवने सर्व ही पुद्गलों को बारबार अनन्त दफे ग्रहण कर और भोग कर छोड़ा है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

भावार्थ—दूसरे क्षेत्र परिवर्तन में यह जीव बारबार सर्व ही लोकाकाशके प्रदेशों में क्रम-क्रम से जन्मा है। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ बहुबार पैदा न हुआ हो और अनेक प्रकार के छोटे व बड़े शरीर धारे हैं।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जावो मुवो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

भावार्थ—तीसरे काल परिवर्तन में इस जीवने उत्सर्पिणी तथा अव-

सर्पिणी के सर्व ही समयो में बहुतवार जन्म मरण किया है। कोई समय बचा नहीं जिसमें यह अनन्तवार जन्मा या मरा न हो।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा दुगेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसोवि भवट्ठिदीभमिदा ॥२८॥

भावार्थ—चौथे भव परिवर्तन में नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊर्द्ध लोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक सर्व ही जन्मों को इस जीवने बहुवार मिथ्या दर्शन के कारण धारण करके भ्रमण किया है।

सव्वे पयडिट्ठादिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९॥

भावार्थ—पांचवें भाव परिवर्तन में यह जीव मिथ्या दर्शन के कारण आठो कर्मों के सर्व ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश इन चार प्रकार बन्ध स्थानों को धारता हुआ बार-बार भ्रमा है।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

भावार्थ—जो जीव पुत्र व स्त्री के लिए पाप की बुद्धि से धन कमाता है, दया धर्म व दान छोड़ देता है, वह जीव ससार में भ्रमण करता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

भावार्थ—मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन धान्यादिइत्यादि तीव्र तृष्णा के वश यह जीव धर्म की बुद्धि को त्यागकर इस दीर्घ संसार में भ्रमता रहता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

भावार्थ—मिथ्या दर्शन के उदय से यह जीव श्री जिनेन्द्र कथित धर्म की निन्दा करता है और मिथ्या धर्म, मिथ्या गुरु, व मिथ्या तीर्थ को पूजता है इसलिए ससार में भ्रमता है।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

भावार्थ—यह जीव अनेक जंतु-समूह को मारता है, मांस मदिरा मधु खाता है, पर द्रव्य व पर स्त्री को ग्रहण कर लेता है, इसलिए संसार में भ्रमता है ।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

भावार्थ—यह जीव मोह के अंधेरे में अंधा होकर रात दिन उद्योग करके विषय भोगों के लिए पाप किया करता है इसीलिए इस संसार में भ्रमता है ।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥३६॥

भावार्थ—इस ससार में जीवों को सयोग वियोग, लाभ हानि, सुख दुःख, मान अपमान हुआ करता है ।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

भावार्थ—कर्मों के वश होकर यह जीव इस भयानक संसार बन में भ्रमता फिरता है । निश्चय नयसे विचार किया जावे तो इस जीवके ससार नहीं है । यह तो कर्मों से भिन्न ही है ।

संसारमदिक्कन्तो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कन्तो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥

भावार्थ—जो जीव संसार से पार हो गया है, उसकी सी अवस्था ग्रहण करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिए । तथा जो जीव संसार के दुःखों में फंसा है, यह संसार दशा त्यागने योग्य है ऐसा मनन करना चाहिए । श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड में कहते हैं—

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तोसि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव ।। ८ ।।

भावार्थ—हे जीव ! तूने भयानक नरक गति मे, पशु गति में, कुदेव गति मे व मनुष्य गति मे तीव्र कष्ट पाए है । अब तो तू शुद्ध आत्मभाव की भावना कर । वही जिन या कषायो को जीतने वाला परमात्मा रूप है ।

सत्तसुणरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहिय ।। ६ ।।

भावार्थ—सात नरको के आवासो मे तीव्र भयानक, असहनीय दुक्खो को दीर्घकाल तक निरतर भोगकर तूने कष्ट सहा है ।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिर कालं ।।१०।।

भावार्थ—हे जीव ! तूने पशु गति मे शुद्ध भावको न पाकर चिर-काल तक खोदे जाने के, गर्म किए जाने के, जलाने के, धक्के खाने के, छेदे जाने के, रोके जाने के दु ख पृथ्वी कायादि म क्रम से पाए है ।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइ मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ।।११।।

भावार्थ—हे जीव ! तूने मनुष्य गति मे पुन पुन जन्म लेकर अनन्तकाल अकस्मात् वज्रपात गिरने आदि के शोकादि मानसिक कर्म के द्वारा सहज उत्पन्न रागद्वेषादि के, तथा रोगादि शारीरिक ऐसे चार तरह के कष्ट पाए हैं ।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ ।।१२।।

भावार्थ—हे महायशस्वी जीव ! तूने देवो के स्थानो मे प्रिय देव या देवी के वियोग के काल मे तथा ईर्षा सम्बन्धी मानसिक दु ख शुद्ध आत्मा की भावना से शून्य होकर उठाया है ।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१८॥

भावार्थ—हे महायशस्वी जीव ! तूने अनन्त मानव जन्म धारण करके भिन्न-भिन्न माता के स्तनों का दूध पिया है, जो एकत्र करने पर समुद्र के जल से भी अधिक हो जायगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१९॥

भावार्थ—तूने माता के गर्भ से निकल कर फिर मरण किया तब भिन्न-भिन्न जन्मों की अनेक माताओं ने रुदन किया। उनके आंखों के आंसुओं को एकत्र किया जावे तो समुद्र के जल से अधिक ही हो जायगा।

तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने तीन लोक का सर्व पानी प्यास की पीड़ा से पीड़ित होकर पिया है। तो भी तेरी तृषा या तृष्णा न मिटी। अब तू इस संसार के नाश का विचार कर।

छत्तीसं तिण्ण सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अन्तोमुहुत्तमज्झे पत्तसि निगोयवासम्मिं ॥२८॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने एक श्वास के अठारहवें भाग आयु को धारकर निगोद की लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में एक अन्तर्मुहूर्त के भीतर ६६३३६ जन्म मरण किए हैं। इनका हिसाब पीछे लिख चुके हैं।

रयणत्तए अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥३०॥

भावार्थ—रत्नत्रय मई जिन धर्म को न पाकर तूने ऊपर प्रमाण इस दीर्घ संसार में भ्रमण किया है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है। अब तू रत्न त्रय को पाल। श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥

भावार्थ—इस संसारी जीव के रागादि भाव होते हैं उनके निमित्त से आठ कर्मों का बन्ध होता है, कर्मों के उदय से एक गति से दूसरी गति में जाता है। जिस गति में जाता है वहां स्थूल शरीर होता है उस देह में इन्द्रिये होती हैं। उन इन्द्रियों से भोग्य पदार्थों को भोगता है तब फिर राग व द्वेष होता है, इस तरह इस संसार रूपी चक्र में इस जीव का भ्रमण हुआ करता है। किसी के यह संसार अनादि अनन्त चला करता है किसी के अनादि होने पर भी अन्त हो जाता है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

मिच्छत्तेणो छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदी भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥१३॥

भावार्थ—यह जीव मिथ्यादर्शन से ढका हुआ व जिनेन्द्र कथित मार्ग पर श्रद्धान न लाता हुआ इस संसार रूपी अति भयानक व कुटिल वन में भ्रमण किया करता है।

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग बीहणयं ।
अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ॥१६॥

भावार्थ—इस संसार में बूढ़ापना, मरण, भय, क्लेश, भयानक इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग आदि की महान वेदनाओं को यह जीव सहा करता है।

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु ।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥१७॥

भावार्थ—यह जीव पशु गति, नरक गति, मनुष्य गति व देव गति में तथा जलचर थलचर, नभचर प्राणियों में जन्मता व मरता हुआ सहस्रों कष्टों को भोगता है।

संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूवा माणं च तहावमाणं च ॥१९॥
एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥२०॥

भावार्थ—इस संसार में इस जीव ने संयोग, वियोग, लाभ, हानि सांसारिक सुख, दुःख, मान व अपमान अनुभव किया है। इस तरह इस संसार के नाना प्रकार के सदा ही मिलने वाले दुःखों को जानकर यह असार संसार जिस उपाय से कम हो वह उपाय विचारना चाहिये।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र में कहते हैं—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदंजगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शांतिमजीगमस्त्वम्।१२।

भावार्थ—यह संसार अनित्य है,अशरण है,अहंकार बुद्धि से संसारी प्राणियों में मिथ्यात्व भाव प्रवेश हो रहा है। यहां संसारी जीव नित्य जन्म- जरा व मरण से दुःखी है ऐसा जानकर आप हे संभवनाथ ! निर्मल शांति को भजते हुए।

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य्य नक्तं दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि॥४८॥

भावार्थ—संसार के प्राणी अपने जीवन की तथा काम भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन भर परिश्रम करके थक जाते हैं व रात को सो रहते हैं। इस तरह कभी तृष्णा को व संसार कष्टों को नहीं मिटा सकते, ऐसा जानकर हे शीतलनाथ ! आपने आलस्य टालकर इस संसार के नाश के लिये आत्मीक वीतराग मार्ग मे रात दिन सदा जागृत रहना ही स्वीकार किया।

श्री शिवकोटि मुनि भगवती आराधना में कहते हैं—

णिरयेसु वेयणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतसो तं बहुविधाओ ।।१५८१।।

भावार्थ—हे मुने ! इस संसार में काय के निमित्त असंयमी होकर ऐसा कर्म बांधा जिससे तूने नर्क में आकर बहुत प्रकार की उपमा रहित बहुत असाता सहित वेदना अनंतवार भोगी ।

ताडणतासणबन्धण,-वाहणलंछणविहेडणं दमणं ।
कण्णच्छेदणणासा,-वेहणणिल्लंछणं चेव ।।१५८२।।
छेदणभेदणडहणं, णिप्पीलणं गालणं छुहा तण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं, विकत्तणं सीदउण्हं च ।।१५८३।।
जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणट्टिओ पडिओ ।
बहुएहि मदो दिवसेहि, चडप्फडंतो अणाहो तं ।।१५८४।।
रोगा विविधा बाधाउ, तह य तिव्वं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वा उ वेदणाओ, धाडणपादाभिघादा य ।।१५८५।।
इच्चेवमादि दुक्खं. अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तो सि अदीदे, काले चिंतेहि तं सव्वं ।।१५८७।।

भावार्थ—हे मुने ! तिर्यंच गति में तूने नाना प्रकार की लाठी घूंसे व चाबुकों की ताड़ना भोगी, शस्त्रादि की त्रास सही, दृढ़ता से बांधा गया हाथ पगादि बांधे गए, गला बांधा गया, पिंजरे में डाला हुआ तीव्र दुःख पाया तथा कान छेदे गए, नाक छेदी गई, शस्त्रों से बींधा गया, घसीटा गया आदि दुःख भोगे, बहुत बोझे से हाड टूट गए, मार्ग में बोझ लादे बहुत दूर रात दिन चलना पड़ा, आगमें बला जल में डूबा परस्पर खाया गया, भूख, प्यास, सरदी गर्मी की घोर वेदना भोगी पीठ गल गई, असमर्थ होकर कीचड़ में पड़ा रहा घोर धूप में पड़ा रहा । जो २ क्लेश पाए हैं उसका विचार करो नाना प्रकार के रोग सहे सर्व तरफ से डरता रहा तथा दुष्ट मनुष्य व पशुओं से घोर कष्ट पाया, वचन का तिरस्कार सहा, पगों की मार दीर्घ काल तक सही । इत्यादि दुःख अनंतवार तिर्यंच योनि में तूने गत काल में भोगे हैं उन सबकी अब विचार करो ।

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किले सा वि य, अणंतखुत्ता समणुभूवं ।१५८८।

भावार्थ—हे मुने ! अपने किये हुए कर्मों के वश से देव गति में तथा मनुष्य गति में पैदा होकर अनन्तवार बहुत दुःख क्लेश भोगे हैं।

जं गब्भवासकुणिमं, कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।
चिंतं तस्स य सुचियसुहिदस्स दुक्खं चयणकाले॥१६०१॥

भावार्थ—देवों को मरते हुए ऐसा चितवन होता है जो मेरा गमन अब तिर्यंच गति व मनुष्य गति के गर्भ में होगा। दुर्गंध गर्भ में रहना दुर्गंध आहार लेना, भूख प्यास सहना पड़ेगा, ऐसा विचारते बहुत कष्ट होता है।

भावार्थ—इस मनुष्य पर्याय में निर्धनता, सप्त धातुमय मलीन रोगो का भरा का देहका धरना, कुदेश मे बसना, स्वचक्र पर चक्रका दुःख सहना, बैरी समान बाधवो मे रहना, कुपुत्र का सयोग होना, दुष्ट स्त्री की सगति होनी, नीरस आहार मिलना अपमान सहना, चोर, दुष्ट राजा व मत्री व कोतवाल द्वारा घोर त्रास सहना दुष्काल में कुटुम्ब का वियोग होना, पराधीन रहना दुर्वचन सहना भूख प्यास आदि सहना इत्यादि दुःखो का भरा मनुष्य जन्म है।

तण्हा अणंतखुत्तो, ससारे तारिसी तुमं आसि ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं पि ण तीरेज्ज ॥१६०५॥
आसी अणंतखुत्तो, संसारे ते छुधा वि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरिज्ज ॥१६०६॥

भावार्थ—हे मुने ! ससार मे तुमने ऐसी प्यास की वेदना अनंतवार भोगी जिसके शात करने को सर्व समुद्रो का जल समर्थ नही। व ऐसी क्षुधा वेदना अनतवार भोगी जिसके शान्त करने को सर्व पुद्‌गल काय समर्थ नहीं।

जावं तु किंचि दुक्खं, सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६७॥

भावार्थ—हे मुने ! इस ससार मे जो कुछ शारीरिक व मानसिक

दुःख अनंतवार प्राप्त हुए हैं सो सब इस शरीर में ममता करने से प्राप्त हुए हैं।

णत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादंकं छिण्णममंत्ति सरीरादो ॥१९९८॥

भावार्थ—इस संसार में मरण के समान भय नहीं है,जन्म के समान दुःख नही है। इसलिये जन्म मरण से व्याप्त इस शरीर से ममता छोड़।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं—

अत्र जीवा अनादिसंसारेऽनन्तकालं नानायोनिषु दुःखं भोगं भोगं पर्यटन्ति। न चात्र किंचिन्नियतमस्ति। जल बुद्बुदोपम जीवितं, विद्युन्मेघादिविकारचपलाभोगसम्पदइत्येवमादि जगतस्य भावचिंतनात् संसारात् संवेगो भवति ॥ १७-७ ॥

भावार्थ—इस जगत में जीव अनादि काल से अनंत काल तक नाना योनियो मे दुःख भोगते हुए भ्रमण किया करते हैं। जल के बुल्ले के समान जीवन क्षणिक है। बिजली की चमक, बादलों के विघटन के समान भोग सम्पदा अथिर है, ऐसा जगत का स्वभाव विचारने से भय होता है।

श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ—इन ससार के दुःखों का मूल यह शरीर है, इसलिये आत्मज्ञानीको इसका ममत्व छोड कर व इंद्रियों से विरक्त होकर अतरंग आत्म ध्यान करना चाहिये।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ—शरीर को आत्मा मानकर अज्ञानी सुन्दर शरीर व मनोहर भोगों की सदा वांछा किया करता है परन्तु तत्वज्ञानी इस शरीर को ही नहीं चाहते हैं।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥४९॥

भावार्थ—जो शरीर में आत्म बुद्धि रखने वाले हैं उनको यह संसार विश्वास योग्य तथा रमणीक भासता है, परन्तु आत्मा में आत्मबुद्धि धारकों का इस संसार में न विश्वास है न उनकी रति है।

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

भावार्थ—जब तक कोई शरीर वचन काय को आत्मा रूप मानता रहेगा तब तक संसार का दुःख है। जब आत्मा को इनसे भिन्न विचारने का अभ्यास करेगा तब दुःखों से छूट जायगा।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिबाह्यते ।
यावत्तावद्भवत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

भावार्थ—इस ससार की घटी यत्र में इतनी विपत्तियां हैं कि जब एक दूर होती है तब दूसरी अनेक आपदाएं सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥१४॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव वन के वृक्ष पर बैठा हुआ यह तमाशा देखे कि वन में आग लगी है, मृग भागे जाते हैं, परन्तु आप स्वयं न भागे और वह यह न विचारे कि आग इस वृक्ष को भी जलाने वाली है, इसी तरह संसार में मूर्ख प्राणी दूसरों की विपदाओ को देखा करता है परन्तु मेरे पर आपत्तियां आने वाली हैं, मेरा मरण होने वाला है, ऐसा नहीं देखता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं ।
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ॥
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापांगैरनंगायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥५३॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने इस संसारमें नरक आदि योनियोंमें अत्यन्त

दुःख भोगे हैं जिनके स्मरण करने से आकुलता पैदा होती हैं, उन दुःखों की बात तो दूर रहो इस नर भव में तू निर्धन हुआ है परन्तु नाना प्रकार भोगों का अभिलाषी है। काम से पूर्ण स्त्रियों के मंदहास्य और कामके बाण समान तीक्ष्ण कटाक्षों से वेधा हुआ तू पाले से मारे हुए वृक्ष की दशा को प्राप्त हुआ है। इस दुःख ही को तू विचार कर। काम की तृष्णा भी बड़ी दुःख दाता है।

उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान्।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः ॥
मृत्युव्याप्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिन् वृथा-
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः॥५४

भावार्थ—हे अनंतजन्मकेधरनहारे अज्ञानी जीव ! तू इस संसार में अनेक योनियोमें उपजा है। अब यहां तेरा शरीर दोषमई धातुसे बना अति मलीन है, तेरे भीतर क्रोधादि कषाय हैं, तू शरीर के रोग व मन की चिंता से पीडित है, हीन आचार में फँसा है, अपने आत्मा को ठग रहा है, जन्म मरण के बीच में पड़ा है, बुढ़ापा सता रहा है, तो भी वृथा बावला हो रहा है। मालूम होता है तू आत्मा के हित का शत्रु है, तेरी इच्छा अपना बुरा ही करने की झलकती है।

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः ।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ॥
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ— भयानक गर्म ऋतु के सूर्य की तप्तायमान किरणों के समान इन्द्रियो की इच्छाओंसे आकुलित यह मानव हो रहा है। इसकी तृष्णा दिन पर दिन बढ़ रही है सो इच्छानुकूल पदार्थों को न पाकर विवेक रहित हो अनेक पापरूप उपायों को करता हुआ व्याकुल हो रहा है व उसी तरह दुःखी है जैसे जल के पास की गहरी कीचड़ में फंसा हुआ दुर्बल बूढा बैल कष्ट भोगे।

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणां ॥

विषरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत ।
त्यजत भजत धर्म्मम् निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ—जिस घर को तू रक्षक समझता है वही तुझे मरण से बचा नहीं सकता। ये भाई बन्धु सर्व स्नेह के बंधन के मूल हैं। दीर्घ काल से परिचय में आई हुई तेरी स्त्री अनेक आपदाओं का द्वार है। ये तेरे पुत्र स्वार्थ के सगे तेरे शत्रु हैं। ऐसा विचार कर इन सबको तज और यदि तू सुख को चाहता है तो धर्म की सेवा कर।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥७०॥

भावार्थ—ये आयु शरीरादि सब अवश्य नाश होने वाले हैं, यदि इनकी ममता को छोड़ने से अविनाशी मोक्ष पद तेरे हाथ में आ सकता है तो सहज में ही आया जान।

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह
स्थिता भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्वास्नुमपधीः॥७२॥

भावार्थ—यह आयु प्रकट ही अरहट की घड़ी के जल की तरह छिन छिन गल रही है। यह दुष्ट शरीर भी आयु की गति के अनुसार निरंतर पतन शील है। जरावान होता जाता है। जिनसे जीवन है वे आयु व काय ही क्षणभंगुर हैं व विनाशीक हैं तब पुत्र स्त्री व धनधान्यादि के सम्बंध की क्या बात, वे तो छूटने ही वाले हैं तो भी यह अज्ञानी अपने को थिर मानता है। जैसे नाव में बैठा पुरुष चलता हुआ भी भ्रम से अपने को थिर मान लेता है।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णांगो हितं वाहितं ।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ॥
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्म फलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८६॥

भावार्थ—हे जीव ! बालावस्था में तू पूर्णांग न पाता हुआ अपने हित या अहित को कुछ भी नहीं जानता है, जवानी में स्त्री रूपी वृक्षों के वन में भ्रमता हुआ काम भाव से अन्धा बन गया। मध्य वय में बढ़ी हुई धन की तृष्णा से पशु के समान खेती आदि कर्मों को करता हुआ क्लेश पाता है। बुढ़ापे में अधमरा हो गया। तब बता नर जन्म को सफल करने के लिए तू पवित्र धर्म को कहा पालन करेगा।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्य पंचाशत् में कहते हैं—

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं ।
मुग्धास्तत्र वधू मृगी गतधियस्तिष्ठंति लोकैणकाः ॥
कालव्याध इमान्निहंति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दयः ।
तस्माज्जीवति नो शिशुर्नंच युवा वृद्धोपि नो कश्चन॥३४॥

भावार्थ—यह संसार रूप वन सर्व जगह शोक रूपी दावानल से व्याप्त हो रहा है। यहां बिचारे भोले लोग रूपी हिरण स्त्री रूपी मृगी में प्रेम कर रहे हैं, अचानक कालरूपी शिकारी आकर निर्दयी हो सामने से इनको मारता है इस कारण न तो बालक मरण से बचता है न युवान बचता है न वृद्ध बचता है। इस संसार में मरण सर्व को घात करता है।

वांछत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते ।
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुवं ।
दुःखोर्मिप्रचुरे पतंति कुधियः संसारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—यह जीव इस संसार में निरन्तर इन्द्रियजनित सुख ही की वांछा करता है परन्तु वह उतना ही मिलता है जितना पुण्य कर्म का उदय है। इच्छा के अनुसार नही मिलता है। निश्चय से मरण सब मानवों को आने वाला है इसलिये यह जीव मरने से भय करता रहता है। ऐसे यह कुबुद्धी जीव काय की तृष्णा और भय से मलीन चित्त होता हुआ मोह से वृथा ही दुःख रूपी लहरों से भरे हुए इस भयानक समुद्र में गोते खाता है।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतुःपथे सदनं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—यह संसार आपत्तियों का घर है। यहाँ रोग शोक इष्ट-वियोग अनिष्ट सयोग जरा मरण रूपी आपदाएँ आने ही वाली हैं इसलिये विद्वान को आपत्ति आने पर शोक नहीं करना चाहिये, जो कोई चौराहे पर अपना मकान बनाएगा उसको लोग उल्लंघन करेंहीगे,उससे कौन भय करेगा।

स्वकर्म्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा।
समाघ्रात: साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने॥
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं।
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणं॥ ४८॥

भावार्थ—जैसे अशरण वन में बलवान् सिंह से पकड़ा हुआ पशु मैं मैं करता मर जाता है वैसे ही शरण रहित संसार रुपी वन में उदय प्राप्त अपने कर्म रुपी सिंह से पकड़ा हुआ प्राणी मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरा धन, मेरा घर ऐसे पशु की तरह मैं मैं करता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता है।

लोकागृहप्रियतमासुतजोवितादि।
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तं॥
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे।
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभि:॥५४॥

भावार्थ—ऐ लौकिकजनो ! यह घर, स्त्री, पुत्र, जीवन आदि सर्व पदार्थ उसी तरह चचल हैं विनाशीक हैं जैसे पवन से हिलती हुई ध्वजा के कपड़े का अग्रभाग चचल है। इसलिये तू धनादि व मित्रों में मोह को छोड़कर धर्म साधन में बुद्धि को धारण कर। अधिक वचनो से क्या कहा जावे।

श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना या बृहत् सामायिक पाठ में कहते हैं :—

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै-
स्तनुधनसुतहेतो: कर्म्म यादृक् करोषि।

सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से
सुखममलमनंतं किं तदा नाऽश्नुषेऽलं ॥६६ ॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! तू शरीर, धन, पुत्र के लिए असिकर्म, मसि कर्म, विद्या कर्म, शिल्प कर्म, तथा वाणिज्य कर्म से जैसा परिश्रम करता है वैसा यदि तू एक दफे भी संयम के लिए करे तो तू निर्मल अनन्त सुख क्यों नहीं भोग सकेगा ?

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वं ॥

न पुनरिह कदाचित् घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म्म पुंसा ॥ ६८ ॥

भावार्थ—कदाचित् सूर्य ठण्डा हो जावे, चन्द्रमा उष्ण हो जावे, मेरु पर्वत चलने लग जावे तौभी इस भयानक दु:खो के भरेहुए संसार चक्र में भ्रमण करते हुए प्राणी को सच्चा सुख नही प्राप्त हो सकता है।

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं ।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परं ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसं ।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥७९॥

भावार्थ—हे भव्य जीव ! तू इस जगत को सदा कष्टो से भरा हुआ देखकर इनसे मुक्ति पाने की बुद्धि कर--नारकियो के असह्य, अनन्त, वचन अगोचर पारस्परिक दु:ख होता है, तिर्यंचो के अग्नि में जलने का, छेदन भेदन आदि के द्वारा महान् दु:ख होता है, मानवो के रोग, वियोग, जन्म, मरण का दु:ख है। देवो में मानसिक कष्ट है।

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथं ।
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः ।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपरा शाखोपशाखान्विताः ॥८६॥

भावार्थ—जब तक तेरे मन में बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध में राग भाव दृढ़ता से मौजूद है तब तक तेरे किस तरह दुःखकारी कर्म नाश हो सकते हैं। जब पृथ्वी पानी से भीगी हुई है तब उसके ऊपर सूर्य ताप के रोकने वाले अनेक शाखाओं से मंडित जटाधारी वृक्ष कैसे सूख सकते हैं ?

रामाः पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्था ।
गात्रं व्याध्याविपात्रं जितपवनजवा मूढ़लक्ष्मीरशेषा ॥
किं रे दृष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वं८८।

भावार्थ—हे मूढ़ ! ये स्त्रियां पापवर्द्धक अहितकारी हैं, ये पुत्र परिजन बहुत अनर्थ के कारण हैं। यह शरीर रोग शोक से पीड़ित है। यह सम्पूर्ण सम्पदा हवा से अधिक चंचल है। इस संसार रूपी भयानक वन में हे आत्मा ! तूने क्या देखा है जिससे तू सर्व बाहरी पदार्थों को छोड़कर अपने आत्महित में सदा के लिये लीन नहीं होता है ?

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये १०८

भावार्थ—सर्वजन के मन को हरने वाली इन्द्रियें, युवानी, जीतव्य व सम्पदाएं उसी तरह चंचल हैं। जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूंद चंचल है। इन तीनों लोकों में कोई भी पर्याय स्थिर नहीं रह सकती।

जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो रतमना विषयाकुलितोजनः ११८।

भावार्थ—यह सर्व जगत जन्म, मरण, जरा की अग्नि से जल रहा है, ऐसा देखते हुए भी यह विषयों की दाह से आकुलित प्राणी उनमें मन को लीन करता हुआ धर्म साधन में बिलकुल बुद्धि को नहीं लगाता है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥१॥

भावार्थ—चार गति रुपी महान भंवर वाले तथा दुःख रूपी वड़वा-

नल से प्रज्वलित इस संसार रूपी समुद्र में जगत के प्राणी निरन्तर भ्रमा करते हैं।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रंगेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहक: ॥८॥

भावार्थ---जैसे नृत्य के अखाड़े में नृत्यकार अनेक भेषो को धारता है और छोड़ता है वैसे यह प्राणी सदा भिन्न-भिन्न रूपो को--शरीरो को ग्रहण करता है और छोड़ता है।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम् ॥१२ ॥

भावार्थ---इस समार की चार गतियो में फिरते हुए जीव के वह योनि, वह रूप, वह देश, वह कुल, वह सुख दुःख, वह पर्याय नही है, जो निरन्तर गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥१५ ॥

भावार्थ---इस ससार मे यह प्राणी कर्मों के फल से ठगा हुआ, राजा से मर कर लट हो जाता है और लट का जीव क्रम-क्रम से इन्द्र पद पा लेता है।

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽगजा ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥१६ ॥

भावार्थ---इस संसार में प्राणी की माता मर कर पुत्री हो जाती है, बहन मर कर स्त्री हो जाती है, वही स्त्री मर कर अपनी ही पुत्री हो जाती है। पिता मर कर पुत्र हो जाता है। फिर वही मर कर पुत्र का पुत्र हो जाता है, इस प्रकार उलट-पलट हुआ करती है।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहते-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभार भस्मीकृतेः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥१७ ॥

भावार्थ---इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकों में तो ये शूली, कुल्हाडी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा,

कटारी आदि से पीड़ा को हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं । पशु-गति में अग्नि की शिखा के भार से भस्म होकर खेद और दुःख पाते हैं। मनुष्य गति में भी अतुल परिश्रम करते हुए नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं। देवगति में राग भाव से उद्धत होते हुए दुःख सहते हैं । श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञान-तरंगिणी में कहते हैं :---

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽगे वनाद्यौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे
रक्ताश्च प्रेषणाद्यौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ।२२-११।

भावार्थ--इस संसार मे कोई मनुष्य तो इत्रफुलेल आदि सुगंधित पदार्थोंमें रागी हैं। बहुतसे छोटा भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता,ग्राम, घर, इन्द्रिय भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, वाहन, राज कार्य, भक्ष्य पदार्थ, शरीर, वन, सात व्यसन, खेती, कूआ, वावडी, सरोवर आदिमें राग करनेवाले हैं, बहुत से मनुष्य व वस्तुओ को इधर उधर भेजनेमें, यश लाभमें, तथा पशुओ के पालन में मोह करनेवाले हैं, परन्तु शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रेमी कोई नही ।

कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ।।६-६।।

भावार्थ--इस संसारमे बहुतसे मोही पुरुष कीर्तिके लिये काम करते हैं, अनेक दूसरो को रजायमान करने के लिए, बहुत से इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये संतान व परिग्रह प्राप्ति के लिये, भय मिटाने के लिये, ज्ञान दर्शन पाने के लिये, रोग मिटाने के लिये काम करते हैं। कोई बुद्धिमान ही ऐसे है जो शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उपाय करते हैं ।

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यन्तदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ।।

पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केष्विवासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धय: ।।१०-११।।

भावार्थ—इस संसार में एकेंद्रिय से लेकर असैनी पंचेंद्रिय तक अनंतानंत जीव हैं उनमें किसी के भी सम्यग्दर्शनके पाने की योग्यता नहीं है। पंचेन्द्रिय सैनी में भी जो निकट भव्य मनुष्य हैं आर्य हैं व सुबुद्धी हैं वे ही मुख्यता से सम्यक्ती होकर शुद्ध चिद्रूप का ध्यान कर सकते हैं।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितोमोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ।६-१७।

भावार्थ—जो मानव मोही, पर पदार्थ में रागी हैं वे चाहे पुर, ग्राम; पर्वत का शिखर, समुद्र व नदी के तट, मठ, गुफा, वन, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किला, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामण्डप, तम्बू, आदि स्थानों पर कहीं भी निवास करें, उन्हें निराकुल सुख रंचमात्र भी प्राप्त नहीं हो सकता। पण्डित बनारसी दास जी बनारसी विलास में कहते हैं—

सवैया ३१

जामें सदा उतपात रोगनिसों छीजे गात कछू न उपाय छिन२आउ खपनो।
कीजेबहुपापऔर नरक दुःखचिताव्यापआपदाकलापमेंबिलाप ताप तपनो।
जामेंपरिग्रहकोविषादमिथ्या बकवादविषै भोग सुख है सवाद जैसी सपनो।
ऐसौहै जगतवास जैसो चपलाविलास जामेंतूमगनभयो त्यागिधर्मअपनो।।९।।
जग में मिथ्यातीजीव भ्रम करैहैंसदीव भ्रम के प्रवाह में बहाहैंआगेबहेगा।
नाम राखिबेकोमहारम्भकरै दंभकरै यो न जाने दुर्गतिमें दुःख कौन सहेगा।
बारबार कहे मैं ही भागवंत धनवंत मेरा नाम जगत में सदा काल रहेगा।
याही ममतासो गहि आयोहै अनन्त नाम,आगे योनिमें अंनतनामगहेगा।१०।।

कवित्त

जैसे पुरुष कोई धन कारन हींडत दीप दीप चढ़ि यान।
आवत हाथ रतनचिंतामणि, डारत जलधि जानि पाषान।।
तैसे भ्रमत भ्रमत भव सागर पावत नर शरीर परधान।
परम जतन नहि करत बनारसि खोवत वादि जनम अज्ञान ।। ४ ।।
ज्यों जड़मूल उखाड़ि कलपतरु बोवत मूढ कनक को खेत।
ज्यों गजराज बेचि गिरिवर सम कूर कुबुद्धि मोल खर लेत ।।

जैसे छांडि रतन चिंतामणि मूरख काच खण्ड मन देत ।
तैसे धरम विसारि बनारसि धावत अधम विषय सुख हेत ।। ५ ।।
ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर साजि मतंग जु ईंधन ढोवैं ।
कंचन भाजन धूरि भरैं शठ मूढ सुधारससों पग धोवैं ।।
वाहित काग उड़ावन कारण, डारि महामणि मूरख रोवैं ।
त्यो यह दुर्लभ देह बनारसि पाय अजान अकारथ खोवे ।। ६ ।।

सवैया २३

मात पिता सुत बन्धु सखी जन मीत हितू सुख कामिन कीके ।
सेवक राजि मतगज वाजि महादल साजि रथी रथ नीके ।।
दुर्गति जाय दुखी विललाय परै सिर आय अकेले ही जीके ।
पथ कुपथ सुगुरु समझावत और सगे सब स्वारथ ही के ।। १५ ।।

पण्डित द्यानतरायजी अपने द्यानत विलास में कहते हैं—

हाट बनाय के वाट लगाय के टाट बिछाय के उद्यम कीना ।
लेन को वाढ सुदेन को घाट सुबाटनि फेरि ठगे बहु दीना ।।
ताहूमें दानको भाव न रचक पाथर की कहुँ नाव तरी ना ।
द्यानत याहीते नर्क में वेदनि, कोड़ किरोडन और सही ना ।। ४१ ।।
नर्कन माहिं कहे नहिं जाहिं सहे दुख जे जब जानत नाहीं ।
गर्भ मंझार कलेश अपार तले सिर था तब जानत नाहीं ।।
धूलके बीचमें कीच नगीचमें नीचक्रिया सबजानत नाही ।
द्यानत दाव उपाव करो जम आवहिगो जब जानत नाहीं ।। ४४।।

आए तजिकौनधाम चलवोहै कौनठाम करतहो कौनकाम कछूहू विचारहै ।
पूरबकमायलाय यहांआइ खायगए आगेको खरच कहाबाध्यो निरधारहै ।।
बिनालिये दामएककोस गामको न जातउतराई दियेबिना कौनभयो पारहै।
आजकालविकरालकाल सिघआवतहै मैं करूँपुकार धर्मधारजोतयारहै२४।।

सवैया ३१

केईकेई बार जीवभूपति प्रचण्ड भयो केईकेई वार जीव कीट रूप धरो है ।
केई२बारजीवनवग्रीवकजाय बस्योकेई२बारजीव सातवेंनरक जावतरोहै ।।
केई२बार जीव राघो मच्छ होइ चुक्यो केई२ बार साधारन काय वरो है ।
सुखऔरदुख दोउ पावतहै जीवसदायही जान ज्ञानवानहर्षशोक हरोहै।।१६।।
याहीजगमाहि चिदानद आप डोलतहै भर्मभाव धरे हरेआतम सकतिको ।
अष्टकर्मरुप जेजे पुद्गल के परिनाम तिनको सरुप मान मानत सुमतिको।।
जाहीसमैमिथ्यामोह अंधकरानाशिगयाभयो परकाश भानु चेतनकोतनको ।
ताही समैजान्योआप२ पर२ रुपमानिभवभावरीनिवारो चारोंगतिको।।७५।।

छप्पय

कबहुँ चढत गजराज बोझ कबहूँ सिर भारी ।
कबहुँ होत धनवंत कबहुँ जिमि होत भिखारी ।।
कबहुँ असन लहि सरस कबहुँ नीरस नहिं पावत ।
कबहुँ वसन शुभ सघन कबहुँ तन नगन दिखावत ।।
कबहुँ स्वछन्द बन्धन कबहुँ करमचाल वहु लेखिये ।
यह पुन्य पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।।५२।।
कबहुँ रुप अति सुभग कबहुँ दुर्भग दुखकारी ।
कबहुँ सुजस जस प्रगट कबहुँ अपजस अधिकारी ।।
कबहुँ अरोग शरीर कबहुँ बहु रोग सतावत ।
कबहुँ बचन हित मधुर कबहुँ कछु बात न आवत ।।
कबहुँ प्रवीन कबहुँ मुगध विविध रुप नर देखिये ।
यह पुन्य पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।।५३।।

सवैया ।

रुजगार बनैनाहि धनतो न घरमांहि खानेकी फिकर वहु नारि चाहे गहना ।
देनेवालेफिरिजाहि मिलत उधारनाहि साझमिलेचोर धन आवेनाहिलहना ।
कोऊपूतजारी भयोघरमाहि सुत थयो एक पूत मरि गयो ताको दुखसहना ।
पुनो वरजोगभई व्याहो सुता मरिगई एतेदुखसुखमाने तिसे कहा कहना४०।
शिष्यकोपढावतहैं हेमको गढ़ावत हैं मानको बढावत हैं नाना छल छानके ।
कौड़ीकौड़ोमांगतहैंकायर होभागत हैं प्रात उठे जागतहैं स्वारथ पिछानके ।
कागद को लेखत हैं केई नग पेखत हैं केई कृषि देखत हैं आपनी युवानि के ।
एकसेर नाजकाज अपनो सरुप त्याग डोलतहैं लाजकाज धर्मकाजहानके३६।।
देखो चिदानन्दराम ज्ञानदृष्टिखोलकरि तात मात भ्रातस्वारथ पसारा है ।
तू तो इन्हें आपमानि ममतामगनभयो वह्योभर्ममांहि निजधर्मको विसाराहैं।।
यहतो कुटुम्ब सब दु:खहीको कारणहै तजि मुनिराज निजकारज विचाराहै।
ताते धर्मसार स्वर्गमोक्ष सुखकार सोइ लहे भवपार जिन धर्मध्यानधाराहै३४

कुण्डलिया

यह ससार असार है, कदली वृक्ष समान ।
या में सार पनो लखै, सो मूरख परधान ।।
सो मूरख परधान मान कुसुमनि नभ देखै ।
सलिल मथै घृत चहैं श्रृङ्ग सुन्दर खर पेखें ।।

अगिनि माँहि हिम लखै सर्पमुख माँहि सुधातह ।
जान जान मन माँहि नाहि संसार सार यह ॥ ३० ॥

भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं —

सवैया २३ ।

काहे को देहसो नेह करै तू अंत न राखी रहेगी ये तेरी ।
मेरी ये मेरी कहा करै लच्छिसो काहूको ह्वै के कहूँ रहि तेरी ॥
मानि कहा रह्यो मोह कुटुम्ब सों स्वारथ के रस लागे सबेरी ।
ताते तू चेत विचच्छन चेतन झूठि ये रीति सबै जग केरी ॥८८॥

सवैया ३१

कोटि-कोटि कष्ट सहै कष्ट में शरीर दहे,
धूमपान किये पै न पायो भेद तन का ।
वृक्षिन के मूल रहे जटानि में झूल रहे,
मान मध्य मूल रहे किये कष्ट तन को ॥
तीरथ अनेक नए तीरथ न कहूँ भये,
कीरति के काज दियो दान हूँ रतन को ।
ज्ञान बिना बेर-बेर क्रिया करी फेर-फेर,
कीयो कोऊ कारज न आतम जतन को ॥६४॥

सवैया २३

बालक है तब बालक सो बुधि जोबन काम हुताशन जारे ।
वृद्ध भयो तन अङ्ग रहे थकि आये हैं श्वेत गए सब कारे ॥
पांय पसारि पर्‌यो धरनी माँहि रोवे रटै दुःख होत महारे ।
बीतो यों बात गयो सब भूलि तू चेतत क्यों नहि चेतन हारे ॥५१॥

सवैया ३१

देखत हो कहां-कहां केलि करै चिदानन्द,
आतम सुभाव भूलि और रस राचो है ।
इन्द्रिन के सुख में मगन रहे आठो जाम,
इन्द्रिन के दुःख देख जाने दुःख साचो है ॥
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहंभाव मानि मानि ठौर ठौर माचो है ।
देव तिरयंच नर नारकी गतीन फिरै,
कौन कौन स्वांग धरै यह ब्रह्म नाचौ है ॥३६॥
पाय नर देह कह्यो कीना कहा काम तुम,
रामा रामा धन धन करत विहातु है ।

कैक दिन कैक छिन रही है शरीर यह,
याके संग ऐसे काज करत सुहातु है ॥
जानत हैं यह घर मरबेको नाहिं डर,
देख भ्रम भूलि मूढ़ फूलि मुसकातु है।
चेतरे अचेत फुनि चेतवेको ठौर आज,
काल पीजरेसो पक्षी उड़ जातु हैं ॥२१॥

विकट भव सिन्धु तारू तारिवेको तारु कौन,
ताके तुम तीर आये देखो दृष्टि धरि के।
अब के सम्भारेते पार भले पहुँचत हो,
अब के सम्भारे बिन बूड़त हो तरि के॥
बहुरि फिर मिलवो न ऐसो संजोग कहूँ,
देव गुरु ग्रन्थ करि आये यही धरि के।
ताहि तू विचार निज आतम निहारि भैया,
धारि परमातमा विशुद्ध ध्यान करिके॥७॥

धूमन के धौर हर देखि कहा गर्व करे,
ये तो छिन माहि जाइ पौर परसत ही।
सन्ध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही॥
सुपने में भूप जैसे इन्द्र धनु रूप जैसे,
ओस बूँद धूप जैसे दुरे दरसत ही।
ऐसो ही भरम सब कर्म जाल वर्गणा को,
तामें मूढ मग्न होय मरै तरसत ही॥१७॥

जहां तोहि चलिवो है साथ तू तहा को,
ढूँढि यहां कहां लोगनिसो रहो लुभायरे।
संग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र के कलत्र धन धान यह कायरे॥
जाके काज पाप करि भरतु है पिण्ड,
निज ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जायरे।
तहा तो इकेलो तू ही पाप पुन्य साथ,
दोय तामें भलो होइ सोई कीजे हँसराय रे॥

—:(०):—

द्वितीय अध्याय

शरीर स्वरूप।

इस संसार में जितनी आत्माएँ भ्रमण कर रही हैं वे सब शरीर के संयोग में हैं। यदि शरीर का सम्बन्ध न होता तो सर्व ही आत्माएँ सिद्ध परमात्मा होतीं संसार का अभाव ही होता। वास्तवमें दूध पानीकी तरह शरीर आत्मा का सम्बन्ध हो रहा है। आत्मा बड़ा ही सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है जबकि शरीर जड़ मूर्तीक पुद्गल परमाणु के स्कन्धों से बना है इसलिये संसारी प्राणियों की स्थूल दृष्टि में आत्मा के होने का विश्वास नहीं होता; क्योंकि रातदिन शरीर का ही प्रभुत्व व साम्राज्य हो रहा है, आत्मा का महत्व ढक रहा है।

यह मोही प्राणी बाहरी स्थूल शरीर को ही आपा मान रहा है, उसके जन्ममें मैं जन्मा, उसके मरणमें मैं मरा, उसके रोगी होने पर मैं रोगी, उसके दुर्बल होने पर मैं दुर्बल, उसके वृद्ध होने पर मैं वृद्ध, उसके निरोगी होने पर मैं निरोगी, उसके सबल होने पर मैं सबल, उसके युवान होने पर

मैं युवान ऐसा मान रहा है। यदि वह धनवान माता पिता से जन्मा है तो यह अपने को धनवान मानता है। यदि निर्धन से जन्मा है तो निर्धन मानता है। राज्य कुल वाला अपने को राजा, या दालिद्र कुलवाला अपने को दालिद्र, कृषक कुलवाला अपने को किसान, जुलाहे का कुलवाला अपने को जुलाहा, दरजी कुलवाला अपने को दरजी, धोबी कुलवाला अपने को धोबी, चमार कुलवाला अपने को चमार, सुनार कुलवाला अपने को सुनार, लुहार कुलवाला अपने को लुहार, बढई कुलवाला अपने को बढ़ई, थवई कुलवाला अपने को थवई, रंगरेज कुलवाला अपने को रंगरेज, माली कुल-वाला अपने को माली मान रहा है।

शरीर की जितनी दशाएँ होती है वे सब मेरी हैं ऐसा घोर अज्ञान तम छाया हुआ है। शरीर के मोह में इतना उन्मत्त है कि रात-दिन शरीर की ही चर्चा करता है। सबेरे से सध्या होती है, संध्या से सबेरा होता है। शरीरकी ही रक्षा, शरीरके ही शृंगारका ध्यान रहता हैं। इसे साफ करना है, इसे धोना है, इसे कपड़े पहनाना है, इसे चंदन लगाना हैं, इसे भोजनपान कराना है, इसे व्यायाम कराना है, इसे परिश्रम कराना हैं, इसे आराम देना है, इसे शयन कराना है इसे आभूषण पहिनाने है, इसे वाहन पर ले जाना है, इसके सुखदाता स्त्री, नौकर चाकरों की रक्षा करनी है इसके विरोधी शत्रुओं का संहार करना है इसी धुन में इतना मस्त है कि इसे अपने आत्मा के जानने की व समझने की फुरसत नही मिलती है।

जिस शरीर के मोह में आपको भूलकर काम काम किया करता हैं वही शरीर पुराना पड़ते पड़ते या युवानी में ही या बालवय में ही आयु कर्म के समाप्त होने पर छूटने लगताहैं तो महा विलाप करता हैं। मैं मरा, मैं मरा, मेरे साथी छूटे, मेरा घर छूटा, मेरा सर्वस्व लुट गया, ऐसा मेरा-मेरा करता हुआ मरता हैं और तुर्त ही दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त कर लेता है।

जिसकी सगति से यह बावला होरहा है उसका स्वभाव क्या है इसका यदि विचार किया जावेगा—विवेकबुद्धिसे इस बातका मनन किया जावेगा तो विदित होगा कि शरीर भिन्न सड़न गलन पड़न मिलन बिछुड़न स्वभाव है जब कि मैं अखंड, अविनाशी, अजात, अजर, अमर, अमूर्तिक, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ईश्वर स्वरूप परमानन्दमय अनुपम एक सत् पदार्थ हूँ।

संसारी जीवों के सर्व शरीर पांच तरह के पाए जाते हैं—कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक और औदारिक । सबसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय कार्मण शरीर है । सबसे स्थूल औदारिक है तथापि सबसे अधिक पुद्गलके परमाणुओंका सघट्ट कार्मणमें है,उससे बहुत कम तैजस आदिमें क्रमसे है । सबसे अधिक परम बलिष्ट शक्ति कार्मण में है, उससे कम शक्ति क्रम से और शरीरों में है ।

कार्मण शरीर कार्मणवर्गणारूपी सूक्ष्म स्कधों से बनता है । इसके बनने में मुख्य कारण ससारी जीवों के शुभ व अशुभ रागद्वेष मोहमई भाव तथा मन वचन काय योगों का हलन-चलन है । यही अन्य चार शरीरों के बनाने का निमित्त कारण है । इसी के फल से बिजली(electric) कीसी शक्ति को रखनेवाली तैजसवर्गणारूपी सूक्ष्म स्कंधो से तैजस शरीर (electric) बनता है । ये दो शरीर प्रवाहरुप से संसारी जीव के साथ अनादिकाल से चले आरहे हैं । जबतक मोक्ष न हो साथ रहते हैं, मोक्ष होते ही छूट जाते हैं । तौभी ये एक से नही रहतें हैं, इन में से पुरानी कर्म तथा तैजस वर्गणाए छूटती रहती हैं व नई कर्म व तैजस वर्गणाएं मिलती रहती हैं ।

यदि किसो मिथ्यादृष्टी मोहो बहिरात्मा सैनी पंचेन्द्रिय के कार्मण शरीरकी परीक्षा की जावे तो पुरानी से पुरानी कार्मण वर्गणा उसके कार्मण शरीर में सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर (सागर अनगिनती वर्षों को कहते हैं) से अधिक पुरानी नही मिल सकेगी । आहारक शरीर भी सूक्ष्म है । यह शरीर तपस्वी ऋद्धिधारी महा मुनियों के योगबल से बनता है । पुरुषाकार एक हाथका सफेद बड़ा सुन्दर पुतला मस्तक द्वार से निकलता है और एक अतर्मुहूर्त तक ही बना रह सकता है, फिर दूसरा बन सकता है । यह शरीर साधु की भावना के अनुसार तार के समान किसी अरहन्त केवली व श्रुत केवलो के दर्शन को जाता है, कोई सूक्ष्म शंका किसी तत्व में होती है वह दर्शन मात्र से मिट जाती है । कार्य लेने तक ही यह बना रहता है फिर विघट जाता है ।

वैक्रियिक शरीर और औदारिक शरीर दो शरीर ऐसे हैं जो चारों गतिधारी प्राणियों के स्थूल शरीर हैं—जीवनतक रहते हैं, फिर छूट जाते

हैं, नए प्राप्त होते हैं। देवगति व नरकगतिवाले प्राणियो के स्थूल शरीरों को वैक्रियिक तथा तिर्यंच और मनुष्यगतिवाले प्राणियो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। नारकियों का वैक्रियिक शरीर बहुत ही अशुभ दुर्गंधमय आहारक वर्गणाओं से बनता है। वे वर्गणाएं नामकर्म के फल से स्वयं मिल जाती हैं और एक अंतर्मुहूर्त में जितना बड़ा शरीर होना चाहिये उतना बड़ा तय्यार होजाता है। यह शरीर बहुत ही असुहावना, डरावना, हुंडक संस्थानमय पापकर्म के फल को दिखानेवाला होता है। इस शरीर को वैक्रियिक इसलिये कहते हैं कि इसमें विक्रिया करने की शक्ति होती है। नारकी इच्छानुसार अपने शरीर को सिंह, भेड़िया, कुत्ता, नाग, गरुड आदि बुरे पशुरुपों में बदल सकते हैं, वे अपने अंगो को ही शस्त्र बना लेते हैं। परस्पर दु.ख देने के साधन बनाने में उनके शरीर नानाप्रकार की अपृथक विक्रियाएँ करते रहते हैं। इस शरीर में ऐसी शक्ति होती है कि छिन्नभिन्न होने पर भी पारेके समान मिल जाते हैं—नारकी निरन्तर पीडा से आकुलित हो चाहते हैं कि यह शरीर छूट जावे परन्तु वह शरीर पूरी आयु भोगे बिना छूटता नही, उसका अकाल मरण होता नहीं। वे ऐसे शरीर में रत नही होते हैं इसी से उन को नरत भी कहते हैं।

देवों के भी स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते है। यह शरीर भी एक अन्तर्मुहूर्त में स्वय नामकर्म के उदय के सुन्दर सुहावनी सुगंधमय आहारक वर्गणाओं से बनता है। यह सुन्दर व कांतिकारी होता है। पुण्यकर्म के कमती बढती होने के कारण सर्व देवोका शरीर एकसा सुन्दर नहीं होता है, कोई कम कोई अधिक। इसी से देव परस्पर एक दूसरे को देखकर ईर्षावान होकर मन में घोर दु:ख पाते हैं। अपने को दूसरों के मुकाबले में कम सुन्दर देखकर कुढ़ते हैं व रातदिन मन ही मन में जलते रहते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी देवों को यह बड़ा मानसिक दु.ख रहता है।

शरीर सुन्दर होने से वे देव शरीर के मोह में रत रहते हुए शरीर में प्राप्त पाँचों इन्द्रियों के भोगो में बडे आसक्त रहते हैं। इनके शरीर में अपृथक् तथा पृथक् पृथक् विक्रिया करने की शक्ति होती हैं। एक देव या देवी अपने एक शरीर के बहुत शरीर बनाकर आत्मा को सब में फैला देते हैं और मन द्वारा सर्व शरीरों से काम लिया करते हैं। एक ही शरीर से बने हुए भिन्न भिन्न शरीरो को भिन्न भिन्न स्थानो में भेजकर काम लेते हैं।

छोटा बडा, हलका भारी नाना प्रकार करने की शक्ति उन के वैक्रियिक शरीर में होती है। एक देवी अनेक प्रकार शरीर बनाकर क्रीड़ा किया करती है। इन देवों में शरीरसम्बन्धी सैर, भ्रमण, नाच, गाना, नाटक, खेल, तमाशा इतना अधिक होता है कि ये रात दिन इस ही रागरंग में मगन होकर शरीर के ही सुख में आसक्त हो शरीररूप ही अपने को मान लेते हैं। मिथ्यात्वी देवों को स्वप्नमें भी ख्याल नही आता है कि हम शरीर से भिन्न कोई आत्मा हैं।

शरीर के गाढ़ मोह के कारण कोई प्रिय देवी मरती है तो देवोंको महान कष्ट होता है। अपना मरण निकट होता है तो बड़ा दुःख होता है। वे चाहते हैं कि और अधिक जीते रहे परन्तु आयुकर्म के समाप्त होते ही उनको शरीर छोड़ना पडता है। अकाल मरण तो इन में भी नहीं होता है। आर्तध्यान से शरीर छोडते हैं। कोई कोई मर करके वृक्ष वनस्पति कायों में या रत्नादि पृथ्वी कायों में, कोई-कोई मृग, श्वान, अश्व, हाथी, वृषभ पशुओ में और मोर, कबूतर आदि पक्षियो में उत्पन्न हो जाते हैं। कोई-कोई दीन हीन मनुष्यो में जन्म लेते हैं। जैसा मोह कर्म वश पाप कर्म बांधते हैं वैसे ही कम बुरी व अधिक बुरी योनि में आकर जन्म पाते हैं। शरीर का मोह देवो को पचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक की योनि में पटक देता है, जहां से उन्नति करके फिर पचेन्द्रिय होना उनके लिये अनन्त काल में भी दुर्लभ हो जाता है।

तिर्यंच गति में—एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकादिको का शरीर भी आहारक वर्गणाओ से बनता है। ये वर्गणाएँ कुछ शुद्ध हैं। वनस्पतियों का शरीर पृथ्वी आदि धातुओ से व आहारक वर्गणाओं से बनता है। विकलत्रय व पचेन्द्रिय पशुओ का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की अच्छी बुरी आहारक वर्गणाओ से बनता है जिससे किन्ही का शरीर सुन्दर, किन्ही का असुन्दर होता है, किन्ही का दुर्गन्धमय, किन्हीं का सुगंधमय होता है। असैनी पचेन्द्रिय तक सर्व पशुओं के मन नही होता है। इससे उनके विचारने की शक्ति ही नही होती है कि वे यह विचार सकें कि आत्मा कोई भिन्न है व शरीर कोई भिन्न है। वे शरीर रूप ही अपने को माना करते हैं। उनकी तीव्र आसक्ति शरीर में होती है। जो सैनी पंचेन्द्रिय पशु है उनके मन होता है, वे विचार कर सकते हैं परन्तु उनको शरीर व आत्मा की भिन्नता के ज्ञान पाने का अवसर क्वचित् ही होता

है। वे भी शरीर में मोही होते हुए शरीर से ही अपना जन्म मरण मानते रहते हैं। व शरीर के छेदन भेदन भूख प्यास से बहुत कष्ट भोगते हैं।

मनुष्य गति में—इस कर्म भूमि के मनुष्यों का शरीर भी सुन्दर असुन्दर नाना प्रकार की आहारक वर्गणाओं से बनता है। पहले तो शरीर की उत्पत्ति में कारण गर्भ है। वहां अति मलीन, पुरुष का वीर्य व स्त्री के रज का सम्बन्ध होता है तब गर्भ बनता है। उसमें जीव अन्य पर्याय से आता है तब वह चारो तरफ की और भी आहारक वर्गणारूपी पुद्गल को ग्रहण करता है। विग्रह गति से आया हुआ जीव मनुष्यगति में एक साथ आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा को ग्रहण करता है। अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त अवस्था कहलाती है। जब तक उन वर्गणाओ में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन इनके बनने की शक्ति का प्रकाश न हो तब तक वह मानव अपर्याप्त कहलाता है, फिर वह पर्याप्त हो जाता है।

मानव शरीर—नौ मास के अनुमान महान कष्ट में पूरा बनता है। तब तक इस जीव को गर्भ स्थान मे उल्टा रहना पड़ता है। वह स्थान महा अपवित्र दुर्गन्धमय होता है। माता द्वारा खाए हुए भोजनपान द्वारा वह वहां अपना खाद्य ग्रहण करके बढ़ता है। अगोपाग सिकुडे हुए एक झिल्ली के भीतर रहते हैं। जब वह गर्भ से निकलता है तो उस बालक को बडा भारी कष्ट होता है। बाल्यावस्था में शरीर बडी कठिनाई से माता द्वारा पाला जाता है। भूख प्यास लगती है, समय पर दूध व अन्नादि मिलता है, कभी नही मिलता है तब रोता है, मल-मूत्र से अपने को सान लेता है।

मानव इस स्थूल शरीर को ऊपर से चिकना देखकर इसमें लुभा जाते हैं परन्तु इस औदारिक शरीर के सम्बन्ध में विचार नही करते हैं। यदि भले प्रकार शरीर के स्वभाव पर विचार किया जावे तो कोई भी बुद्धिमान ऐसे अशुचि, मैले, घिनावने शरीर की संगति पसन्द न करे। इसकी उत्पत्ति का कारण माता पिता का अत्यन्त मलीन रज-वीर्य है। यह मलमई गर्भ स्थान में बढ़ता है। इसके भीतर सात धातु व उपधातु हैं। **सात धातुएं हैं**—रस, रुधिर, मांस, मेद (चरबी), हाड़, मिज्जी, शुक्र

(वीर्य)—जो भोजनपान किया जाता है वह इन दशाओं में पलटते-पलटते अनुमान एक मास में वीर्य को तैयार करता है।

सात उपधातुएँ हैं—वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उपराग्नि। इनके भरोसे पर शरीर बना रहता है। यदि इनमें से कोई उपधातु बिगड़ जाती है तो रोग पैदा हो जाता है। यदि कोई ऊपर की खाल का ढकना जरा भी हटादे तो इस शरीर पर मक्खियाँ बैठ जायेंगी। इतना घिनावना दिखेगा कि स्वयं को ही बुरा लगेगा। इस शरीर के भीतर मल, मूत्र, पीप अनेक कीड़े बिलबिला रहे हैं। यह मैल के घड़े के समान मलीन पदार्थों से भरा है। शरीर में करोड़ों रोम छिद्र हैं उनसे रात दिन पसीना रूपी मैल ही निकलता है। नव बड़े द्वारों से निरन्तर मैल ही निकलता है। नव द्वार है--दो कर्ण छिद्र, दो आंख, दो नाक छिद्र, एक मुख, दो कमर के वहाँ लिंग व गुदा। यह शरीर निरन्तर झड़ता रहता है व नए पुद्गलों से मिलता रहता है।

अज्ञानी समझते हैं कि यह शरीर थिर है परन्तु यह सदा अथिर रहता है। जैसे एक सेना के व्यूह में युद्ध के समय सिपाही मरते जाते हैं, नये उनकी जगह को आकर भर देते हैं वैसेही इस शरीरमें पुराने परमाणु झड़ते हैं, नए मिलते हैं। बालकपन, कुमारपन, युवानीपन, इन तीन में कुछ सुन्दर दीखता है। जरा आने पर निर्बल व असुन्दर होने लगता है। इसकी अवस्था एकसी नहीं रहती है। इसमें अनगितनी रोग ज्वर, खाँसी, श्वांस, पेट दर्द, शिर दर्द, कमर दर्द, गठिया, जलोदर, कोढ़ आदि पैदा होते रहते हैं। इसके छूट जाने का कोई नियम नहीं।

देव व नारकियों का शरीर तो पूरी आयु होने पर ही छूटता है परन्तु कर्म भूमि के मनुष्य व तिर्यंचों का अकाल मरण भी हो जाता है। जैसे दीपक में तेल इतना हो कि रात भर जलेगा परन्तु यदि तेल किसी कारण से गिर जावे तो दीपक जल्दी बुझ जायगा। इसी तरह आयु कर्म की वर्गणाएँ समय-समय फल देके खिरती रहती हैं, वे यदि इसी समान उदय में आती रहती हैं, कोई प्रतिकूल कारण नहीं होता है तब तो पूरी आय भोग ली जाती है परन्तु असातावेदनीय के उदय से यदि तीव्र असाध्य रोग हो जावे, विष खाने में आजावे, तलवार लग जावे, अग्नि में जल जावे, जल में डूब जावे व और कोई अकस्मात् हो जावे तो आयु-

कर्म की उदीर्णा हो जाती है अर्थात् अवशेष आयु कर्म की वर्गणाएँ सब एक दम झड़ जाती हैं और मरण हो जाता है। ऐसे पतनशील, मलीन, घिनावने, रोगाक्रान्त शरीर से अज्ञानी जन मोह करके रात दिन इसी के संवारने में लगे रहते हैं व अपने को शरीर रुप ही मान लेते हैं और शरीर के मोह में इतने मूर्छावान हो जाते हैं कि वे अपने आत्मा की तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते हैं---धर्म साधन से विमुख रहते हैं। अन्त में रौद्रध्यान से नर्क व आर्तध्यान से पशुगति में चले आते हैं।

यद्यपि यह मानव का शरीर मलीन, क्षण भंगुर व पतनशील है तथापि यदि इसको सेवक के समान रक्खा जावे व इससे अपने आत्मा का हित किया जावे तौ इसी शरीर से आत्मा अपनी बड़ी भारी उन्नति कर सकता है। तप करके व आत्म ध्यान करके ऐसा उपाय कर सकता है जो फिर कुछ काल पीछे शरीर का सम्बन्ध ही छूट जावे। नौकर को इतनी ही नौकरी दी जाती है जिससे वह बना रहे व आज्ञा में चलकर हमारे काम में पूरी-पूरी मदद दे। इसी तरह शरीर को तन्दुरुस्त रखने के लिये योग्य भोजनपान देना चाहिये। इसे ऐसा खान-पान न देना चाहिये जिससे यह आलसी, रोगी व उन्मत्त बन जावे। इसको अपने आधीन रखना चाहिये, शरीर के आधीन आप नही होना चाहिये।

इस शरीर से बुद्धिमान ऐसा यत्न करते हैं जिससे फिर यह शरीर प्राप्त नहीं होवे, कर्मों की पराधीनता मिट जावे और यह आत्मा स्वाधीन हो जावे। इस मानव शरीर को यदि धर्म साधन में लगा दिया जावे तौ इससे बहुत उत्तम फलों को प्राप्ति हो सकती है। यदि भोगो में लगाया जावे तो अल्प भोग रोगदि आकुलता के उत्पन्न कराने वाले होते हैं और उनसे तृप्ति भी नहीं होती है। यह शरीर काने साठे के समान है। काने साठे को खाने से स्वाद ठीक नही आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो वह अनेक साठों को पैदा कर देता है।

संयम का साधन-मुनि धर्म का साधन केवल मात्र इस मानव शरीर से ही हो सकता है। पशु कदाचित् श्रावक धर्म का साधन कर सकते हैं। नारकी व देव तो श्रावक का संयम नहीं पाल सकते हैं, केवल व्रत रहित सम्यग्दृष्टी ही हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी इन्द्रादि देव यह भावना

भाया करते हैं कि कब आयु पूरी हो और कब हम मनुष्य देह पावें। जो तप साधन कर कर्मों को जलावे और आत्मा को मुक्त करे, जन्म मरण से रहित करे, उसे सिद्धपद में पहुँचावें,ऐसे उपकारी मानव जन्मको पाकर मानवों के शरीर को चाकर के समान रखकर इसकी सहाय से गृहस्थाश्रम में तो धर्म, अर्थ काम तीन पुरुषार्थों को साधना चाहिये और मुनि पद में धर्म और मोक्ष को ही साधना चाहिये। बुद्धिमानों को धर्म साधन में यह भी नहीं देखना चाहिये कि अभी तो हम कुमार हैं, अभी तो हम युवान हैं, बुढ़ापे में धर्म साधन करलेंगे। अकाल मरण की सम्भावना होने से हमारा यह विचार ठीक नही है। मानवो के सिर पर सदा ही मरण खड़ा रहता है, मालूम नहीं कब आजावे। इसलिये हरएक पल में अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का साधन करते रहना चाहिये जिससे मरते समय पछताना न पड़े। मानव शरीर का सम्बन्ध अवश्य छूटेगा। उसी के साथ लक्ष्मी परिवार सम्पदा सब छूटेगी। तब इस शरीर व उसके सम्बन्धियों के लिये बुद्धिमान को पापमय, अन्यायमय, हिंसाकारी जीवन नहीं बिताना चाहिये। स्वपर उपकारी जीवन बिताकर इस शरीर को सफल करना चाहिये। इसमें रहना एक सराय का वास मानना चाहिये। जैसे सराय में ठहरा हुआ मुसाफिर सराय के दूसरे मुसाफिरो से स्नेह करते हुए भी मोह नही करता है, वह जानता है कि सराय से शीघ्र जाना है वैसे ही शरीर में रहते हुए बुद्धिमान प्राणी शरीर के साथियो से मोह नहीं करते हैं, प्रयोजनवश स्नेह रखते हैं। वे जानते हैं कि एक दिन शरीर को छोड़ना पड़ेगा तब ये सब सम्बन्ध स्वप्न के समान हो जायेंगे। शरीर झोंपड़ी को पुद्गल से बनी जानकर हमें इससे मोह या मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिये। यह झोंपडी है, हम रहने वाले आत्मा अलग हैं। झोंपडी जले हम नहीं जल सकते, झोपड़ी गले हम नही गल सकते, झोंपडी पड़े हम नहीं पड़ सकते, झोंपड़ी पुरानी पडे हम नही जर्जरित हो सकते। यह पुद्गल रूप है, पूरन गलन स्वभाव है, यह जड़ है, मूर्तीक है तब हम अमूर्तीक अखण्ड आत्मा हैं। हमारा इसका वैसा ही सम्बन्ध है जैसे देह और कपड़ों का। कपड़ा फटे, सड़े, गले, छूटे हमारा देह नही कटता है, सड़ता है, व गलता है, कपड़ा लाल, पीला, हरा हो, देह लाल पीला हरा नहीं होता है, इसी तरह शरीर बालक हो, युवान हो, वृद्ध हो, रोगी हो, पतनशील हो हम आत्मा हैं, हम बालक नही, युवान नहीं, वृद्ध नहीं,रोगी नहीं, पतनशील नही। ज्ञानी को उचित है कि इस शरीर के स्वभाव को विचार करके इससे मोह न करे। इस शरीर की अपवित्रता तो प्रत्यक्ष

प्रगट है। जितने पवित्र पदार्थ हैं शरीर का स्पर्श पाते ही अशुचि हो जाते हैं। पानी, गंध, माला, वस्त्र आदि शरीर के स्पर्शबाद दूसरे उसको ग्रहण करना अशुचि समझते हैं। नगर व ग्राम में सारी गन्दगी का कारण मानवों के शरीर का मल है।

ऐसे अपवित्र शरीर भी पूज्यनीय व पवित्र मानेजाते हैं,यदि आत्मा धर्मरत्नों से विभूषित हो। अतएव हम सबको उचित है कि हम इस मानव देह को पुद्गलमई, अशुचि,नाशवन्त व आयु कर्म के आधीन क्षणिक समझ कर इसके द्वारा जो कुछ आत्महित साधन हो सके सो शीघ्र कर लें। यदि विलम्ब लगाई तो यह शरीर धोखा दे जायगा। और मरते समय पछताना पड़ेगा कि हमने कुछ नही किया। शरीर का स्वरुप आत्मा के स्वरुप से बिलकुल विलक्षण है। इसे अपने से भिन्न जानकर इससे वैराग्यभाव ही रखना चाहिये और इसी शरीर से ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे फिर इस शरीर की प्राप्ति ही न हो, फिर इस शरीर के जेलखाने में आना ही न पड और हम सदा के लिये स्वाधीन परमानन्दमय हो जावें। हमको मिथ्यात्व रुपी अन्धकार से निकल कर सम्यक्त के प्रकाश में आने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये।

जैनाचार्यों ने शरीर का स्वरुप कैसा बतलाया है सो नीचे के शास्त्रो के वाक्यो से प्रगट होगा :—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वादशानुप्रेक्षा में कहा है :—

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल भरिदं अचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिन्तये णिच्चं ॥४४॥

भावार्थ—ज्ञानी को नित्य ऐसा विचारना चाहिये कि यह शरीर दुर्गंधमयी है,घृणामय है, मैल से भरा है, अचेतन है, मूर्तिक है, इसका स्वभाव ही सड़ना व पड़ना है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥४६॥

भावार्थ—देह के भीतर बसा परंतु देह से जुदा,कर्मों से भिन्न अनंत सुख-समुद्र, अविनाशी, पवित्र आत्मा है ऐसी सदा भावना करनी योग्य है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड में कहते हैं—

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

भावार्थ—इस मनुष्य के देह में एक-एक अंगुल में छ्यानवे-छ्यानवे रोग होते हैं तब कहो सर्व शरीर में कितने रोग होंगे।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

भावार्थ—हे महायश ! तूने पूर्व भवों में उन रोगों को परवश हो सहा है। ऐसे ही फिर सहेगा, बहुत क्या कहें।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

भावार्थ—हे मुने ! तू ऐसे महान अपवित्र उदरमें नौ मास तथा दस मास बसा जो उदर पित्त और आंतों से बेढ़ा है, जहाँ मूत्र, फेफस, कलेजा, रुधिर, श्लेष्म और अनेक कीड़े पाए जाते हैं।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुनिवर ! बालत्तपत्तेण ॥४१॥

भावार्थ—हे मुनिवर ! तू बालपने के काल में अज्ञान अवस्था में अशुचि अपवित्र स्थान में अशुचि में लोटा और बहुतबार अशुचि वस्तु भी खाई।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसपूयखिब्भिस भरियं चितेहि देहउडं ॥४२॥

भावार्थ—हे मुने ! तू देह रुपी घड़ेको ऐसा विचार कि यह देह घट मांस, हाड़, वीर्य, रुधिर, पित्त, आंतों से झड़ती मुरदेकी सी दुर्गंध, अपक्व मल, चरबी, पीप आदि मलीन वस्तुओं से पूर्ण भरा है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार में द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

असुइविलिबिले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसेभलालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ।।३३।।

भावार्थ—अपवित्र मूत्रमल, श्लेष्मपित्त, रुधिरादि से घृणायुक्त गर्भ में बसता हुआ, मांस की झिल्ली से ढका हुआ, माता के कफ द्वारा पाला हुआ यह जीव महान दुर्गन्ध रस को पीता है।

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं ।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ।।३४।।

भावार्थ—मास, हाड़ कफ, चरबी, रुधिर, चमडा, पित्त, आंतें, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीर रुपी कुटी अनेक दुःख और रोगों का स्थान है ऐसा जान।

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ।।३५।।

भावार्थ—द्रव्य, काम, भोग,शरीरादि ये सब तेरे बिगाड़ करनेवाले अशुभ हैं ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर ऐसा आत्मध्यान कर जिससे यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे।

मोत्तूणं जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ।।३६।।

भावार्थ—देव,असुर, तिर्यंच, नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक में एक जिनेन्द्रप्रणीत धर्मको छोड़कर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तुनही है।

उसी मूलाचार की अनागार भावना अधिकार में कहते हैं—

रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ।।७७।।

भावार्थ—यह शरीर रुपी घर रोगों का भण्डार है। सैकड़ों आपत्तियों से व रोगों को झेलकर बना हुआ है। ऐसे शरीर में वीर वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते हैं।

एदं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं ।
अंतोछाइद ढिड्ढिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥७८॥

भावार्थ—यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओं से बना है, चमड़े से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मास, चरबी, वीर्य, आदि से पूर्ण है तथा मलमूत्रका भण्डार है।

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं॥८३॥

भावार्थ—यह शरीररूपी घर, हड्डियो से बना है, नसो से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीडो से पूर्ण है, मास से भरा है, चमडे से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है।

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥८४॥

भावार्थ—ऐसे दुर्गंधित पीपादि से भरे अपवित्र सड़ने पड़नेवाले, साररहित, इस शरीर मे सत्पुरुष राग नही करते है।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र मे कहते है—

अजंगमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान! आपने जगत के कल्याण के लिये यह उपदेश दिया है कि यह शरीर स्वय जड़ है, जीव द्वारा काम करता है, जैसे किसी स्थिर यत्र को कोई चलने फिरनेवाला प्राणी चलावे तथा यह शरीर घृणायुक्त, अपवित्र, नाशवत व सताप उत्पन्न करने वाला है, इस से राग करना वृथा है।

श्री शिवकोटी आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं—

देहस्स सुक्कसोणिय, असुईपरिणामकारणं जह्मा ।
देहो विहोइ असुई, अमेज्झघदपूरओ व्व तदो॥१००३॥

भावार्थ—इस देहकी उत्पत्तिका कारण महा अशुचि माताका रुधिर

पिताका वीर्य है। जैसे मलीन से बनाया हुआ घेवर सो भी मलीन ही होता है, वैसे अशुचि बीज से पैदा हुआ देह भी अशुचि है।

कललगदं दसरत्तं, अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं, अच्छदि गब्भम्मि तं वीयं ॥१००६॥
तत्तो मासं वुब्बुदभूदं, अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो, य मंसपेसी य मासेण ॥१००७॥
मासेण पंच पुलगा, तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य,णरस्स जायंति गब्भम्मि॥१००८॥
मासम्मि सत्तमे तस्स, होदि चम्मणहरोमणीप्पत्ती।
फुंदणमट्ठममासे, णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००९॥
सव्वासु अवत्थसु वि, कललादीयाणि ताणि सव्वाणि।
असुईणि अमेज्झाणि य,विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि१०१०।

भावार्थ—गर्भ मे माता का रुधिर पिता के वीर्य से मिला हुआ दश रात्रि तक हिलता रहता है, फिर दश रात्रि काला होकर ठहरता है, फिर दश दिन मे थिर होता है, फिर दूसरे महिने में बुदबुदा रूप होकर ठहरता है। तीसरे मास में वह कठोर होकर ठहरता है। चौथे मास में मांसकी डली होकर ठहरता है। पांचवे मास में उस मासकी डली में पांच पुलक निकलते हैं—एक मस्तकका आकार, दो हाथोका व दो पगो का आकार। छठे मास में मनुष्य के अंग उपंग प्रगट होते हैं। सातवे मास में चाम, नख, रोमकी उत्पत्ति होती है। आठवे मास में गर्भ में कुछ हिलता है। नवमें या दसवे मास में गर्भ से निकलता है। ऐसे जिस दिन गर्भ में माता का रुधिर पिताका रुधिर स्थित हुआ, उसी दिन से यह जीव महान मलीन दशा में ही रहा।

कुणिमकुडी कुणिमेहि य,भरिदाकुणिमंच सवदि सव्वत्तो।
भाणं व अमिज्झमयं, अमिज्झभरिदं सरीरमिणं।१०२५॥

भावार्थ—यह देह मलीन वस्तुओं की कुटी है व मलीन पदार्थों से ही भरी है व सर्व द्वारों से व शरीर के अंग व उपंगों से सड़े दुर्गंध मल

को नित्य बहाती है। जैसे मल से बना बर्तन मल ही से भरा हो, वैसा ही यह शरीर है।

अट्ठीणि होंति तिण्णि दु,सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि सवंति तावदिया ॥१०२६॥
ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तो व ।
देहम्मि मंसपेसी, ण होंति पंचेव य सदाणि ॥१०२७॥
चत्तारि सिराजलाणि होंति सोलसय कंडराणि तहा ।
छच्चे व सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२८॥
सत्त तयाओ काले, जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।
देहम्मि रोमकोड़ी-,ण होंति असोदी सदसहस्सा ।१०२९॥
पक्कामयासयत्था, य अंतगुंजाऊ सोलस हवंति ।
कुणिमस्स आसया स-,त्त होंति देहे मणुस्सस्स ॥१०३०।
थूण उ तिण्णि देह-, म्मि होंति सत्तत्तरं च मम्मसदं ।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०३१॥
देहम्मि मत्थुलिंगं अञ्जलिमित्तं सयप्पमाणेण ।
अञ्जलिमेत्तो मेदो ओजो वि य तत्तिओ चेव ॥१०३२॥
तिण्णि य वसञ्जलीओ छच्चेव य अंजलीउ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढयं हवदि ॥१०३३॥
मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पत्था ।
बीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०३४॥
किमिणो व वणो भरिदं सरीरियं किमिकुलेहि बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फुंदिऊण वादा ठिदा पंच ॥१०३५॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ।।१०३६।।

भावार्थ—इस देह में सडी हुई भीजी से भरे तीनसौ हाड़ हैं, तीनसौ ही सधिएँ हैं, नवसौ(स्नायु)नसे हैं, सातसौ छोटी(सिरा)नसे हैं, पांचसौ मांस की डली हैं, चार नसों के जाल हैं, सोलह कंडरा हैं, छः सिरामूल हैं, दो मांस की रस्सी हैं, सात त्वचा हैं, सात कलेजे हैं, अस्सी लाख करोड़ रोम हैं, पक्वाशय व आमाशय में तिष्ठती सोलह आंतो की पष्टि हैं, सात मल के आश्रय हैं, तीन स्थूणी हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं, नव मल निकलने के द्वार हैं, देह में मस्तिष्क अपनी एक अंजली प्रमाण है, एक अंजली प्रमाण मेद धातु है । एक अंजली प्रमाण वीर्य है, मांस के भीतर चरबी या घी अपनी तीन अंजली प्रमाण हैं, पित्त छ. अंजली प्रमाण है, कफ भी छ अंजली प्रमाण है, रुधिर आध आढक प्रमाण हैं, मूत्र आठ आढक प्रमाण है, आठ सेर का आढक होता है, मल छ. सेर है, देह में बीस नख है । बत्तीस दांत है । यह प्रमाण सामान्य कहा है, विशेष हीन व अधिक भी होता है, देशकाल रोगादि के निमित्त से अनेक प्रकार होता है । सड़े हुए घावकी तरह बहुत कीड़ों से भरा हुआ यह देह है, सर्व देह को व्यापकर पाँच पवन हैं । ऐसे इस देह में सर्व ही अंग व उपंग दुर्गंध पुद्गल हैं । इस देह में ऐसा एक भी अंग नही है जो पवित्र हो—सर्व अशुचि ही है ।

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसिया तयाए णो पिहिदं
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ।।१०३७।।

भावार्थ—जो यह देह मक्खी के पर समान पतली त्वचा से ढका न हो तो इस मैल से भरे हुए शरीर को कौन स्पर्शना चाहेगा ?

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दयिदं महिलं दट्ठुं पि णरो ण इच्छेज्ज१०३८।

भावार्थ—जो इस देह का सर्व चमड़ा जल जावे और सफेद शरीर निकल आवे और घावों से रस झड़ने लग जावे तो अपनी प्यारी स्त्री भी उसे देखना पसंद न करेगी ।

इंगालो धोवंतो ण हु सुज्झदि जहा पयत्तेण ।
सव्वेहिं समुद्देहिं सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ।।१०४३।।

भावार्थ—जैसे कोयले को सर्व समुद्र के जल से धोने पर भी वह उजला नही हो सकता वैसे देहको बहुत जलादि मे धोने पर भी भीतर से पसीना आदि मल ही निकलेगा ।

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणेहि मुहदन्त अच्छिधुवणेहिं ।
णिच्चं पि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ।।१०४४।।

भावार्थ—स्नान तथा अतर, फुलेल, उबटना से धोने पर व मुख दांत, नेत्रों के धोने पर व नित्य स्नानादि करने पर भी यह देह सदा दुर्गंध ही वमती है ।

अन्तो वहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ।।१०४६।।

भावार्थ—जैसे एरण्ड की लकडी मे कुछ सार नही है वैसे इस मनुष्य की देह मे भीतर बाहर कुछ भी सार नही है ।

जदि दा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि चेव देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ।।१०५३।।
पंचेव य कोडीओ अट्ठासट्ठिं तहवे लक्खाइं ।
णव णवदिं च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी ।१०५४।

भावार्थ—जो एक नेत्र मे ९६ (छानवे) रोग होते है, तो संपूर्ण देह मे कितने रोग होंगे । पाच करोड अडसठ लाख निन्याणवे हजार पाच सो चौरासी ५६८९९५८४ रोग देह मे उपजने योग्य होते है ।

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंतस्स ठादि चिरं सरीरमिमं ।।१०५६।।

भावार्थ—काष्ठ व पत्थर की मूर्तिये संवारी हुई बहुत काल ठहर सकती है, परन्तु यह मनुष्य का देह अत्यंत सम्भार करते हुए भी बहुत देर नही ठहरता है ।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं—

"शरीरमिदमत्यन्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचि संवर्धितमवस्करवत् अशुचिभोजन त्वङ्मात्रप्रच्छादितम् अतिपूतिरसनिष्यन्दि स्रोतो बिलम् अंगारवत् आत्मभावं आश्रितमपि आश्वेवापादयति। स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वम् अपहर्तुमस्य।"

भावार्थ—यह शरीर अत्यंत अशुचि है। वीर्य और रुधिर की योनि में अशुचि पदार्थों से बढ़ा है। मलभाजन के समान अशुचि का बर्तन है। ऊपर से त्वचा से ढका है। इसके द्वारों से अत्यन्त अपवित्र मल बहा करता है। जैसे अंगार को हाथ में लेने से हाथ जल जाता है, वैसे इस शरीर को अपना मानने से अपना शीघ्र ही घात होता है। स्नान, विलेपन, धूप, वस्त्र, मालादि कोई भी पदार्थ इस देह की अशुचिता दूर नहीं कर सकते हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

भावार्थ—यह शरीर निरंतर क्षुधादि से पीड़ित रहता है व नाशवन्त है, इस की संगति को पाकर पवित्र भी भोजन वस्त्रादि पदार्थ अपवित्र होजाते हैं। ऐसे नाशवंत व अपवित्र शरीर के लिये धनादि की वांछा वृथा है।

श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ—सर्व संसार के दुःखों का मूल इस देह से राग करना है। इसलिये आत्मज्ञानी इससे राग छोड़कर व इन्द्रियों को संकोचकर अपने आत्मा मे प्रवेश करते हैं।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ—जो मूर्ख देह को आत्मा मान लेता है वह यह चाहा करता है कि शरीर सुन्दर बना रहे व मनोहर इन्द्रियों के पदा सदार्थ प्राप्त होते रहे। तत्वज्ञानी इस शरीर से छूटना ही चाहता है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णम् मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णम् मन्यते बुधः ॥६४॥
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

भावार्थ—जैसे मोटे कपड़ों को पहनने पर भी कोई आप को मोटा नही मानता है, इसी तरह अपने शरीर को मोटा देख कर ज्ञानी अपने आत्मा को मोटा नही मानता है। पुराने कपडे देखकर कोई अपने को पुराना नही मानता है, इसी तरह अपने शरीर को पुराना देखकर बुद्धिमान आत्माको पुराना नही मानता हैं। वस्त्रो को नाश होते जानकर कोई अपना नाश नहीं मानता है वैसे देह को नाश होते देखकर बुद्धिमान अपना नाश नही मानता है। वस्त्रों को लाल देखकर कोई अपने को लाल नही मानता है, वैसे देह को लाल देखकर कोई बुद्धिमान अपने आत्मा को लाल नहीं मानता है। शरीर से आत्मा भिन्न हैं।

प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थिति भ्रांत्या प्रपद्यन्ते तंममात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

भावार्थ—समान आकार बना रहने पर भी इस शरीररूपी सेना के चक्र में नए परमाणु मिलते हैं, पुराने झड़ते है तौभी अज्ञानी इस शरीर को थिर मानकर अपना माना करता है।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

भावार्थ—ज्ञानी जानते हैं कि शरीर ही गोरा, मोटा, दुबला होता है, आत्मा नहीं। आत्मा तो मात्र सदा ज्ञान शरीरधारी है,वह पुद्गल नहीं शरीर पुद्गल है।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भावार्थ—इस शरीर मे ही आत्मापने की भावना करनी अन्य-अन्य देह प्राप्त करने का हेतु है तथा शरीर से भिन्न आत्मा मे ही आत्मापने की भावना करनी इस शरीर से छूटने का उपाय है।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन' ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

भावार्थ—जो इस शरीर मे ही अपनेपने की गाढ बुद्धि रखते हैं वे अपना नाश जानकर निरतर डरते रहते हैं कि कही पुत्र मित्र आदि का वियोग न हो जाय, कही मेरा मरण न हो जाय।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है- -

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

भावार्थ—हे निर्बुद्धि ! यह शरीररूपी घर तेरा बदीघर के समान है इस से वृथा प्रीति मत कर। यह शरीररूपी बदीखाना हड्डीरूपी मोटे पाषाणो से घडा हुआ है, नसो के जालरूपी बधनो से बेढा हुआ है चमडे से छाया हुआ है, रुधिर व मास से लिप्त है, इसे दुष्ट कर्मरूपी बैरीने रचा है। इस मे आयुकर्मरूपी गाढी बेड़ी है।

दीप्तोभयाग्रवातारिदारुदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥६३॥

भावार्थ—जैसे दोनो तरफ आग से जलते हुए एरड के काष्ठ के बीच मे प्राप्त कीडा महान दुखी होता है वैसे जन्म तथा मरण से व्याप्त इस शरीर में यह प्राणी कष्ट पाता है।

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रह ॥६९॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तेरा इस शरीर में कौनसा आग्रह है कि मैं इसकी रक्षा कर लूँगा, यह तो करोड़ो उपायो के करने से भी नहीं रहेगा । न आप ही रक्षा कर सकता है, न दूसरा कोई बचा सकता है । यह तो अवश्य पतनशील है ।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखे पि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इमा दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं यतते
यतिर्यताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ।। ९७।।

भावार्थ —सर्व प्रकार अपवित्र और बहुत दुःखों के देने वाले इस शरीर में रहता हुआ यह मानव इस देह में विरक्त नहीं होता है, किन्तु अधिक प्रीति करता है तथापि ऐसा देखकर साधुजन सार उपदेश देकर इस प्राणी का शरीर से विरक्त करने का यत्न करते है । महान पुरुषों का अनुराग परहित में रहा करता है ऐसा देखो । इस प्राणी शरीर के मोह से छुड़ा कर यतीश्वर गण पूर्ण शिक्षा देकर इसको आत्मज्ञान पर आरूढ करने का उद्यम करते है ।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ।।९८।।

भावार्थ—जैसा है वैसा है ऐसा बहुत कहने से क्या ? हे जीव ! तूने इस संसार में शरीर को बार बार भोगा है और छोड़ा है । अब तुझे संकोच करके इतना ही कहा जाता है कि प्राणियों के लिये यह शरीर सब आपदाओं का स्थान है ।

विसृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यंतमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ।।१०५।।

भावार्थ—ज्ञानी लोगों के लिये यह शरीर त्यागने योग्य है; क्योंकि वे विचारते हैं कि यह सर्व शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यंत वृथा ही क्लेश, अपवित्रता, भय, पराभव, पीप आदि से पूर्ण है। फिर जो इस शरीर के राग छोड़ने से मुक्ति का लाभ हो तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इस को त्याग करने में समर्थ न हो?

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानं।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः
स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥
शरीरमपि पुष्णंति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ—प्रथम ही शरीर की उत्पत्ति होती है उस शरीर में इन्द्रियां विषम विषयों को चाहती हैं, वे विषयभोग महानपने की हानि करते हैं, महाक्लेश के कारण हैं, भय के करनेवाले हैं, पाप के उपजानेवाले हैं व निगोदादि कुयोनि के दायक हैं। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण है। मूर्ख लोग कैसा न करने योग्य काम करते हैं, शरीर को पोषते हैं, विषयभोगों को सेवते हैं, उन को विवेक नही, वे विष पीकर जीना चाहते हैं।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रांते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

भावार्थ—इस शरीर की उत्पत्ति तो माता है, मरण इसका पिता है, मानसिक शारीरिक दुःख इस के भाई हैं, अंत में जरा इस का मित्र है तौभी इस शरीर में तेरी आशा है यह बड़ा आश्चर्य है।

शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्तोप्यात्मन्
त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र किंवा
न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

भावार्थ—हे चिदानंद ! तू तो शुद्ध है, सर्व पदार्थों का ज्ञाता है, अमर्तीक है तौभी इस जड शरीरने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्तीक है, सदा अपवित्र चेतनारहित है, यह तो केशर कर्पूरादि सुगध वस्तुओंको भी दूषित करदेता है। इस शरीरको धिक्कार हो,धिक्कार हो।

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥

भावार्थ—हाय हाय ! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया गया, नष्ट भया, तू शरीर के ममत्व कर के अति दुःखी भया। अब तू विचार, यह शरीर अशुचि है, ऐसा जानना यही सच्चा ज्ञान है तथा इस का ममत्व तजना ही साहस का काम है।

श्री अमितिगति तत्वभावना में कहते हैं—

संयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते ॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम्॥१७॥

भावार्थ—जरा व मरण रुपी व्याघ्र समूह से भरे हुए इस संसार-वन में महान पाप को उत्पन्न करने वाले इस शरीरके संयोग से ऐसा कौन सा दुःख है,जो तूने प्राप्त नही किया है ? अब तू अपने मनको निश्चलकर ऐसा काम कर जिससे तुझे स्वप्न में भी इस दुष्ट शरीर का फिर सग न हो।

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः ।
साध्यंते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः ॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते ।
लाभः केन न मन्यते वत तदा लोकस्थितिं जानता॥१८॥

भावार्थ—यह शरीर तो दुर्गंधमय अशुचि है। ऐसे शरीर से यदि स्वर्ग व मोक्ष देने वाली सुखकारी सम्पत्तिय प्राप्त हो सके तो क्या हानि है, उसके लिये यत्न करना ही चाहिये। यदि किसी निन्दनीक तुच्छ वस्तु के बदले में सुखदाई रत्न प्राप्त हो सके तो लोक की मर्यादा को जाननेवाले को लाभ क्यों न मानना चाहिये ?

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता ।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ।।
तत्र स्थापयता विनष्टममता विस्तारिणी संपदम् ।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ।।४३।।

भावार्थ—इस शरीर के साथ रहते हुए मूढ आत्माने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किये है उससे दुखो की परम्परा इसने उठाई है। यदि यह इस शरीर से ममता हटा ले तो ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो इसको प्राप्त न हो सके क्या इन्द्र की, क्या चक्रवर्ती की, क्या नारायण की।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ।।
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवंति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता।१२।।

भावार्थ—अनेक प्रकार के उपायों से पालन रहने पर भी जहां इस आत्मा के साथ देह नहीं रह सकता छूट जाता है तब पुत्र, स्त्री, मित्र पुत्री, जमाई, पिता आदि कैसे इसके साथी रह सकते है। ये सब अपने अपने कर्म के वश जाने वाले है ऐसा जानकर बुद्धिमान को सदा आत्मा के हित मे अपनी बुद्धि स्थिर रखनी योग्य है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है--

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेगृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ।।८।।

भावार्थ-इन जीवो का देहरूपी पीजरा सदा ही रोगो से व्याप्त सर्वथा अशुचि का घर व सदा ही पतनशील है।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतम् पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ।।९।।

भावार्थ–इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्होने ही लिया, जिन्होने संसार से विरक्त होकर अपने अपने आत्मकल्याण के लिये ध्यानादि पवित्र कर्मों से उसे क्षीण किया।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।।११।।

भावार्थ--इस जगत मे ससार मे उत्पन्न जो जो दुःख जीवो को सहने पडते है, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पडते है ।

कर्पूरकुङ्कमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ।।१२।।

भावार्थ--कपूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थो को भी यह मनुष्यो का शरीर ससर्गमात्र से मला कर देता है ।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।१३।।

भावार्थ--हे मूढ प्राणी ! इस ससार मे मनुष्यो का देह चर्म के परदे मे ढका हुआ हाडो का पिजरा है तथा बिगडा हुई राध की दुर्गध से परिपूर्ण है । रोगरूपी सर्पो का घर है । काल के मुख मे बैठा हुआ है । ऐसा शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है ?

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है--

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया ।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ।।८-८।।

भावार्थ--यह शरीर दुर्गन्धमय है, विष्ठा, मूत्र, आदि मलों का घर है, अशुभ कर्म के उदय से मज्जा आदि धातुओ से बना है । तथापि मूढ जनो ने अपने स्वार्थ के लिये इच्छानुसार इसकी प्रशसा की है । परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशसा और निन्दा से क्या प्रयोजन ? क्योकि मैं तो निश्चय से शरीर से और कर्म से उत्पन्न हुए रागादि विकारो से रहित शुद्ध चिद्रूप हूँ ।

होऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा ॥१०-२॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥१०-३॥युग्मं॥

भावार्थ—मैं शरीर हूँ, मैं कर्म रूप हूँ, मैं मानव हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं धनवान हूँ इत्यादि मन में विचार करना अहंकार है। मूढ़ मानव इसी अहंकार में चूर रहते हैं।

प० बनारसीदास समयसार नाटक में कहते हैं :—

सवैया २३

देह अचेतन प्रेत दरी रज रेत भरी मल खेत की क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट उपाधिकी जोट समाधिसों न्यारी॥
रे जिय देह करे सुख हानि इते पर तोहि तो लागति प्यारी।
देह तो तोहि तजेगी निदान पै तू ही तजे क्यों न देह की यारी॥७६॥

सवैया ३१

रेत की सी गढ़ी किधों मढ़ी है मसान कीसी,
अन्दर अंधेरी जैसी कन्दरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पट भूषन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की॥
औगुन की ओंड़ी, महा भोंड़ी मोह की कनोंड़ी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी संगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू कैसे बैलकी॥७८॥

ठौर ठौर रक्त के कुण्ड केसनि के झुण्ड,
हाड़निसो भरी जैसे थरी है चुड़ैल की।
थोड़े से धकाके लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी कीधों चादर है चैल की॥
सूचे भ्रम वानिठानि मूढ़निसों पहिचानि,
करै सुख हानि अर खान बद फैल की।

ऐसी देह याही के सनेह याकी संगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू कैसे बैल की ।।७९।।

सवैया ३१

कोउ कूर कहे काया जीव दोऊ एक पिण्ड,
जब देह नसेगी तबही जीव मरेगो।
छाया को सो छल किधो माया को सो परपंच,
काया में समाय फिर काया को न धरेगो ।।
सुधी कहें देह सो अव्यापक सदीव जीव,
समय पाइ परको ममत्व परिहरेगो।
अपने सुभाव आइ धारना धरा में धाई,
आप में मगन होके, आपा शुद्ध करेगो ।।९९।।

पं० द्यानतराय द्यानत विलास मे कहते हैं :—

बालक बाल खियालन खियाल जुवान सियान गुमान भूलाने।
ये घरबार सबै परिवार शरीर सिगार निहार फुलाने।
वृद्ध भये तन रिद्ध गई खिदि सिद्ध व कामन घाट तुलाने।
द्यानत काय अमोलक पाय न मोक्ष द्वार किवाड खुलाने ।।३८।।

पं० भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

लाल वस्त्र पहरे सो देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हस लाल तो न मानिये।
वस्त्र के पुरान भये देह न पुरान होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिये ।।
वस्त्र के नाश कछु देह को न नाश होय,
देह के नाश हुए नाश न बखानिये।
देह दर्व पुद्गल कि चिदानन्द ज्ञानमई,
दोउ भिन्न भिन्न रुप भैया उर आनिये ।।१०।।

सवैया ३१

मांस हाड लोहू सानि पूतरी बनाई काहू,
चामसो लपेट तामें रोम केश लाए हैं।
तामें मल मूत भरि कृम कई कोटि धरे,
रोंग संचै करि करि लोक में ले आए हैं ।।
बोले वह खांउ खांउ बिन दिये गिर जाउं,
आगे को न धरुं पाउं ताही वे लुभाए हैं।

ऐसे मोह भ्रम में अनादि के भ्रमाए जीव,
देखें परतक्ष तऊ चक्षु मानो छाए हैं ॥१४॥
चाम के शरीर माँहि बसत लजाति नाहि,
देखत अशुचि तऊ लीन होय तन में।
नारि बनी काहे की विचार कछू करे नाहि,
रीझ रीझ मोह रहे चाम के बदन में॥
लक्ष्मी के काज महाराज पद छाँडि देत,
डोलत है रक जैसे लोभ की लगन में।
तनकसी आउ मे उपाय कई कोउ करे,
जगत के वासी देख हाँसी आवे मन में ॥७॥
अचेतन की देहरी न कीजे नासो नेहरी,
सु औगुन की गेहरो महान दुःख भरी है।
याही के सनेहरी न आवे कर्म छेहरी,
पावे दुःख तेहरी जिन याकी प्रीति करी है॥
अनादि लगी जेहरी जु देखत ही खेहरी,
तू या मे कहा लेहरी रोगन की दरी है।
काम गज केहरी सुराग द्वेष केहरी,
तू ताम दृष्टि देयरी जो मिथ्यात्व हरी है॥
देख देह खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी
बोए कछू आन उपजत कछू आन है।
पच अमृत रस सती पोखिये शरीर नित,
उपजे रुधिर माँस हाडनिको ठान है॥
एते पर रहे नाहि कीजिए उपाय कोटि,
छिनक में विनाश जाय नाउ न निशान है।
एतो देख मूरख उछाह मन माहि धरे,
ऐसी झूठ बातनिको साँच करि मान है ॥१०१॥

सवैया २३

बालपने तव बालनिके सग, खेलो है ताकी अनेक कथारे।
जोवन आय रमो रमनी रस सोऊ तो बात विदित्त जथारे॥
वृद्ध भयो तन कंपत डोलत, लारे परे मुख होत विथारे।
देख शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नही चेतनहारे ॥५२॥

तूही जु आय वसो जननी उर, तूही रम्यो नित बालक तारे ।
जोबनता जु भई कुनि तोहीको, ताहीके जोर अनेक ते मारे ॥
वृद्ध भयो तूही अग रहै सब, बौलत वैन कहे तु तरारे ।
देखि शरीरके लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नहि चेतनहारे ॥४३॥

सवैया ३१

सात धातु मलिन हैं महा दुर्गंधभरी, तासो तुम प्रीति करी लहत आनंद हो।
नरक निगोदके सहाई जे करन पच, तिनहीकी सीख संचि चलत सु छंद हो॥
आठोंजाम गहे कामरागरसरंग राचि,करत किलोल मानो माते जो गयंद हो।
कछुतो विचारकरो कहा२भूलि फिरो,भलेजु भलेजुभैया भले चिदानंदहो॥४६॥

सवैया २३

रे मन मूढ कहा तुम भूले हो, हंस विसार लगे पर छाया ।
यामें सरुप नही कछु तेरो जु, व्याधिकी खोट बनाई है काया ॥
सम्यक रूप सदा गुन तेरो है, और बनी सब ही भ्रम माया ।
देख तू रुप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनद बताया ॥४७॥
चेतन जीव निहार हु अंतर, ये सब हैं परकी जड काया ।
इन्द्र समान जो मेघ घटा महि, शोभित है पै रहे नहि छाया ।
रैन समै सुपनो जिम देखि तु, प्रात भए सब झूठ बनाया ।
त्यो नदि नाव सजोग मिल्यो सब, चेतो चित्त जु चेतन राया ॥४८॥
देहके नेह लग्यो कहा चेतन, न्यारियको अपनी करि मानी ।
याही सो रीझ अज्ञान में मानिके, याही में आपके तू हो रहो थानी ॥
देखत है परतक्ष विनाशी, तऊ अनचेतन अन्ध अज्ञानी ।
होहु सुखी अपनो बल फोटि के, मानि कह्यो सर्वज्ञकी वानी ॥४६॥
वे दिन क्यों न विचारत चेतन, मातकी कूंख में आय बसे हैं ।
ऊरध पाउं लगे निशिवासर, रंच उसासनुको तरसे हैं ।
आउ संजोग बचे कहुँ जी अरु, लोगनकी तब दिष्टि लसे हैं ।
आज भये तुम जोवनके रस, भूलि गए कितते निकसे हैं ॥३२॥

—:(०):—

तीसरा अध्याय

भोगो का स्वरूप।

जैसे ससार असार है, शरीर अशुचि है, वैसे इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा के बढ़ानेवाले हैं। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नही होसकती है। जैसे जलरहित वनमे मृग प्यासा होता है वहा जल तो है नही परन्तु दूर से उस को चमकती घास में या बालू में जल का भ्रम होजाता है। वह जल समझकर जाता है परन्तु वहा जल को न पाकर अधिक प्यासा होजाता है। फिर दूर से देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रमसे जाता है वहांपर भी जल न पाकर और अधिक प्यासा होजाता है। इस तरह बहुत वार भ्रममें भटकते रहनेपर भी उसको जल नही मिलता। अंत में वह प्यासको बाधा से तड़फ तडफ कर प्राण दे देता है। यही हाल हम संसारी प्राणियोका है, हम सब सुख चाहते हैं, निराकुलता चाहते हैं।

भ्रम यह होरहा है कि इन्द्रियो के भोग करने से सुख मिल जायगा, तृप्ति हो जायगी। इसलिये यही प्राणी कभी स्पर्शनेन्द्रिय के भोग के लिये स्त्री सम्बन्ध करता है,कोमल पदार्थोंको स्पर्श करता है,कभी रसनाइन्द्रिय के भोग के लिये इच्छित पदार्थों को खाता है,कभी घ्राणइन्द्रिय के भोग के लिये अत्तर फुलेल पुष्पादि सूंघता है, कभी चक्षुइन्द्रिय के भोग के लिये रमणीक चेतन व अचेतन पदार्थों को देखता है, कभी कर्णेन्द्रिय के भोग के लिये मनोहर गानादि सुनता है।

इस तरह पांचों इन्द्रियों का भोग बारबार करता है परन्तु तृप्ति नहीं पाता है। जैसे खाज को खुजाने से और खाज का कष्ट बढ़ जाता है वैसे इन्द्रिय भोगो को जितना किया जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिंताका कारण है। यदि किसीको स्त्रीका भोग एक बार हुआ है तो वह बार२ भोगना चाहता है। शक्ति न होनेपर कष्ट पाता है या स्त्री की इच्छा न होनेपर दुःख भोगता है। यदि कोई मिठाई खाई है तो उस से बढ़िया मिठाई खाने की बार-बार इच्छा होती है, यदि नही मिलती है तो बड़ा दुःख मानता है, यदि मिल जाती है तो अधिक इच्छा बढ़ जाती है। यदि किसीने किसी सुगंध को सूंघा है तो उससे बढ़िया सुगंध के सूंघनेकी इच्छा होजाती है, नहीं मिलती है तो बड़ा दुःख पाता हैं, यदि मिल जाती है तो और अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। यदि किसीने किसी तमाशेको देखा है तो इससे बढ़िया तमाशा देखने की इच्छा होजाती हैं। यदि नही मिलता है तो कष्ट पाता है। यदि मिल जाता हैं तो अधिक तृष्णा बढ़ा लेता है। यदि कोई मनोहर गाना सुना हैं तो उस से बढ़िया सुनना चाहता हैं। यदि नही मिलता हैं तो दुःख मानता है, यदि मिल जाता है तो इच्छाको अधिक बढ़ा लेता है। बहुतसे प्राणियों को इच्छानुसार भोग नही मिलते हैं, चाहते वे कुछ हैं मिलते कुछ हैं तब वे बहुत दुःखी होते हैं। किसीके यहां निमन्त्रण था। जानेवालेने यह इच्छा की, वहाँ बढ़िया मिठाइयाँ मिलेंगी, परन्तु वहा ऐसा भोजन था जो वह रोज खाता था उससे भी घटिया था। बश, इच्छानुसार न पाकर वह मन से बहुत क्लेश मानता है। जिनको इच्छानुसार मिल जाता है उनकी तृष्णा बढ़ जाती है। मनुष्यका शरीर तो पुराना पड़ता जाता है। इन्द्रियों की शक्ति घटती जाती हैं परन्तु भोगो की तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती हैं।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगों को असमर्थता के कारण भोग नहीं सकता है तो इसे बड़ा दुःख होता है। वृद्धों से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियो के भोग भोगे इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी नही हैं, मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं तो यही जवाब देंगे कि यद्यपि विषयो के भोग की शक्ति नही है, शरीर निर्बल है, दांत गिर गये हैं, आंखो से दिखता नहीं, कानों से सुनाई नहीं देता, हाथ पगो में बहुत देर खड़े होने की व बहुत देर बैठने की शक्ति

नहीं रही है तथापि पांचों इन्द्रियों के भोग की तृष्णा तो पहले से बहुत बढ़ी हुई है। यह वस्तु का स्वभाव है कि इन्द्रियों के भोगों से तृष्णा बढ़ती ही जाती है, कभी तृप्ति नहीं होती है। यह जीव अविनाशी है, अनादि अनन्त है। चारों गतियों में भ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म कभी एकेन्द्रिय के, कभी द्वेन्द्रिय के, कभी तेन्द्रिय के, कभी चौन्द्रिय के, कभी पंचेन्द्रिय के, पशु के, मानव के, देव के, नारकी के धारण किये हैं। तथा नरक के सिवाय तीन गतियों में यथासम्भव पांचों इन्द्रियों के भोग भी भोगे हैं परन्तु आज तक इस मानव की एक भी इन्द्रिय की तृष्णा शान्त नहीं हुई।

इन इन्द्रियों के भोगों में दूसरे पदार्थों की आवश्यकता होती हैं। यदि वे भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, उनका वियोग हो जाता है तो इस प्राणी को बड़ा भारी कष्ट होता है। कभी प्रिय स्त्री का वियोग हो जाता है तब यह गृहस्थी के सब आराम से छूट जाता है। कभी प्रिय पुत्र का, कभी प्रिय पुत्री का, कभी हितकारिणी माता का, कभी पिता का, कभी प्रेमपात्र मित्र का, कभी आज्ञाकारी सेवक का, कभी आजीविका देने वाले स्वामीका वियोग होजाता है तब बड़ा भारी कष्ट होता हैं। कभी धन की हानि हो जाती हैं तब इन्द्रियों के भोग योग्य मनवांछित पदार्थ संग्रह नहीं कर सकता है,बड़ा ही दुःखी होता है। इन्द्रियों के भोगो को भोगते-भोगते तृष्णा को बढ़ाते हुए कदाचित् अपना मरण आ जाता है तब सर्व भोगो के व चेतन अचेतन पदार्थों के छूट जाने का बडा भारी शोक करता है, रोता है, तड़पता है। इन इन्द्रियों के भोगों में रात दिन मगन रहते हुए यह ऐसा भोग्य पदार्थों में मोही हो जाता है कि इसे धर्म की चर्चा बिल्कुल सुहाती नहीं, सबेरे से ही शरीर की सेवा में लग जाता है। दिन भर धन कमाता है, रात को थककर सो जाना है। तृष्णा की अधिकता से बहुत मनोहर पदार्थों को भोगना चाहता हैं। जब न्याय से धन नहीं आता है तब अन्याय पर कमर कस लेता है। असत्य बोल कर, विश्वासघात कर, चोरी कर, किसी के प्राण तक लेकर धन का संचय करता हैं। उसके भीतर से दया व प्रेम चले जाते हैं, परम प्रेमी मित्र को भी अवसर पाकर ठग लेता है। अधिक धन पाने की लालसा से जूआ खेलने लग जाता हैं। जूए में धन हारता है तब चोरी करने लगता है। कुसंगति में पड़कर मदिरापान मांसाहार की आदत डाल लेता है। स्वस्त्री में सन्तोष न पाकर वेश्याओं में या परस्त्रियों में आसक्त हो जाता है। भोगों की तृष्णा-

वश घोर से घोर पाप कर्म करने लगता है, अनाथ विधवाओं का धन छीन लेता है, झूठा मुकदमा बनाकर धन लेने का उपाय करता है। यदि राज्य विरुद्ध काम करने पर कभी दण्ड पाता है तो कारावास में जाकर अपनी सब प्रतिष्ठा गंमा देता है। सर्व संसार के दुःखो का मूल भोगो की तृष्णा है—घोर पापों से मर कर कुगति में जन्म पाता है, मनुष्य से एकेन्द्रिय हो जाता है।

यदि विचार कर देखा जावे तो संसार के सर्व ही मिथ्यादृष्टी प्राणी इन्द्रियो के भोगों की लोलुपता से रात दिन आकुल व्याकुल व प्रयत्नशील बने रहते हैं। पिपीलिकाएँ इसी तृष्णावश बहुत सा दाना एकत्र करती हैं, मक्खियाँ मधु को एकत्र करती हैं, पतगे चक्षु इन्द्रिय के रागवश दीपक की लौ में जलकर प्राण गमाते हैं, भ्रमर नाशिका इन्द्रिय के वश हो कमल के भीतर दबकर मर जाते हैं, मछलिये रसना इन्द्रिय के वश हो जाल में फँसकर तडप-तडप कर प्राण गमाती हैं, हस्ती स्पर्श इन्द्रिय के वश हो पकड लिये जाते हैं। मृग कर्ण इन्द्रिय के वश हो जाल में घिर कर पराधीन हो जाते हैं। इन इन्द्रियो की तृष्णा के वशीभूत होकर यह प्राणी बिलकुल अन्धा हो जाता है। अनन्त जन्म बीत गये हैं, इसने इसी अन्ध भाव मे जन्म गँमाया और अब गमा रहा है।

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, माना हुआ है। जो जिसमें सुख मान लेता है उसी मे उसको सुख भासता है। यह बिलकुल पराधीन है। बिना दूसरे पदार्थों के सयोग के इन्द्रिय सुख नही होता। उनका समागम होने के लिये बहुत सा उद्यम करके कष्ट सहन पडता है तो भी यदि पुण्य कर्म की अन्तरङ्ग मदद न हो तो उद्यम करने हुए इच्छित पदार्थ का लाभ नही होता है। जगत मे बहुत कम ऐसे पुण्यात्मा हैं जिनको चाहे हुए पदार्थ मिले। बहुधा इसी दुःखसे पीड़ित रहते है कि चाहते तो थे कि स्त्री आज्ञाकारिणी होगी परन्तु वह ऐसी नही निकली, चाहते तो थे कि पुत्र सुपुत्र आज्ञाकारी होगे परन्तु ये तो कुपुत्र निकल गए, चाहते तो थे कि यहाँ आने से दुःख घटेगा उल्टा दुःख बढ गया है। चाहते तो थे कि मुनीम सच्चा मिलेगा परन्तु यह तो स्वार्थी व हानिकारक निकल गया। यदि इच्छानुसार पदार्थ मिल भी जाते हैं तो सदा बने नही रहते, उनका वियोग हो जाता है तब फिर बडा कष्ट होता है। पाचो इन्द्रियों के भोगो की तृष्णा इतनी सताती है कि इच्छा होती है कि इन सबका सुख एक साथ

भोगूँ। परन्तु ऐसा कर नहीं सकता। एक इन्द्रियसे ही एक कालमें विषय भोग सकता है। तब यह एक को छोड़ दूसरे में, दूसरे को छोड़ तीसरे में इस तरह आकुलता से भोगताफिरता है परन्तु तृप्ति किसी भी तरह पाता नहीं। इन्द्रिय सुख की मग्नता से बहुधा प्राणी शक्ति से या मर्यादा से अधिक भोगकर लेते हैं तब शरीर बिगड़ जाता है, रोग पैदा हो जाता है। रोगी होने पर सब विषय भोग छूट जाते हैं। इन भोगो से वे चक्रवर्ती सम्राट् भी तृप्ति नही पाते जिनको अधिक पुण्यात्मा होने के कारण पाँचों इन्द्रियों के भोग की सामग्री मनवांछित प्राप्त हो जाती है। बड़े-बड़े देव बड़े पुण्यात्मा होते हैं, इच्छित भोग प्राप्त करते हैं व दीर्घ काल तक भोग करते हैं तो भी तृप्ति नही पाते हैं, मरण समय उनके छूटने का घोर क्लेश भोगते हैं।

इन्द्रियों के भोग जब अतृप्तिकारी हैं, तृष्णावर्धक हैं, व अथिर नाशवन्त हैं तब यह प्राणी क्यो उनकी इच्छा नही छोड़ता है? इसका कारण यही है कि इसके पास दूसरा उपाय नही है जिससे यह इच्छा को तृप्त कर सके। यदि इसको सच्चा सुख मालूम होता व सच्चे सुख का पता मालूम होता तो यह अवश्य झूठे इन्द्रिय सुख की तृष्णा छोड़ देता। मिथ्यादर्शन के कारण इसकी अहं बुद्धि अपने इस नाशवन्त शरीर में ही हो रही है। इसको अपने आत्मा का पता नहीं है न इसको अपने आत्मा के स्वरूप का विश्वास है। सच्चा सुख आत्मा में है। जिसको अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह सच्चे सुख को पहचान लेता है। सच्चा सुख क्या है वह आगे बताया जायगा।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब इन्द्रियों से भोग करने से झूठा सुख होता है जो अधिक तृष्णारूपी रोग को बढ़ाता है तो फिर इन इन्द्रियों से क्या काम लेना चाहिये। ज्ञानी को यह विश्वास पक्का कर लेना चाहिये कि इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, यह सुखाभास है, सुख सा झलकता है, अतएव सुख की प्राप्ति के लिये इन इन्द्रियों का भोग करना अज्ञान है, तब फिर इन्द्रियोसे काम किसलिये लेना चाहिये? शरीर धर्मका साधन है, शरीर की रक्षा के लिये व शरीर की रक्षार्थ न्याय पूर्वक धन पुरुषार्थ के लिये तथा धर्म के साधनों को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों से काम लेना चाहिये।

स्पर्शनेन्द्रिय से पदार्थों को स्पर्श कर उनके गुण दोष मालूम करने

चाहिये कि यह पदार्थ ठण्डा है या गर्म है, चिकना है या रुखा है, कोमल है या कठोर है, हलका है या भारी है। गृहस्थी को सन्तान की आवश्यकता होती है। इसलिये स्वस्त्री में इसका उपयोग सन्तान के लाभ के लिये लेना योग्य है, कभी शरीर में उष्णता बढ़ जाती हैं तब उसकी शान्ति के लिये भी स्वस्त्रीमें उसका उपयोग किया जासकता है। विषयभोग के हेतुसे यदि स्पर्शनेन्द्रियका भोग होगा तो तृष्णा बढ जायगी। स्वस्त्रीमें भी मर्यादा से अधिक प्रवर्तेगा तो आप भी रोगी व निर्बल होगा व स्त्री भी रोगी तथा निर्बल होगी तथा तृष्णाकी अधिकतासे स्वस्त्रीको रमने योग्य न पाकर पर स्त्री व वेश्यामें रमण करने लग जायगा। रसनाइन्द्रिय से उन्ही पदार्थोंको खाना पीना योग्य है जिनसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक बना रहे, शरीर सबल रहकर कर्तव्य कर्म को पालन कर सके। यदि शरीर रक्षार्थ उपयोग होगा तब तो इस इन्द्रिय का सदुपयोग है। यदि भोगार्थ उपयोग होगा तो यह प्राणी लोलूप हो जायगा। शरीर को हानिकारक पदार्थ भी खाने पीने लग जायगा, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक छोड बैठेगा। जिसका कुफल यह होगा कि रस के स्वाद की गृद्धता बढ जायेगी तथा रोगों मे गृसित हो जायगा। रसना इन्द्रिय वाले के ही वचन बोलने की शक्ति होती है। उन वचनों का सदुपयोग आत्म कल्याण व परोपकार मे व आवश्यक शरीर रक्षा व उसके साधनो के लिये करना योग्य है। वचनो का दुरुपयोग असत्य, गाली, असभ्य विकथाओं के कहने से होता है। यदि इनकी आदत हो जाती है तो इनाही कुत्सित बातो के कहने की तृष्णा बढ़ जाती है। घ्राण इन्द्रिय का उपयोग शरीर रक्षार्थ सुगन्ध व दुर्गंध को पहचानना है। हवा, पानी, भोजन, स्थान स्वास्थ्य को लाभकारी हैं या अलाभकारी हैं ऐसा जानना है। चक्षु इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके साधनो के लिये पदार्थों को देखना है। धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये शास्त्रो को व उत्तमोत्तम पुस्तकों को पढना है अथवा ज्ञान की वृद्धि हेतु उपयोगी स्थानो व पदार्थों को देखना है। कर्ण इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके रक्षार्थ साधनों के मिलाने के लिये वार्तालाप सुनना है तथा धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये उत्तम उपदेश को सुनना है।

इस तरह ये पाँचों इन्द्रियाँ बडी ही उपयोगी हैं, इनसे योग्य काम लिया जावे। विषयभोग की तृष्णावश उनका उपयोग न करके आवश्युक कामो के लिये इनका उपयोग करना योग्य है तब ये मानव की उन्नति में सहायक हो जाती हैं। यदि भोगों की तृष्णावश इनका उपयोग होना है तो यह तृष्णा को बढ़ाकर क्लेश को बढ़ाकर रोग को पैदा कर प्राणी को

इस लोक में भी आकुलित कर देती हैं व परलोक में भी इनकी तृष्णा से बहुत कटुक फल भोगना पड़ता है। ज्ञानी बुद्धिमान वही है जो इन इन्द्रियों का सच्चा उपयोग करके इस जीवन में भी लौकिक व पारलौकिक उन्नति करता है व भविष्य में भी मिष्ठ फल भोगता है।

इन्द्रियों के भोग रोग के समान हैं, असार हैं। जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो वहीं भी गूदा या सार नहीं मिलेगा वैसे इन्द्रियों के भोगों से कभी भी कोई सार फल नहीं निकलता है। इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, हिंसात्मक भाव हो जाते हैं, धर्मभाव से च्युति हो जाती है, अतएव पापकर्म का भी बन्ध होता है।

पाप के उदय का यह फल होता है कि चक्रवर्ती सातवे नर्क चला जाता है। एक धनिक मरकर सर्प हो जाता है, श्वान हो जाता है, एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है,ऐसी नीच गतिमें पहुँच जाता है कि फिर उन्नति करके मानव होना बहुत ही कठिन हो जाता है। इसलिये इन्द्रियों के सुख को सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, भूल है, अज्ञान है, धोखा है। बुद्धिमान को उचित है कि इन्द्रिय सुखों की श्रद्धा को छोड़े, इनकी लोलुपता छोड़े, इनमें अन्धपना छोड़े, इन ही के जो दास हो जाते हैं वे अपनी सच्ची उन्नति नहीं कर सकते हैं। वे इन्द्रियों की इच्छानुसार वर्तते हुए कुमार्गगामी हो जाते हैं। हितकारी व उचित विषयभोग करना, (अहितकारी व अनुचित विषयभोग न करना) इस बात का विवेक भाव तन के भीतर से निकल जाता है।

वे इन्द्रियों के दासत्व में ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थ के पुरुषार्थों के साधन में कायर, असमर्थ व दीन होजाते हैं। चाह की दाह में जलते रहकर शरीर को रोगाक्रान्त, रुधिरक्षय, दुर्बल बनाकर शीघ्र ही इस को त्याग कर चले जाते हैं। जिस मानव जन्म से आत्मकल्याण करना या परोपकार करना था उसको उसी तरह वृथा गमा देते हैं जैसे कोई अमृत के घड़े को पीने के काम में न लेकर पग धोने में बहादे, अगर चंदन के वन को ईन्धन समझ कर जला डाले, आम के वृक्षों को उखाड़ कर बबूल बो देवे, हाथ का रत्न काक के उड़ाने के लिये फेंक देवे, हाथी पाकर भी उस पर लकड़ी ढोवे, राजपुत्र होकर के भी एक मदिरा वाले की दूकान में सेवकाई करे।

हर एक मानव को उचित है कि वह अपनी पाँच इंद्रियों को और मन को अपने आधीन उसी तरह रखे जैसे मालिक घोड़ो को अपने आधीन रखता है। वह जहाँ चाहे वहाँ उनको लेजाता है। उनकी लगाम उसके हाथ में रहती है। यदि वह घोडों के आधीन हो जावे तो वह घोडों से अपना काम नही ले सकता। किन्तु उस को घोड़ो की मर्जी के अनुसार बर्त कर उन के साथ घास के खेतों में ही कूदना व चरना पड़ेगा। जो इन्द्रियों को और मन को अपने आधीन रख सकते हैं, वे इनकी सहायता से चमत्कार युक्त उन्नति कर सकते हैं। जो इन के दास हो जाते हैं, वे भव भव में दु.खों को पाते हैं। अतएव इन्द्रिय भोगों को असार जान कर सच्चे सुख का प्रेमी होना योग्य है।

इन भोगो के सम्बन्ध मे जैनाचार्य क्या कहते हैं सो नीचे लिखे वाक्यो से जानना योग्य है।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं—

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

भावार्थ—बडे बडे महल, सवारी, पालकी, शय्या, आसन जो इन्द्र व चक्रवर्तियो के होते हैं। तथा माता, पिता, चाचा, सज्जन, सेवक आदि के सब सबध अथिर है।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोवणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

भावार्थ—सर्वइन्द्रियो का रूप, आरोग्य, युवानी, बल, तेज, सौभाग्य, सुन्दरता ये सब इन्द्र धनुष के समान चंचल हैं।

जीवाणबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्धं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥

भावार्थ—जिस शरीर के साथ जोव का संबंध दूध जल के समान है वही जब शीघ्र नाश हो जाता है, तब भोग व उपभोग के साधन जो चेतन व अचेतन द्रव्य हैं वे थिर कैसे हो सकते हैं?

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ इंदिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा, धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियों की पीड़ा से घबडाए हुए—उस इन्द्रिय भोग की चाह रूपी दुःख को सहन करने को असमर्थ होकर भ्रम से रमणीक इन्द्रियो के पदार्थोंको भोगते हैं परन्तु तृप्ति नहीं पाते हैं।

जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

भावार्थ—जिन प्राणियो की इन्द्रियो के भोगो में रति है उन को स्वभाव से ही दुःख जानो क्योकि यदि स्वभाव से पीड़ा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इन्द्रियो के भोगो में नही प्रवर्ते। तृष्णा की बाधा से भ्रम में भूल कर मेरी तृष्णा मिट जायगी, ऐसा समझ कर विषयों में प्रवर्तता है परन्तु तृष्णा तो मिटती नही।

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७५॥

भावार्थ—देवों को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मीक सुख का लाभ नही होता इसीलिये सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीड़ा से घबड़ाए हुए कि हमारी बाधा मिट जायगी, रमणीक विषय में रमते है परन्तु तृष्णा को शमन नही कर सकते।

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७६॥

भावार्थ—ससारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर तृष्णा की दाह से दुःखी होते हुए इन्द्रियो के भोगो के सुख को बार बार चाहते हैं और भोगते है। मरण पर्यन्त ऐसा करते रहते हैं, तथापि दुःख से सतापित ही रहते हैं। इन्द्रियो के भोग से चाह की दाह मिटती नही, यहाँ तक कि मरण हो जाता है। जैसे जोंक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, संतोष नहीं पाती है, यहाँ तक कि उस का मरण हो जाता है।

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥८०॥

भावार्थ---जो पांचों इन्द्रियों के भोगों से सुख होता है वह सुख नहीं है किंतु दु.ख ही है क्योंकि एक तो वह पराधीन है, अपनी इन्द्रियों में भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिले तब कही होता है, स्वाधीन नहीं है। दूसरे क्षुधा, तृषा आदि रोगादि की बाधा सहित है बीच में विघ्न आ जाता है। तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते हैं या आप जल बुद्बुद के समान शरीर छोड़ देता है। चौथे कर्म बन्ध के कारण हैं क्योंकि राग भाव बिना इन्द्रियों के भोग नही होते। जहाँ राग है वहाँ बन्ध है, पाँचवें विषम हैं—चंचल हैं, एकसा सुख नहीं होता है तथा समताभाव को बिगाड़ने वाले हैं।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते हैं---

ताव ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

भावार्थ—जब तक यह आत्मा इन्द्रियो के विषय भोगो में आसक्त होकर प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा का ज्ञान नही हो सकता। जो योगी इन विषयभोगों से विरक्त है वही आत्मा को यथार्थ पहचान सकता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा।
हिंडंति चाउरंगं विसयेसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

भावार्थ—कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभवपूर्वक आत्मा को नही जान कर भी अपने स्वभाव की भावना से भ्रष्ट होते हुए, मूढबुद्धि रखते हुए, इन्द्रियों के विषय भोगो में मोहित होते हुए चारो गतियों में भ्रमण किया करते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण सन्देहो ॥६८॥

भावार्थ—परन्तु जो कोई इन्द्रियों के असार भोगो से विरक्त होकर आत्मा को जान कर उसकी भावना तप व मुनियों के मूलगुणादि के साथ करते हैं वे अवश्य चार गति रूपी संसार को छेद डालते हैं इसमें सन्देह नहीं।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य शीलपाहुड में कहते हैं—

वारि एक्कम्मि यजम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ।।२२।।

भावार्थ—यदि कोई प्राणी विष खाले तो उसकी वेदना से वह एक ही जन्म में कष्ट से मरेगा । परन्तु जिन प्राणियों ने इन्द्रियों के भोगरूपी विष को खाया है वे इस ससार वन में वारवार भ्रमते फिरते हैं, बारबार मरते हैं ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहन्ति विसयासता जीवा ।।२३।।

भावार्थ—जो जीव विषयभोगो में आसक्त हैं वे नरक में घोर वेदनाओं को, पशु व मानव गति मे दु:खो को व देव गति में दुर्भाग्य को प्राप्त करते हैं ।

आवेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरागेहिं ।
तं छिदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ।।२७।।

भावार्थ—इस आत्माने जो कर्मोंकी गाँठ इन्द्रियभोगो में राग करने से बाँधी है, उसको कृतार्थ पुरुष तप, सयम, शीलादि गुणों से स्वयं छेद डालते हैं ।

(५) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ।।३२।।

भावार्थ—इद्रिय सम्बधी कामभोग बड़ी कठिनता से व परिश्रम से मिलते हैं । उनके छूटने का भय रहता है, बहुत थोड़े काल टिकने वाले हैं, असार हैं तथा कर्मबन्ध कारक दु:खरूपी फलको देनेवाले हैं । अतएव सेवन किये जाने पर भी अशुभ हैं, हानिकारक हैं ।

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं ।
मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ।।४२।।

भावार्थ—जबतक मनको रोका न जावे, तबतक इन्द्रियों को रोकना

अति कठिन है। जैसे मंत्र व औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जातिके सर्प वश नहीं किये जा सकते।

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु ॥४३॥

भावार्थ—इन इन्द्रियों को धिक्कार हो जिनके वश में पड़ के प्राणी पापोको बाधकर उनके फलसे चारो गतियो में अनन्त दु.ख को पाते हैं।

(६) वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार में कहते हैं—

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥९६॥

भावार्थ—यह प्राणी सदा काल अनन्तबार गृह, पशु, वस्त्रादि के निमित्त व जीने के निमित्त व जिह्वाइन्द्रिय और कामभोग के निमित्त आप मरता है व दूसरो को मारता है।

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं ॥९७॥

भावार्थ—इस रसना और स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त इस जीव ने अनादि काल से इस ससार मे अनत वार दु.ख पाया है इसलिये इस जीभ और उपस्थ इन्द्रिय को अब तो वश में रखना योग्य है।

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९॥

भावार्थ—काठ के बने हुए स्त्री के रूप को देखने से भी सदा भय रखना चाहिये। क्योकि निमित्त कारण से इस जीव का मन विकारी हो जाता है।

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥१००॥

भावार्थ—पुरुष घी से भरे हुए घट के समान है, स्त्री जलती हुई आग के समान है। इस कारण बहुत से पुरुष स्त्री के संयोग से नष्ट हो चुके। जो बचे रहे वे ही मोक्ष पहुँचे हैं।

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥१०१॥

भावार्थ—स्त्री के रूप को देखने से बिना किसी अपेक्षा के सदा ही भयभीत रहना चाहिये। चाहे वह माता का रूप हो, चाहे बहन का हो, चाहे वह कन्या का हो, चाहे गूँगी का हो व चाहे वृद्ध स्त्री का हो।

(७) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपस्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥१३

भावार्थ—यह इन्द्रियभोग का सुख बिजली के चमत्कार के समान चंचल है। यह मात्र तृष्णारूपी रोग के बढ़ाने का ही कारण है। तृष्णा की वृद्धि निरन्तर ताप पैदा करती हैं, वह ताप सदा प्राणी को दुःखी रखता है। हे सभवनाथ स्वामी ! आपने ऐसा उपदेश दिया है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥३१

भावार्थ—जीवो का सच्चा स्वार्थ अपने स्वरूप में ठहरना है, क्षण भंगुर भोगों को भोगना नहीं है। इन भोगो के भोगने से तृष्णा बढ़ जाती है। दुःख की ज्वाला शान्त नहीं होती। हे सुपार्श्वनाथ ! आपने ऐसा उपदेश दिया है।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
नित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ—तृष्णा की ज्वालाएँ जलती रहती हैं। इन्द्रियों की इच्छानुसार इष्ट पदार्थोंके भोगनेपर भी इनकी शांति नहीं होती है। उल्टी तृष्णा की ज्वालाएँ बढ़ जाती हैं। उस समय यह इन्द्रिय भोग स्वभाव से शरीरके तापको हरता है परन्तु फिर अधिक बढ़ा देता है, ऐसा जानकर हे आत्मज्ञानी कुन्थुनाथ ! आप विषयों के सुख से वैराग्यवान हो गए।

(८) स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ।।१२।।

भावार्थ—यह इन्द्रिय सुख पुण्य कर्म के अधीन है, अन्त होने वाला है। दुःखो के साथ इसका लाभ होता है व पाप बाँधने का कारण है, ऐसे सुख में अनित्य रूप श्रद्धान रखना निष्कांक्षित अंग कहा गया है।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं—

भोगोपभोगसुक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ।
एदेसु भोगणासे जादं दुक्खं पडिविसिट्ठं ।।१२४६।।

भावार्थ—भोग उपभोग करने से जो जो सुख होता है जब उन भोग उपभोग का नाश होता है तब जो जो दुःख होता है वह सुख की अपेक्षा बहुत अधिक होता है—भोग के संयोग होने पर जो सुख मालूम हुआ था, भोग के वियोग होने पर बहुत अधिक दुःख होता है।

देहे छुधादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज किह सुक्खं ।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सुक्खं खु ।।१२५०।।

भावार्थ—यह देह क्षुधा आदि से पीडित रहती है व विनाशीक है, इसमें रहते हुए जीवों को सुख कैसे हो सकता है। जो इन्द्रियो का सुख है वह दुःख का क्षणिक उपाय है पीछे अधिक तृष्णा की बाधा बढ़ जाती है। ये सुख सुखाभास हैं, मोही जीवो को सुख से दीखते हैं, पीड़ा मालूम हुए बिना कोई इन्द्रिय सुख में नही पडता है।

जह कोढिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ।।१२५१।।

भावार्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष आग से तापता हुआ भी शांति को नही पाता है वैसे ससारी जीव भोगो को भोगते हुए भी क्षणभर भी शांति को नही पाता है। जितना २ वह तापता है उतनी २ तापने की इच्छा बढती जाती है वैसे जितना जितना इन्द्रिय भोग किया जाता है वैसे २ भोग की बाधा बढ़ती जाती है।

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंतं भोगेसु अप्पं पि ।।१२५५।।

भावार्थ—जैसे बहुत अच्छी तरह ढ़ूँढ़नेपर भी केलेके खम्भे में कहीं भी सार या गूदा नही निकलेगा वैसे भोगों को भोगते हुए भी अल्प भी सुख नही है ।

ण लहदि जह लेहंतो, सुखल्लयमट्टियं रसं सुणहो ।
सो सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं ।।१२५६।।
महिलादिभोगसेवी ण लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ।।१२५७।।

भावार्थ—जैसे कुत्ता सूखे हाड़ों को चावता हुआ रसको नहीं पाता है, हाड़ो की नोक से उसका तालवा कट जाता है जिस से रुधिर निकलता है, उस खून को पीता उसे हाड़ से निकला मान सुख मान लेता है वैसे स्त्री आदि के भोगों को करता हुआ कामी पुरुष कुछ भी सुख को नहीं पाता है। काम की पीड़ा से दीन हुआ अपनी काय के परिश्रमको ही सुख मान लेता है।

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अहिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हे तत्तस्स होज्ज छाया सुहं अप्पं ।।१२५८।।

भावार्थ—जैसे अति गर्मी के समय में बहुत वेग से दौडते हुए पुरुष को किसी वृक्षकी छाया में ठहरने से अल्पकाल सुख होता है वैसे ही तृष्णा से अति दुःखी प्राणी को भोगों का अति अल्प क्षणिक सुख होता है।

दीसइ जलं व मयतण्हिया वु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसिस्यस।।१२६०।।

भावार्थ—जैसे वन में तृषा से पीड़ित वन के मृग को मृगतृष्णा नाम की प्यास जल सी दीखती है, वह जल जान कर दौड़ता है, वहां जल नहीं, इस तरह कई तरफ भागते हुए भी जल नहीं पाता, वैसे तीव्र राग की तृष्णा से पीड़ित पुरुष के भोगों में सुख दीखता है परन्तु सुख नहीं है।

जहजह भुंजई भोगे तहतह भोगेसु बढ्ढदे तण्हा ।
अग्गी व इंधणाइं, तण्हं दीवंति से भोगा ।। १२६३ ।।

भावार्थ—संसारी जीव जैसे जैसे भोगों को भोगता है वैसे वैसे भोगों में तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे आग में लकड़ी डालने से आग बढ़ती है वैसे भोग तृष्णा को बढ़ाते हैं।

जीवस्स णत्थि तित्तीए चिरं पि भोगहिं भुंजमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होई ।।१२६४।।

भावार्थ—चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी इस जीव को तृप्ति नही होतीहै । तृप्तिबिना चित्त घबड़ायाहुआ उड़ा-उड़ा फिरता है ।

जह इंधणेहि अग्गी, जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवा ण हु सक्का, तिप्पेदुं कामभोगेहिं ।।१२६५।।

भावार्थ—जैसे ईंधन से आग तृप्त नही होती है व जैसे समुद्र हजारों नदियों से तृप्त नहीं होता है जैसे जीव काम भोगों से कभी तृप्त नहीं हो सकते ।

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किहअण्णो।।१२६६।।

भावार्थ—इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमिया जब भोगों से तृप्त ही नहीं होसवते हैं तो और कौन भोगो को भोगकर तृप्ति पा सकेगा ।

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण ।।१२७०।।

भावाथ—अध्यात्म में रति स्वाधीन है, भोगो में रति पराधीन है, भोगों से तो छूटना ही पड़ता है, अध्यात्म रति मे स्थिर रह सकता है । भोगों के भोग में अनेक विघ्न आते हैं, आत्मरति विघ्नरहित है ।

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्धो वा।।१२७१।।

भावार्थ—भोगों का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नो से भरा हुआ है, परन्तु भले प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है ।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुक्खं ण वा करिज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ।।१२७४।।

भावार्थ—वैरी है सो एक ही देह में दुःख करता है परन्तु ये भोग इस जीव को करोड़ों जन्मों में दुःखी करते हैं ।

णच्चा दुरन्तमध्रुवमत्ताणमतप्पयं अविस्सामं ।
भोगसुहं तो तह्मा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ।।१२८३।।

भावार्थ—इन इन्द्रियों के भोगों को दु:ख रूपी फल देनेवाले, अथिर, अशरण तथा अतृप्ति के कर्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियों को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चहिये।

(१०) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दु:खं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ।।६।।

भावार्थ—ससारी प्राणियोंको इन्द्रियोके द्वारा होनेवाला सुखदु:ख आदि कालकी वासनासे भासता है। भ्रमसे इन्द्रिय सुख,सुख दीखता है। ये ही इन्द्रियों को भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग जब कभी सकट आखड़े हो जाते हैं, तो स्त्री,पुत्रादि का संग भी बुरा मालूम पड़ता है। शोक के समय इष्ट भोग भी सुहाते नही।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ।।१७।।

भावार्थ---ये इन्द्रियोके भोग प्रारम्भ में बहुत संताप देने वाले हैं। उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जब ये भोग मिल जाते हैं तब भोगते हुए तृप्ति नही होती है, तृष्णा बढ़ जाती है, उनसे वियोग होते हुए बड़ा भारी दु:ख होता है। ऐसे भोगों को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा? कोई नही। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ त्यागने योग्य समझकर संतोष से न्यायपूर्वक भोगते हुए भी उदास रहते हैं।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ।।३०।।

भावार्थ---ज्ञानी विचारता है कि मैंने जग के सर्व ही पुद्गलों को बार बार मोह के वशीभूत हो भोगा है और त्यागा है। अब मैं समझ गया हूँ। मैं अब झूठन के समान भोगों में क्यों इच्छा करूँ?

(११) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

भ्रस्तश्च्युतोन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं ।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥१६॥

भावार्थ----ज्ञानी विचारता है कि मैं अपने आत्मा से छूटकर पाँचों इन्द्रियो के द्वारा विषयो में बार बार गिरा हूँ। उन में लिप्त होने से मैंने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नही पहचाना, अब इनका मोह छोड़ना ही उचित है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञान भावनात् ॥५५॥

भावार्थ----इन इन्द्रियों के भोगो में लिप्त हो जाने से कोई भी ऐसी बात नही हो सकती जिससे आत्मा का कल्याण हो। तो भी अज्ञानी अज्ञान भाव से उन्ही में रम जाया करता है।

(१२) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं---

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्रातपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतना श्री वैजयन्तीं हरेत् ॥५०॥

भावार्थ—हे मूढ ! इस ससार मे विषयी जीवो ने कौतूहल करके भोगकर जिन पदार्थों को छोडा है, उन की तू फिर अभिलाषा करता है। ऐसा रागी भया है मानो ये भोग पहिले कभी पाए ही न थे। इनको तो तूने अनन्त बार भोगा है और अनन्त जीवो ने भी अनन्त बार भोगा हैं। तिनकी तुझे ग्लानि नही आती है ? ये तो झूठन के समान हैं, इन से तुझे कभी शाति नही मिल सकती है। तुझे तब ही शाति मिलेगी जब तू इस प्रबल बैरी की ध्वजा के समान आशा को छोडेगा। विषयो की आशा कभी मिटती नही, यही बडी दु:खदायिनी है।

भंक्त्वाभाविभवाश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मधा ।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमिति तस्यैव धिक्कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

भावार्थ—काले नाग के समान प्राणों के हर्ता ये भोग हैं। इन के भोगने की अति अभिलाषा करके तू ने कुगति का बंध किया। परलोक का भय न किया, जीवों पर दया न करी, वृथा अपने सब सुख घाते। धिक्कार हो तेरी इस बुद्धि को। जिन पदार्थों की साधुओं ने निन्दा की है, उन ही का तू प्रेमी भया है, इन ही के कारण तू काम, क्रोध महा भयंकर पिशाचों के वश में हो कर क्या क्या हिंसादि पापरूपी अनर्थ न करेगा ?

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयास कुल-
स्तोयोपांतदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ।।५५।।

भावार्थ—गर्मी की ऋतु में तीव्र सूर्य की किरणों के समान आताप देने वाले इन पाँचों इन्द्रियो से संतापित होकर इस मनुष्य ने अपनी तृष्णा बढ़ाली है। जब इस विवेकहीनको मनवांछित विषयभोग न मिले,तब यह अनेक पापरूप उपायो को करता हुआ उसी तरह घबड़ाता है, जैसे नदी के तट कीचड़ में फँसा दुर्बल बूढ़ा बैल महा कष्ट भोगता है।

लब्धेन्धनोज्वलत्याग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः ।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ।।५६।।

भावार्थ—अग्नि तो ईंधन के पाने पर जलती है परन्तु ईधन के न पाने पर बुझ जाती है। परन्तु इन्द्रियो के भोगो की मोह रूपी अग्नि बड़ी भयानक है जो दोनो तरह जलती रहती है। यदि भोग्य पदार्थ मिलते हैं तौ भी जलती रहती है, यदि नही मिलते हैं तो भी जलती रहती है। इसकी शांति होना बड़ा दुर्लभ है।

दृष्ट्वाजनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ।।१९१।।

भावार्थ—हे मूढ़ ! तू लोगों को देखकर उनकी देखा देखी क्यों विषय

भोगों की इच्छा करता है। यह विषय भोग थोड़े से भी सेवन किये जावे तो भी महान अनर्थ को पैदा करते हैं। जैसे रोगी मनुष्य थोड़ा भी घी दूध आदि का सेवन करे तो उसको वे दोष उत्पन्न करते हैं, वैसा दोष दूसरे को नहीं उत्पन्न करते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषों को विषयाभिलाषा करना उचित नहीं है।

(१३) श्री अमितगति आचार्य तत्व भावना में कहते हैं—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥३६॥

भावार्थ—जो कोई दुःख रूपी फल को देने वाले इस बाहरी इन्द्रिय विषयों के सुख को छोड़ देता है वही स्थिर, पवित्र, अनुपम आत्मीय सुख को पाता है। जो कोई दूसरों के शब्द कानों में न पड़ें इसलिये अपने दोनों कानों को ढकता है, उसी के कान में एक गुप्त शब्द निरन्तर होता रहता है।

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धि लभंते ध्रुवम्॥५४॥

भावार्थ—जो कोई कठिनता से वश करने योग्य इस मन रूपी बन्दर को जो इन्द्रियों के भयानक बन में लोभी होकर चिरकाल से चर रहा था, हृदय में स्थिर करके बाँध देते हैं और भोगों की बांछा छोड़कर परिश्रम के साथ ध्यान करते हैं वे ही मुक्ति को पा सकते हैं। बिना उपाय के निश्चय से सिद्धि नहीं होती है।

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं॥६५॥

भावार्थ—इस संसार वन में, जो पाप रूपी वृक्षों से पूर्ण है व दुःखों से अति भयानक है, जिन कषायों से और इन्द्रियों के भोगों से तू अज्ञान से बार-बार दुःखित किया गया है, उनको अब तू पवित्र ज्ञान को प्राप्त करके जड़मूल से बिलकुल नाश कर डाल। विद्वान लोग समय पाकर शत्रुओं को बिना मारे नहीं छोड़ते हैं।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम्॥७३॥

भावार्थ—मरण जब आता है तब उससे भय करने पर भी वह छोड़ता नहीं। इसलिये तू उससे घृणा छोड़ दे और भय मत कर। जब तू इच्छित विषय भोगों को कदापि पा नहीं सकता तो तू उनकी वांछा मत कर। जिसका मरण हो गया वह शोक करने पर जब लौटके आता नहीं तब तू वृथा शोक मत कर; विचार पूर्वक काम करने वाले किसी भी काम को वृथा नहीं करते हैं।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः॥१०१॥

भावार्थ—जो कोई मूढ़ मोक्ष के सुख को देने वाले रत्नत्रय धर्म को छोड़कर भयानक व तीव्र दुःख के फल को पैदा करने वाले भोगों को बार-बार सेवन करता है, मैं ऐसा मानताहूँ कि वह जन्म जरा मरण के नाशक अमृत को शीघ्र फेंककर प्राणों को हरने वाले हलाहल विष को पीता है।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम्॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ॥६७॥

भावार्थ—यदि चक्रवर्ती तप के लिये चक्र को त्याग देता है तो इससे सज्जनों को कोई आश्चर्य नहीं भासता है। यदि तपस्वियों को यह तप अनुपम अविनाशी सम्पदा को देता है इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं। बड़ा भारी आश्चर्य तो यह है कि जो तप को छोड़कर विषयभोगों को ग्रहण करता है वह इस महान भयानक संसार-समुद्र में अपने को अनेक दुःखों के मध्य में पटक देता है।

(१४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं:—

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम् ।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ।।५-२०।।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय सेवन से जो सुख होता है वह दुःख ही है; क्योंकि यह विषय सुख अनन्त संसार की परिपाटी में दुःखों को ही पैदा करने वाला है।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ।।१०।।

भावार्थ—इस जगत में इन्द्रियों का सुख दुःख ही है। यह अविद्या रूपी सर्प से पोषित है। मूर्ख न जाने किस हेतु से इस सुख में रंजायमान होते हैं।

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ।।१३।।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रों ने कहा है कि यह इन्द्रिय जन्य सुख तृप्ति देने वाला नहीं है। मोह रूपी दावानल को बढ़ाने को ईंधन के समान है। आगामी काल में दुःखों की परिपाटी का बीज है।

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ।।१४।।
विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ।।१५।।

भावार्थ—यह इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख नरक के जाने के लिये

सीढ़ी है, या नरक के मार्ग में जाते हुए मार्ग का खर्च है, मोक्ष नगर का द्वार बन्द करने को मजबूत किवाड़ों की जोड़ी है, विघ्नों का बीज है, विपत्तियो का मूल है, पराधीन है, भय का स्थान है तथा इन्द्रियों से ही ग्रहण करने योग्य है।

वर्द्धते गृद्धिरश्रान्तं सन्तोषश्चापसर्पति ।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१८॥

भावार्थ—जिनका आत्मा इन्द्रियों के विषय से ठगाया गया है, उनकी विषय--लोलुपता निरन्तर बढती जाती है, सन्तोष चला जाता है तथा विवेक भी भाग जाता है।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरं ।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१९॥

भावार्थ—तत्वज्ञानियो ने कहा है कि कालकूट विष और विषय सुख मे मेरु पर्वत और सरसव के समान अन्तर है। कालकूट विष जब सरसो के समान तुच्छ है तब विषय सुख मेरु पर्वत के समान महान दुःखदाई है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनां ।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥२५॥

भावार्थ—हे आत्मन्! ऐसा जान कि विषयो के सुख प्राणियों को सेवते समय सुन्दर भा सकते हैं परन्तु उनका जब फल होता है तब विष के समान कटुक है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दवात्तृप्तिमासादयेतां ।
न पुनरिहशरीरी कामभोगैर्विसंख्यै-
श्चिरतुरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कश्चित् ॥२८॥

भावार्थ—इस जगत में समुद्र तो नदियों से कभी तृप्त नहीं होता, और अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती सो कदाचित् दैवयोग से तृप्ति प्राप्त करले, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम भोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥३०॥

भावार्थ—मानवों को जैसे-जैसे इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति होती जाती है वैसे-वैसे ही उनकी तृष्णा बढ़ती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः ।
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्॥
भृंगा गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाःकुरंगा ।
कालव्यालेनदष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागाः ॥३५॥

भावार्थ—रसना इन्द्रिय के वश होकर मछलियें मरण को प्राप्त होती हैं ; हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गढ़े में गिराये जाते हैं व बाँधे जाते हैं ; पतंगे नेत्र इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला में जल कर मरते हैं, भ्रमर गन्ध के लोलुपी होकर कमल के भीतर मर जाते हैं, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गमाते हैं। ऐसे एक-एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते हैं तो भी देहधारियों का राग इन्द्रियों के विषय में बना ही रहता है।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥११॥

भावार्थ—जैसे-जैसे प्राणियों के वश में इन्द्रियाँ आती जाती हैं वैसे-वैसे आत्मज्ञान रूपी सूर्य हृदय में ऊँचा-ऊँचा प्रकाश करता जाता है।

(६) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी में कहते हैं—

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात्सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीःसुखं१०-९

भावार्थ—मैंने शुद्ध चिद्रूप के सुख को जान लिया है इसलिये मेरे चित्त में देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रों के सुख जीर्ण तृण के समान दीखते हैं, परन्तु जो अज्ञानी है वह स्त्री, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रादि के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख को, जो वास्तव में दुःख रूप है, सुख मान लेता है।

खसुखं न सुखं नृणां किन्त्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात्॥४-१७

भावार्थ—इन्द्रिय जन्य सुख सुख नहीं है, किन्तु जो तृष्णारूपी आग पैदा होती है उसकी वेदना का क्षणिक उपाय है। सुख तो आत्मा में स्थित होने से होता है, जब परिणाम विशुद्ध हो व निराकुलता हो।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक्॥६-१७॥

भावार्थ—जो मनुष्य मूढ और पर पदार्थों में रत हैं वे चाहे नगर में हों, ग्राम में हों, बन में हों, पर्वत के शिखर पर हों, समुद्र के तट पर हों, मठ, गुहा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले मे हों, स्वर्ग में हो भूमि, मार्ग, आकाश में हों, लतामण्डप व तम्बू, आदि किसी भी स्थान पर हो उन्हें निराकुल सुख रचमात्र भी प्राप्त नही हो सकता।

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम॥१०-१७॥

भावार्थ—मैंने इन्द्रिय जन्य सुख को बार-बार भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है, वह तो आकुलता का कारण है। मैने निर्विकल्प आत्मीक सुख कभी नही पाया उसी के लिये मेरी इच्छा है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं॥१९-४॥

भावार्थ—इन्द्रियों के विषयो के भोगने में प्राणियो को वास्तव में आकुलता होने के कारण से दुःख ही होता है परन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से निराकुलता होती है तब ही सच्चा सुख होता है।

(१६) पं० बनारसीदास जी बनारसी विलास में कहते हैं :—

सवैया ३१

ये ही हैं कुगति की निदानी दुःख दोष दानी,
इन ही की संगति सों संग भार बहिये।

इनकी मगनता सों विभो को विनाश होय,
इन ही की प्रीति सों अनीति पंथ गहिये ।।
ये ही तप भाव को बिडारें दुराचार धारें,
इन ही की तपत विवेक भूमि दहिये ।
ये ही इन्द्री सुभट इनहि जीतें सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ।।७०।।
मौन के धरैया गृह त्याग के करैया विधि,
रीति के सधैया पर निन्दासों अपूठे हैं ।
विद्या के अभ्यासी गिरि कन्दरा के वासी शुचि,
अग के अचारी हितकारी बैन छूटे हैं ।।
आगम के पाठी मनलाए महाकाठी भारी,
कष्ट के सहनहार रामाहूँ सो रूठे हैं ।
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रियन के जीते बिना सब अंग झूठे हैं ।।७१।।
धर्म तरू भंजन को महामत्त कुंजर से,
आपदा भण्डार के भरन को करोरी है ।
सत्यशील रोकवे को पौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति का मारग चलायवे को धोरी है ।।
कुमति के अधिकारी कुनय पथ के बिहारी,
भद्र भाव इन्धन जरायवे को होरी है ।
मृषा के सहाई दुर्भावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं ।।७२।।

(१७) प० द्यानतराय जी द्यानतविलास में कहते हैं :—

कवित्त

चेतन जी तुम जोड़त हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार ।
जाको आप जानि पोषत हों, सो तन जरिके ह्वै है छार ।।
विषयभोग को सुख मानत हो, ताको फल है दुःख अपार ।
यह संसार वृक्ष सेमर को, मानि कह्यो मैं कहूँ पुकार ।।३२।।

सवैया ३१

सफरस फास चाहे रसना हू रस चाहे,
नासिका सुवास चाहे नेन चाहे रूप को ।
श्रवण शबद चाहे काया तो प्रमाद चाहे,
बचन कथन चाहे मन दौर धूप को ।।

क्रोध क्रोध क्यों चाहे मान मान गह्यो चाहे,
माया तो कपट चाहे लोभ लोभ कूप को।
परिवार धन चाहे आशा विषय सुख चाहे,
एतं बैरी चाहे नाहीं सुख जीव भूप को ॥४६॥
जीव जोपै स्याना होय पाँचो इन्द्री वसि करै,
फास रस गन्ध रूप सुर राग हरि के।
आसन बतावै काय वचको सिखावै मौन,
ध्यान माहि मन लावै चंचलता गरि के॥
क्षमा करै क्रोध मारे विनय धरि मान गारे,
सरल सों छल जारे लोभ दशा टरि के।
परिवार नेह त्यागे विषय सैन छांड़ि जागे,
तब जीव सुखी होय बैरि बस करिके ॥४७॥
वसत अनन्त काल बीतत निगोद माँहि,
अक्षर अनन्त भाग ज्ञान अनुसरे है।
छासठि सहस तीन से छतीस बार जीव,
अन्तर मुहूरत में जन्में अर मरे है॥
अंगुल असंख भाग तहा तन धारत है,
तहाँसेती क्यों ही क्यों ही क्यों ही कै निसरे है।
यहाँ आय भूल गयो लागि विषय भोग विषै,
ऐसी गति पाय कहा ऐसे काम करे है ॥४८॥
बार बार कहे पुनरुक्ती दोष लागत है,
जाग तन जीव तू तो सोयो मोह झग में।
आतम सेती विमुख गहे राग दोष रूप्य पंच,
इन्द्री विषय सुख लीन पग पग में॥
पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महापद भ्रष्ट भयो भमे सिष्ट जग में।
जाग जगवासी उदासी ह्वै के विषयसो लाग,
शुद्ध अनुभव जो आवे नाहिं जग में ॥१८॥

(१८) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास में कहते हैं :—

सवैया २३

काहे को कूर तू भूरि सहे दुख पचन के परपंच भषाए।
ये अपने रस को नित पोषत हैं तो ही तुम लोभ लगाए॥

तू कछु भद न बूझत रंचक तोहि ठगा करि देत बधाए ।
है अबके यह दाव भलो तोहि जीति ले पंच जिनन्द बताए ॥१४॥

छप्पै

रसना के रस मीन प्रान पल मांहि गवावै ।
अलि नाशा परसंग रैनि बहु संकट पावै ॥
मृग करि श्रवन सनेह देह दुर्जन को दीनी ।
दीपक देखि पतंग दिष्टि हित कैसी कीनी ॥
फरश इन्द्री वश गज पड़ो सुकौन कौन संकट सहै ।
एक एक विषवेल सम तू पंचनि सेवत सुख चहै ॥ ४ ॥

सवैया ३१

सुनो राय चिदानन्द कहे जो सुबुद्धि रानी,
कहैं कहा बेर बेर नेक तोहि लाज है ।
कैसी लाज कहो कहा हम कछु जानत न,
हमें यहां इन्द्रिन को विषय सुख राज है ॥
अरे मूढ विषय सुख सेयेतैं अनन्तवार,
अजहूँ अघाओ नाहिं कामी सिरताज है ।
मानस जनम पाय आरज सु खेत आय,
जो न चेते हंसराय तेरो ही अकाज है ॥१४॥

देखत हो कहां कहां केलि करे चिदानन्द,
आतम सुभाव भूलि और रस राच्यो हैं ।
इन्द्रिन के सुख में मगन रहे आठो जाम,
इन्द्रिन के दुख देखि जाने दुख साचो है ॥
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहंभाव मानि मानि ठौर ठौर माच्यो है ।
देव तिरजंच नर नारकी गतीन फिरे,
कौन कौन स्वांग धरे यह ब्रह्म नाच्यो है ॥३१॥
जौं लो तुम और रूप ह्वै रहे हे चिदानन्द,
तौंलो कहूँ सुख नाहिं रावरे विचारिये ।
इन्द्रिन के सुख को जो मान रहे साचो सुख,
सो तो सब सुख ज्ञान दृष्टि सो निहारिये ॥

ए तो विनाशीक रूप छिन में और सरूप,
तुम अविनाशी भूप कैसे एक धारिये।
ऐसो नर जन्म पाय नेक तो विवेक कीजे,
आप रूप गहि लीजे कर्म रोग टारिये ॥४२॥
जीवें जग जिते जन तिन्हें सदा रैन दिन,
सोचत ही छिन छिन काल छीजियतु है।
धनी होय धन होय पुत्र परिवार होय,
बड़ो विस्तार होय जस लीजियतु है ॥
देह तो निरोग होय सुख को संजोग होय,
मनवंछ भोग होय जौ लो जीजियतु है ॥४४॥
नागरिन संग कई सागरनि केलि कीये,
रागरग नाटक सों तउ न अघाए हो।
नर देह पाय तुम्हे आयु पल्ल तीन भई,
तहाँ तो विषय कलोल नाना भाँति गाए हो ॥
जहाँ गए तहाँ तुम विषय सों विनोद कीनो,
ताही ते नरक में अनेक दुःख पाये हो।
अज हूँ सम्भार विषय डारि क्यों न चिदानन्द,
जाके सग दुःख होय ताही से लुभाए हो ॥ ८ ॥
नर देह पाए कहो कहा सिद्धि भई तोहि,
विषय सुख सेये सब सुकृत गवायो है।
पंचइन्द्री दुष्ट तिन्हें पुष्ट करि पोष राखे,
आई गई जरा तब जोर विल्लायो है ॥
क्रोध मान माया लोभ चारों चित्त रोक बैठे,
नरक निगोद को सन्देसो वेग आयो है।
खाय चलो गाँठ को कमाई कौड़ी एक नाहि,
तो सो मूढ़ दूसरो न ढूँढ्यो कोऊ पायो है ॥११॥
देखहु रे दक्ष एक बात परतक्ष नई,
अच्छन की सगति विचच्छन लुभानो है।
वस्तु जो अभक्ष्य ताहि भच्छत है रैन दिन,
पोषिवे को पक्ष करे मच्छ ज्यों लुभानो है ॥
विनाशीक लक्ष ताहि चक्षु सो विलोके थिर,
वह जाय गच्छ तब फिरे जो दीवानो है।

स्वच्छ निज अक्ष को विजक्ष के न देखे पास,
मोह जक्ष लागं वच्छ ऐसे भरमानो है ।। ७ ।।
अरे मन बौरे तोहि बार बार समझाऊँ,
तजि विषयभोग मन सो अपनि तू ।
ये तो विष बेलि फल दीसत है परतच्छ,
कैसे तोहि नीके लागे भयो है मगन तू !
ऐसे भ्रम जाल माँहि सोयो है अनादि काल,
निज सुधि भूलि ठग्यो करम ठगनि तू ।
तोरि महा मोह डोरि आतम सो लव जोरि,
जाग जाग जाग अब ज्ञान की जगन तू ।।११।।

—:(०):—

चौथा अध्याय

सहज सुख या अतीन्द्रिय सुख।

गत अध्याय में यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुखके पीछे संसारी अज्ञानी जीव बावले हो रहे हैं वह सुख सुखसा भासता है परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। इन्द्रियों के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते भोगते तृष्णा का रोग अधिक अधिक बढ़ता जाता है। भ्रम से, भूल से, अज्ञान से जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि हो, पानी में चद्रकी परछाई को देखकर कोई बालक चंद्रमा मान ले, सिंह कूए में अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जान ले, पक्षी दर्पण में अपने को ही देख दूसरा पक्षी मानले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जानले, मदिरासे उन्मत्त परकी स्त्रीको स्वस्त्री मानले, इसी तरह मोहांध प्राणी ने विषय सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कड़वा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठंडा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चाँदी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणि का स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खड़ी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चंद्र का स्वभाव शीत

उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है,अमृतका स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपना या अपने आत्मा का स्वभाव सुख है । जैसे लवण में सर्वांग खारपना, मिश्री में सर्वांग मिष्ठपना है, जल में सर्वांग द्रवपना है, अग्नि में सर्वांग उष्णपना है, चंद्रमा में सर्वांग शीतलता है, सूर्य में ताप है, स्फटिक में सर्वांग निर्मलता है, गोरस में सर्वांग चिक्कनता है, बालू में सर्वांग कठोरता है, लोहे में सर्वांग भारीपना है, रुई में सर्वांग हलकापना है, अत्तर में सर्वांग सुगंध है, गुलाब के फूल मे सर्वांग सुवास है, आकाश मे सर्वांग निर्मलता है वैसे आत्मा मे सर्वांग सुख है । सुख आत्मा का अविनाशी गुण है । आत्मा गुण में सर्वांग तादात्म्य रूप है ।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग में लवणपने का स्वाद बोध कराती है । मिश्रीकी कणिका उपयोग मे मिष्ठपने का स्वाद जनाती है वैसे आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है । परमात्मा सहज सुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानदमय अनत सुखी है, अनते सिद्ध इसी सहज स्वाद में ऐसे मगन हैं जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गध मे आसक्त हो जाता है । सर्व ही अरहंत केवली इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए पाच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उन की ओर नही झुकते हैं । इस आनन्द मई अमृत के रसपान को एक क्षण को नही त्यागते हैं । सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहज सुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्याग कर प्राकृतिक एकात वन, उपवन, पर्वत, कदरा, नदी तट को सेवन करते हैं । जगत के प्रपच से आरम्भ परिग्रह से मुँह मोड, पाँच इन्द्रियो की चाहकी दाह को शमन कर परम रुचि से आत्मीक स्वभाव में प्रवेश कर के सहज सुख का पान करते हैं, तथा इसी सुख मे मगन हो कर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्मई धन को भस्म करते हैं—अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते हैं ।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पाच अणुव्रतो की सहायता से सतोषी रहते हुए इसी सहज सुखके अमृत के पान के लिये प्रात मध्याह्न तथा सायंकाल यथासभव सब से नाता तोड जगत प्रपच से मुँह मोड़, एकांत में बैठ मोह की डोर को तोड़, बडे भाव से आत्मा के उपवन में प्रवेश करते हुए सहज सुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते हैं । सर्व ही

सम्यग्दृष्टी अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपच से उदासी रखते हैं। गृहस्थ में रहते हुए भी इन्द्रिय सुख को निरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए तथा अपने भेदविज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा में पर के स्वभाव को लेशमात्र भी संयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सहज सुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनंत भंडार है। अनंतकाल तक भी इस का भोग किया जावे तौभी यह परमाणु मात्र भी कम नहीं होता। यह जैसा का तैसा बना रहता है। कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नही है जो इस सुख को हरण कर सके। आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक कर सके, आत्मा को सहज सुख से रहित कर सके। हर एक आत्मा सहज सुख समुद्र है। संसारी मोही जीव की दृष्टि कभी अपने आत्मा पर रुकती नही। वह आत्मा को पहचानता नहीं। आप आत्मा होते हुए भी आत्मा के प्रकाश में अपना जीवन रखते हुए भी आत्मा की महिमा से ही इन्द्रिय व मन से ज्ञान किया करते हुए भी वह आत्मा को भूले हुए, आत्मा के प्रकाश से जो शरीर दिखता है उसी रूप अपने को मान लेता है।

आत्मा के प्रकाश से जो चेतन व अचेतन पदार्थ शरीर को उपकारी दीखते हैं उन को अपना सखा मान लेता है व जो शरीर अहितकारी दीखते हैं उन को अपना शत्रु जान लेता है। मैं स्वरूपवान, मैं बलवान, मैं धनी, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं कृषक, मैं रजक, मैं सुनार, मैं लुहार, मैं थवई, मैं जमीदार ऐसा मानता हुआ शरीर के व इसके क्षणिक इन्द्रिय-सुख के मोह में ऐसा पागल होजाता है कि यह कभी भी आत्मा मैं हूँ ऐसा विश्वास नही लाता। मैं शुद्ध वीतराग परमानंदमय हूँ ऐसा ज्ञान नही पाता। मैं रागी द्वेषी नहीं, मैं बालक, वृद्ध, युवान नहीं, मैं शरीर में रहते हुए शरीर से उसी तरह पृथक हूँ जैसे धान्य में रहते हुए भी तुष से चावल पृथक है, तिल में रहते हुए भी भूसी से तेल पृथक् है, जल में रहते हुए भी जल से कमल पृथक् है। अपने मूल स्वभाव को न जानता हुआ, सहज सुख का सागर होते हुए भी उस सहज सुख का किंचित् भी स्वाद न पाता हुआ विषय सुख से तृष्णा की आताप को अधिक बढ़ाता

हुआ रात दिन सन्तापित रहता है। सहज सुख को न पाकर तृषा को शमन नहीं कर पाता है।

जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में होती है वह उसकी सुगन्ध का अनुभव करता है परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि में न देखकर बाहर बाहर ढूंढ़ता है—जैसे हाथ में मुद्रिका होते हुए भी कोई भूल जावे कि मुद्रिका मेरे पास नहीं है और उस मुद्रिका को बाहर बाहर ढूंढ़ने लगे। जैसे मदिरा से उन्मत्त अपने घर में बैठे हुए भी अपने घर को भूल जावे और बाहर ढूंढ़ता फिरे व पूछता फिरे कि मेरा घर कहाँ है, उसी तरह यह अज्ञानी प्राणी सहज सुख को अपने पास रखते हुए भी व कभी उसका बिल्कुल मलीन अनुभव, कभी कम मलीन अनुभव, कभी कुछ स्वच्छ स्वाद पाते हुए भी उस सहज सुख को भूले हुए हैं और भ्रम से इन्द्रियों के विषयों में ढूंढ़ता फिरता है कि यहाँ सुख होगा।

सुख आत्मा का गुण है। इसका परिणमन स्वभाव व विभाव रूप दो प्रकार का है जैसे—चारित्र आत्मा का गुण है उसका परिणमन स्वभाव तथा विभाव रूप दो प्रकार का है। वीतराग रूप होना स्वभाव परिणमन है, कषाय रूप होना विभाव परिणमन है। इस विभाव परिणमन के भी दो भेद हैं—एक शुभ भाव परिणमन, एक अशुभ भाव परिणमन। जब मन्द कषाय का रंग होता है तब शुभ भाव कहलाता है, जब तीव्र कषाय का रग होता है। तब अशुभ भाव कहलाता है। यदि चारित्र गुण आत्मा में नहीं होता तो शुभ भाव व अशुभ भाव भी नहीं हो सकते थे। इसी तरह सहज सुख का स्वभाव परिणमन तब है जब आत्मा की ओर उपयोगवान होता है, आत्मा में तल्लीन होता है, इसका विभाव परिणमन सासारिक सुख या सासारिक दुःख का अनुभव है। जब सातावेदनीय का उदय, रति कषाय का उदय होता है तब सांसारिक सख रूप परिणमन होता है। जब असातावेदनीयका उदय तथा अरति कषाय का उदय होता है तब सासारिक दुःख रूप परिणमन होता है। यदि आत्मा में सुख गुण नहीं होता तो इन्द्रिय सुख व दुःख का भान भी नहीं होता क्योंकि इसमें कषाय के उदय का मैल मिश्रित है। इसलिये सच्चे सुख का स्वाद न आकर कषाय का ही स्वाद आता है, कभी प्रीति रूप कभी अप्रीति रूप या द्वेष रूप स्वाद आता है।

जैसे लवण से मिले हुए जल को पीने से जल का स्वाद न आकर लवण का स्वाद आयगा, खटाई से मिले जल को पीने से जल का स्वाद न आकर खटाई का स्वाद आयगा, नीम की पत्ती से मिला जल पीने से नीम का कटुक स्वाद आयगा, जल का स्वाद न आयगा। शक्कर से मिला जल पीने से शक्कर का मीठा स्वाद आयगा, जल का शुद्ध स्वाद न आवगा। इलायची, बादाम, पिस्ता, किसमिस, शक्कर से मिला जल पीने से इनही का मिश्रित स्वाद आयगा, जल का अकेला निर्मल स्वाद न आवगा। इसी तरह राग द्वारा इन्द्रिय सुख व द्वेष द्वारा इन्द्रिय दुःख भोगते हुए राग द्वेष का स्वाद आता है, शुद्ध सुख का स्वाद नहीं आता है, इसी से तृप्ति नहीं होती है।

जैसे वीतराग भाव या शान्त भाव आत्मा के लिये हितकारी है वैसे शुद्ध सुख का अनुभव आत्मा के लिये हितकारी है। विभाव सुख की परिणति में राग द्वेष का मिश्रण होने से कर्म का बंध होता है। यहाँ यह कहने का प्रयोजन है कि यदि चारित्र गुण न होता तो राग द्वेष या कषाय भाव क्रोधादि भाव न होता वैसे यदि सुख गुण न होता तो सांसारिक सुख या दुःखका अनुभव किसीको न होता। यह अज्ञानीजोव जैसे अपने चारित्र गुणको भूले हुए है वैसे यह अपने सुखगुणको भी भूले हुए हैं। इसे कषाय के उदयसे जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव की कलुषता का स्वाद आता है वैसे ही कषाय के उदय से इसे सांसारिक सुख या दुःख का मलीन अतृप्तिकारी स्वाद आता है। जैसे किसी गँवार अज्ञानी पुरुष को मिट्टी से मिला हुआ पानी पीनेको दिया जावे तो वह उस मटीले पानी को ही पी लेगा। खेद है कि उसे पानी का स्वाद नही आएगा किन्तु जैसी मिट्टी होगी वैसी मिट्टी का ही स्वाद आयगा। यदि वही पानी किसी बुद्धिमान को पीने दिया जाय तो वह विवेकी जल के ही स्वाद लेने का इच्छुक उस मटीले पाटी को नहीं पीवेगा किन्तु उस पानी में कनकफल डालकर मिट्टी को नीचे बिठा देगा और वह पानी को साफ करके ही पीएगा और उस जल का असली स्वाद पाकर प्रसन्न होगा, उसी तरह जो अज्ञानी विषयों के झूठे सुख में लुब्ध हैं, सच्चे सुख का स्वाद न पाते हुए कषाय का ही स्वाद पाकर मगन हैं वे इन्द्रिय सुख को ही सुख मानकर इसी की चाह की दाह में जलते हैं व इसी को बार-बार भोगते हैं। सहज सुख के स्वाद को न पाकर कषाय के या राग भाव के स्वाद को पाते हैं,

परन्तु भ्रम से मानते हैं कि हमने सुख भोगा, यही अनादि काल का बड़ा अज्ञान है।

विवेकी सज्जन सन्त पुरुष सच्चे सुख के अर्थी होकर जैसे कतकफल को डालकर स्वच्छजल पीनेवालेने मिट्टीको अलगकर स्वच्छजल पीया वैसे भेद विज्ञान से शुद्ध निश्चय नयको डालकर राग के स्वाद को अलग करके निर्मल आत्मा का स्वाद लेते हुए सहज सुख का स्वाद पाकर परम तृप्त होते हैं। इन्द्रिय सुख का भोग मलीन कषाय की कलुषता का भोग है। सहज अतीन्द्रिय सुख का भोग स्वच्छ निर्मल आत्मा के सुख गुण का भोग है। इस सुख के भोग में वीतरागता है, इससे कर्म का बन्ध नही है किन्तु कर्म की निर्जरा है।

इन्द्रिय सुख जब पराधीन है तब सहज सुख स्वाधीन है। इसके लिये न इन्द्रियो की जरूरत है न बाहरी पदार्थों की जरूरत है। इन्द्रिय सुख जब अपने आश्रयी भूत पदार्थों के बिगडने से बाधित हो जाता है तब सहज सुख स्वाधीन व स्वावलम्बन पर निर्भर रहने से बाधा रहित है। इन्द्रिय सुख जब बिलकुल नाश हो जाता है, अपने शरीर छूटने पर या आश्रयी भूत विषय पदार्थ के वियोग होने पर नही रहता है तब यह सहज सुख अविनाशी आत्मा का स्वभाव होने से सदा ही बना रहता है। इन्द्रिय सुख राग भाव बिना भोगा नही जाता, इसलिए कर्म बन्ध का कारण है, तब सहज सुख वीतरागता से प्राप्त होता है इससे वहाँ बन्ध नही किन्तु पूर्व बन्ध का नाश है। इन्द्रिय सुख जब आकुलतामय है, विषम है, समता रूप नही है तब अतीन्द्रिय सुख निराकुल है तथा समतारूप है। इन्द्रिय सुख जब विष है तब सहजसुख अमृत है। इन्द्रिय सुख जब अधकार है तब सहज सुख प्रकाश है।

इन्द्रिय सुख जब रोग हैं तब सहज सुख निरोग हैं, इन्द्रिय सुख जब कृष्ण हैं तब सहज सुख श्वेत है, इन्द्रिय सुख जब कटुक है तब सहज सुख मिष्ठ हैं, इन्द्रिय सुख जब तापमय हैं तब सहज सुख शीतल है, इन्द्रिय सुख जब बेड़ी है तब सहज सुख आभूषण है, इन्द्रिय सुख जब मृत्यु हैं तब सहज सुख जीवन है, इन्द्रिय सुख जब इन्द्रायण फल है तब सहज सुख मिष्ठ आम्र फल है, इन्द्रिय सुख वासरहित पुष्प हं तब सहज सुख परम

सुगंधित पुष्प है, इन्द्रिय सुख जब भयानक जंगल है तब सहज सुख मनोहर उपवन है, इन्द्रिय सुख खारा पानी है तब सहज सुख मिष्ठ जल है, इन्द्रिय सुख गर्दभ स्वर है तब सहज सुख कोमल स्वर है, इन्द्रिय सुख काक है तब सहज सुख हंस है, इन्द्रिय सुख कांच खण्ड है तब सहज सुख अमूल्य रत्न है, इन्द्रिय सुख आन्धी है तब सहज सुख मंद सुगंध पवन है।

इन्द्रिय सुख रात्रि है तब सहज सुख प्रभात है, इन्द्रिय सुख हर तरह से त्यागने योग्य है तब सहज सुख हरतरह से ग्रहण करने योग्य है। एक संसार का विकट मार्ग है तब दूसरा सहज सुख मोक्ष का सुहावना सरल राज मार्ग है। सहज सुख को हरएक आत्मज्ञानी, चाहे नारकी हो या पशु हो या देव हो, या दलिद्री मानव हो, या धनिक मानव हो, कुरूप हो या सुरूप हो, बलिष्ट हो या निर्बल हो, बहुत शास्त्रज्ञाता हो या अपढ़ हो, वन मे हो या महल में हो, दिन मे हो या रात में हो, सबेरे हो या साँझ हो, हर स्थान, हर समय, हरएक अवस्था में प्राप्त कर सकता है। जबकि इन्द्रिय सुख को वही पा सकता है जिसको इच्छित विषय भोग मिलें जिनका मिलना हरएक मानव को महा दुर्लभ है।

सहज सुख है इसका विश्वास साधारण मानवो को होने के लिये विशेष समझा कर कहा जाता है कि इस जगत मे इन्द्रिय सुख के सिवाय एक ऐसा सुख है जो मन्द कषाय होने पर शुभ कार्य करते हुए हरएक विचारशील मानव के भोगने में आता है। परमात्मा के शुद्ध गुणो की भक्ति करते हुए, धर्मशास्त्र को एकचित्त हो पढ़ते हुए, रोगी की टहल सेवा करते हुए, बुभुक्षित को दयार्द्र होकर भोजन देते हुए, दुःखियों का दुःख निवारणार्थ उद्यम करते हुए, समाज के उपकारार्थ उद्यम करते हुए, देश के गरीबों की सेवा करते हुए, परोपकारार्थ द्रव्य का दान करते हुए, नदी में डूबते को बचाते हुए, स्वयसेवक बनकर एक मजूर की तरह बोझा ढोते हुए, पुलिस को तरह पहरा देते हुए, इत्यादि कोमल व दयाभाव से अर्थात् मन्द कषाय से बिना किसी स्वार्थ की पुष्टि के, बिना किसी लोभ या मान प्रतिष्ठा के हेतु के जितना भी मन, वचन, कायका बर्तन व अपनी शक्तियों की बलि परोपकारार्थ की जाती है उस समय जो सुख का स्वाद आता है वह सुख इन्द्रिय सुख नही है। यह तो स्वयं सिद्ध है कि दानी, परोपकारी, स्वार्थ त्यागी जब निष्काम कर्म करते हैं, बिना बदले की इच्छा के पर की

सेवा करते हैं तब सुख अवश्य होता है। परोपकार करते हुए या भक्ति करते हुए व धर्म शास्त्र एक भाव से पढ़ते हुए पाँचों इन्द्रियों के विषयों का भोग नहीं किया जाता है। न किसी स्त्री का भोग है, न मिष्ठान्न का सेवन है, न पुष्पों का सूँघना है, न सुन्दर रूप को देखना है, न कोई ताल सुर सहित गान का सुनना है।

जब यह इन्द्रिय सुख नहीं है परन्तु सुख तो अवश्य है तब यह क्या है ? इसका समाधान यह है कि जैसे इन्द्रिय सुख का विभाव परिणमन है वैसे परोपकारादि शुभ कार्यों को मन्द कषाय से करते हुए जो सुख होता है वह एक देश मन्द कषाय मिश्रित स्वाभाविक सुख गुण का परिणमन है। इस सुख में तीव्र राग भाव नही है इसलिये जो मलीनता इन्द्रिय सुख भोग में होती है वह मलीनता इसमें नही है किन्तु भावो मे त्याग भाव है, विराग भाव है, परहितार्थ स्वधन का, स्वशक्ति का व्यय है, लोभ का कितने अश त्याग हैं, इसीलिये ऐसी दशा मे कुछ निर्मल सुख का भोग है। यहाँ विकारपना नही है। यह बात एक विवेकी को समझ में आ सकती है कि जितना अधिक स्वार्थ त्याग किया जाता है, जितना अधिक मोह हटाया जाता है, जितना अधिक लोभ छोडा जाता है उतना ही अधिक सुख का अनुभव होता है, चाहे वह अनुभव करने वाला आत्मा को जानता हो या न जानता हो, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक हो, चाहे वह नागरिक हो या ग्रामीण हो, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी हो, चाहे वह गरीब या अमीर हो।

यह वस्तु का स्वभाव है कि जो कोई भी मिश्री खायगा उसे मिश्री का स्वाद आयगा। जो कोई भी लवण खायगा उसे लवण का स्वाद आयगा, चाहे वह व्यक्ति मिश्री को या लवण को नही भी पहचानता हो, उसी तरह चाहे कोई आत्मा को समझो या न समझो; जो कोई स्वार्थ त्यागी, निर्लोभी, परोपकारार्थ अपनी बलि करेगा या मन्द कषाय से अन्य शुभ कार्य करेगा उसको उस सुख का स्वाद आवेहीगा जो आत्मा का स्वभाव हैं। यह सुख इन्द्रिय सुख की अपेक्षा विशेष स्वच्छ है, इसमें कषाय की कालिमा का अश बहुत ही मन्द है। आत्मा का अनुभव करने से व आत्मा का ध्यान करने से जो वीतरागता के कारण सुख का स्वाद आता है उससे कुछ ही दरजे कम है।

यहाँ पाठको को यह बताना है कि यह सुख कुछ मोह या लोभ के त्याग से हुआ है। यदि कोई अपने आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थो से बिल्कुल मोह छोड़ दे तो बहुत निर्मलता के साथ सहज सुख का अनुभव होगा। जिनको इन्द्रिय सुख का ही विश्वास है, और किसी तरह के सुख पर जिनकी श्रद्धा नही है उनके लिए यहाँ पर परोपकार से अनुभव में आने वाले सुख को बताया गया है कि यह इन्द्रियसुख से अन्य तरह की है व जो बिना इन्द्रियो के भोग के भोगने में आता है। यही सहज सुख का निश्चय कराता है। यदि आत्मा में सहज स्वाभाविक अतीन्द्रिय व रूच्चा सुख नही होता तो स्वार्थत्यागी परोपकारियो को कभी भी नहीं भोगने में आता।

श्री गुरु परोपकारी जगत के प्राणियो को सहज सुख का पता बताते हैं कि यह सुख किसी जड पदार्थ में नही है न यह दूसरे से किसी को मिल सकता है। यह सुख प्रत्येक की आत्मा में है और आत्मा से ही प्रत्येक को बिना किसी वस्तु की सहायता के मिल सकता है। यह स्वाधीन है, हर एक की अपनी सम्पत्ति है। हर एक जीव इस सुख भण्डार को भूले हुए हैं, इसी से मृगतृष्णा की तरह दुःखित है, सतापित है, सुख के लिए इन्द्रियो के विषयो मे भटकता है परन्तु सुख का पता नही पाकर सुखी नही हो सकता, सन्ताप नही मिटा सकता, ससार के दुःखो का अन्त नही कर सकता जो इन्द्रियसुख की तृष्णावश प्राणियो को सहना पडता है। मोहवश भ्रमवश, अज्ञानवश प्राणी अपने पास अमृत होते हुए भी उसका पता न पाकर दुःखी हो रहे हैं।

सहज सुख के भोग में शरीर को भी हानि नही होती है--मुख प्रसन्न रहता है, शरीर हल्का रहता है, कितने रोग मिट जाते हैं, किन्तु इन्द्रिय सुख भोग मे बहुधा मात्रा का उल्लघन लोभवश कर दिया जाता है इससे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

ससार, शरीर, भोग तीनों की क्या दशा है इस बात को भले प्रकार समझ कर जो कोई इस दुःखमय ससार से पार होना चाहे, इस अपवित्र शरीर के कारावास से सदा के लिए छूटना चाहे, इन नीरस विषयभोगों के धोखे से बचना चाहे, और सदा सुखमय जीवन बिताना चाहे उसको

उचित है कि वह इस सहज सुख पर अपना विश्वास लावे। रत्न को पहचान कर जौहरी बने। इन्द्रिय सुख रूपी काँच खड को रत्न समझ कर अपने को न ठगावे। सहजसुख अपने ही पास है, अपना ही स्वभाव है, अपना ही गुण है, ऐसा जानकर हरएक विचारशील को बडा ही आनन्दित होना चाहिए और भले प्रकार अपने आत्मा को समझना चाहिए तथा उस साधन को समझ लेना चाहिए जिससे सहज सुख अपने को मिल सके। इस पुस्तक मे आगे साधन का ही लक्ष्य रख के कथन किया जाएगा। अब देखना चाहिए कि जैनाचार्य इस सहज सुख के सम्बन्ध में क्या वर्णन करते हैं।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री प्रवचनसार मे कहते हैं—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

भावार्थ—केवली अरहन्त के इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुख नही है, किन्तु सहज अतीन्द्रिय ज्ञान है व सहज अतीन्द्रिय सुख है।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६८॥

भावार्थ—जिसकी दृष्टि अँधेरे मे देख सकती है उसको दीपक की कोई जरूरत नही है। यदि सहज सुख स्वयं आत्मा रूप है तब फिर इन्द्रियो के विषयो की क्या आवश्यकता है।

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥७५॥

भावार्थ—सुख तो आत्मा का स्वभाव है, सो देवो को भी प्राप्त नही होता, तब वे देह की वेदना से पीडित होकर रमणीक विषयो मे रमते हैं।

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥८५॥

भावार्थ—जो मनुष्य साधुओं में श्रेष्ठ, तीन लोक के गुरु, देवों के

देव, श्री अरहंत भगवान को भाव सहित नमन करते हैं वे अविनाशी सहजसुख को पाते हैं ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

एवह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होदि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ।।२१६।।

भावार्थ—इसी आत्मस्वरूप में नित्य रत हो, इसी में सन्तोष रख व इसी में तृप्त रह, तो तुझे उत्तम सहज सुख प्राप्त होगा ।

जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय अच्छतच्चदो णादुं ।
अच्छे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तमं सुक्खं ।।४३७।।

भावार्थ—जो इस समयसार ग्रन्थ को पढ करके और ग्रन्थ के अर्थ और भावो को जानकर शुद्ध आत्मीक पदार्थ में ठहरेगा वह उत्तम सुख को पावेगा ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुड में कहते हैं—

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं लहदि मोक्खं च ।।३४।।

भावार्थ—उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना पाकर के प्राणी सम्यग्दर्शन को पाकर अविनाशी सुख को तथा मोक्ष को पाते हैं ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड मे कहते हैं—

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ— जो ज्ञानी आत्मा चारित्र को धारण कर अपने आत्मा में परभाव या पदार्थ को नहीं जोडे -सब पर से राग, द्वेष छोड़े सो ज्ञानी शीघ्र ही अनुपम सहज सुख पाता है ऐसा जानो ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं—

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ।।६०।।

भावार्थ— जो चार गति रूप संसार से छूट कर शीघ्र ही अविनाशी सहज सुख को चाहते हो तो भावों को शुद्ध करके शुद्ध आत्मा की भावना करो ।

सिवमजरामरलिंगमणोबममुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

भावार्थ— जो जिन धर्म की भावना भाते है, वे जीव सहज मोक्ष के सुख को पाते हैं जो सुख कल्याण रूप है, अजर है, अमर है, अनुपम है, उत्तम है, श्रेष्ठ है, प्रशसनीय है, शुद्ध है, महान है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते हैं—

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

भावार्थ—जो जीव मद, माया, क्रोध लोभ से रहित होकर निर्मल स्वभाव से युक्त होता है वही उत्तम सहज सुख को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

भावार्थ—जो साधु वैराग्यवान हो, परद्रव्य से पराङ्मुख हो व ससार के सुख से विरक्त हो वही अपने आत्मीक शुद्ध सहज सुख मे लीन होता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रक्षा मे कहते हैं—

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥६३॥

भावार्थ—जैसे जैसे शात भाव, दया, क्षमा, वैराग्य बढते जाते हैं वैसे वैसे अविनाशी सहज मोक्ष सुख की भावना बढती जाती है— अधिक अधिक सुख अनुभव में आता है ।

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धूण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदा लहदि ॥७०॥

भावार्थ—जो भव्य उपशम, क्षायिक या क्षयोपशम सम्यक्त को प्राप्त करके तप व सयम पालेगा वह तब अक्षय सहज सुख को पावेगा ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना मे कहते हैं—

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥२०॥

भावार्थ—जो साधु एकांत के ढूंढने वाले हैं व गंधहस्ती के समान धीर हैं व शुक्ल ध्यान में लवलीन हैं वे मुक्त सहज सुख को पाते है।

(९) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये।११५।

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ स्वामी आपने अनुपम ध्यान के बल से आठ कर्म मल कलंक को भस्म कर डाला और आप मोक्ष के सहज सुख को प्राप्त कर परम सुखी हो गए। आपके प्रसाद से मेरा संसार भी अन्त होवे।

(१०) स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

भावार्थ—निर्वाण जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख, भय से रहित है। शुद्ध सहज सुख से पूर्ण है, परम कल्याण रूप है तथा नित्य है।

(११) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ—यह आत्मा आत्मानुभव से ही प्रगट होता है। शरीर मात्र आकारवान है, अविनाशी है, सहज सुख का धनी अत्यन्त सुखी है व लोक अलोक का देखने वाला है।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

भावार्थ—जो योगी व्यवहार के प्रपंच से बाहर ठहर कर आत्मा की भावना में लीन होते हैं। उनको योगाभ्यास के द्वारा कोई अपूर्व परमानन्दमई सहज सुख प्राप्त होता है।

(१२) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतिम् ॥३२॥

भावार्थ—जब मैं इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर अपने द्वारा अपने को अपने में स्थापित करता हूँ तब परमानन्दमई सहज सुख से पूर्ण ज्ञानमई भाव को प्राप्त करता हूँ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ।।५२।।

भावार्थ जो ध्यान को प्रारम्भ करता है उस को आत्मा में कष्ट व बाहर सुख मालूम पड़ता है परन्तु जिसकी भावना आत्मा में दृढ होगई है उस को बाहर दुःख व आत्मा में ही सहज सुख अनुभव में आता है।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखम् यत्र नासुखम् ।
तज् ज्ञानं यत्र नाज्ञान सा गतिर्यत्र नागतिः ।।४६।।

भावार्थ—धर्म वह है जहाँ अधर्म नहीं हो, सुख वही है जहाँ कोई दुःख नहीं है ज्ञान वही है जहाँ अज्ञान नहीं हो, वही गति है जहाँ से लौटना नहीं हो।

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सता सम्मता
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणां ।।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनम् ।
सम्यक् चेतसि चिंतयंतु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ।।११२।।

भावार्थ—समाधि या ध्यान में तीन जगत के गुरु भगवान की तो आराधना होती है। सतो से सराहनीय प्रवृत्ति होती है। भगवान के चरणो का स्मरण यही कष्ट है, कर्मों की बहुत निर्जरा यही खर्च है, थोडासा काल लगता है, मन का साधन किया जाता है, तथा इस से सहज अतीन्द्रिय सिद्धि सुख प्राप्त होता है। इस लिये भले प्रकार विचार करो, समाधि में कोई कष्ट नहीं है, किंतु सहज सुख का परम लाभ है।

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतं ।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ।।१६५।।

भावार्थ—चक्रवर्ती तप के लिये चक्ररत्न का त्याग कर देते हैं क्योंकि तपका फल अनुपम आत्मा से उत्पन्न, सहज सुख का लाभ है। इस काम में तो कोई आश्चय नहीं है परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो कोई सुबुद्धि छोड़ हुए विष के समान विषय सुख को फिर भोगने के लिये बड़े तप को छोड़ देता है।

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्य्ययः ।।१८७।।

भावार्थ—इस लोक में जो सहज सुख को पाता हुआ सुखी है, वही पर लोक में भी सुखी रहता हैं। जो यहाँ तृष्णा से दुःखी है, सो पर लोक में भी दुःखी रहता है। वास्तव में सर्व वस्तु से जहाँ मोह का त्याग है वही सुख है, जहाँ पर वस्तु का ग्रहण है, वही दुःख है।

आत्मज्ञात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना१९३

भावार्थ—हे आत्मन्! तू आत्मज्ञान के लोपने वाले विषय कषायादि में प्रवृत्त कर चिरकाल दुराचारी रहा। अब जो तू आत्माके सम्पूर्ण कल्याण करने वाले ज्ञान वैराग्यादिक अपने ही भावों को ग्रहण करे तो श्रेष्ठ परमात्मा की दशा को प्राप्त होवे और तू केवलज्ञानी हो जावे तथा अपने ही आत्मा से उत्पन्न जो आत्मीक सहज सुख है, उस में शोभायमान होकर अपने शुद्धात्मीक भाव के साथ अपने अध्यात्मस्वरूप में ही स्थिर रहे।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ।।२६७।।

भावार्थ—जो तपस्वी स्वाधीन रहते हैं वे यदि काय क्लेश तप का दुःख बाहर से भोगते दीखते हैं परन्तु अतरंग में सुखी हैं। तो फिर परम स्वाधीन सुख से पूर्ण सिद्ध भगवान सदा सुखी क्यों न होंगे ? सिद्ध सहज सुख में सदा मगन रहते हैं।

(१४) श्री अमृतचंद्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं—

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ॥२२४॥

भावार्थ—परमात्मा परम पद में रहते हुए, सर्व पदार्थों को जानते हुए, कृतकृत्य, ज्ञानमई सदा ही अपने परमानन्द मे मगन रहते हैं ।

(१५) श्री अमृतचन्द्र आचार्य तत्वार्थसार में कहते हैं—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभि ॥४५-८॥

भावार्थ—सिद्धो को संसार के विषयों से अतीत बाधा रहित अविनाशी उत्कृष्ट सहज सुख होता है ऐसा परम ऋषियों ने कहा है ।

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेश विमोहाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४६-८॥

भावार्थ—पुण्य कर्म के फल से इष्ट इन्द्रियो का सुख भासता हैं, परन्तु मोक्ष में सर्व कर्म के क्लेश के मिट जाने से स्वाभाविक अनुपम उत्तम सुख है ।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश में कहते हैं—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२-६॥

भावार्थ—रागपना तो जड़ का धर्म है, आत्मा का धर्म चैतन्यपना है । इस तरह राग और ज्ञान गुण का भेद ज्ञान जब उदय होता है तब सन्त पुरुष राग से उदासीन होकर शुद्ध ज्ञानमई एक आत्मा ही अनुभव करते हुए सहज सुख का स्वाद लेते हैं ।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७-७॥

भावार्थ—जिस पद में आपत्तियाँ नहीं हैं उसी एक आत्मा के शुद्ध पद का स्वाद लेना चाहिये जिससे सहज सुख हो । इसके सामने और सब पद अयोग्य पद दीखते हैं ।

ये एव मुक्त्वानयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति२४-३।

भावार्थ—जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय का पक्षपात छोड़ कर अपने आत्मा के स्वरूप में नित्य मगन हो जाते हैं वे सर्व विकल्प जालों से छूटे हुए व शान्त चित्त होते हुए साक्षात् सहज सुख रूपी अमृत को पीते हैं।

यः पूर्वभावकृतकर्म्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ।।३९—१०।।

भावार्थ—जो कोई महात्मा पूर्व में बांधे हुए कर्म रूपी विष वृक्षों के फलो के भोगने में रजायमान नही होता है किन्तु आप में ही तृप्त रहता है, वह कर्म रहित सहज सुख की ऐसी दशा को पहुँच जाता है, जिससे इस जन्म में भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहेगा।

अत्यन्त भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ।।४०-१०।।

भावार्थ—जो कोई कर्म से व कर्म के फल से अत्यन्त पने निरन्तर विरक्तपने की भावना करके तथा अज्ञान चेतना को पूर्णपने प्रलय करके तथा आत्मीकरण से पूर्ण अपनी ज्ञानचेतना से अपने स्वभाव को पूर्ण करके उसे अपने भीतर नचाता है वह शान्त रस से पूर्ण सहज सुख अमृत को सदा काल पीता है।

(१७) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं :—

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरं ।।१७०।।

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है वह वचन अगोचर स्वाधीन सहज आनन्द को पाता है।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणं ।।२३७।।
त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ।।२३८।।
अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ।।२३९।।
ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतींद्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ।।२४०।।
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ।।२४१।।
आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ।।२४२।।
यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ।।२४३।।
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबन्धनं ।
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ।।२४४।।

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितं ।।२४५।।
यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां।।२४६।।

भावार्थ—शुद्ध दशा में यह आत्मा न मोह करता है, न संशय करता है, न अपने जानने योग्य पदार्थ में भ्रम भाव रखता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु प्रति समय अपने स्वरूप में लीन है। तीन काल सम्बन्धी सर्व जानने योग्य पदार्थ जैसे हैं उनको वैसे ही तथा अपने को भी जानते देखते हुए वह प्रभु तब वीतरागी बने रहते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य व तृष्णा का अभावमयी और अविनाशी, अतीन्द्रिय तथा अव्यय सहज सुख को वे अनुभव करते रहते हैं। इन्द्रियों से पदार्थों को भोगने पर तो सुख हो सकता है परन्तु मोक्ष में इन्द्रियों के अभाव में किस तरह सुख होता होगा। यदि तू ऐसी शका करे तो ठीक नहीं है।

हे वत्स ! तू अभी भी सुख तथा दुःख का स्वरूप नहीं पहचानता है। मोक्ष का सहज सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रियों से अतीत है, अविनाशी है, चार घाति कर्म के क्षय से उत्पन्न है। जो संसार का सुख है वह राग रूप है, क्षणिक है, अपने व पर पदार्थ के होने पर होता है तथा तृष्णा के ताप को बढ़ाने वाला है। मोह,द्वेष,मद,क्रोध,माया, लोभ का कारण है अतएव दुःख फलदायी कर्म बन्ध का कारण है इसलिए वह दुःख रूप ही है। विषयों से सुख की कल्पना होने में मोह की महिमा है। जैसे श्लेष्मा के रोगी को कड़वे पटोल भी स्वादिष्ट भासते हैं। जो सुख चक्रवर्ती राजाओं को है व जो सुख स्वर्ग में देवों को है वह परमात्मा के सहज सुख की किंचित् भी तुलना नहीं कर सकता है।

(१८) श्री पात्रकेशरी मुनि पात्रकेशरी स्तोत्र में कहते हैं :—

परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्राथ्यंते ।
सुखं युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययं ।।
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं ।
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं ।।२८।।

भावार्थ—दूसरे जो यथार्थ देव नहीं हैं, जिनको सच्चासुख प्राप्त नहीं है वे पर पदार्थ से उत्पन्न स्त्री सेवनादि के सुख की कांक्षा रखते हैं किन्तु आप तो परमात्मा हैं, आपको पर पदार्थ से सुख नहीं है, आपका सहज सुख न बदलने वाला स्वाधीन अविनाशी व निरुपम है।

(१९) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं :—

जा किंचिवि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो॥६०॥

भावार्थ—ध्यानी योगी का मन ध्यान मे जब तक चंचल है तब तक वह परम सहज सुखकारी परमानन्द का लाभ नहीं कर सकता है।

(२०) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं :—

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसञ्जमसञ्जुत्तु।
तउ लहु पावइ सिध्द सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु॥३०॥

भावार्थ—जो कोई व्रत व संयम सहित होकर निर्मल आत्मा को ध्याता है वह शीघ्र ही सहज सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

अप्पया अप्पु मुणंतयहं किण्णेहा फलु होइ।
केवलणाणु विपरिणवइ सासय सुक्खु लहेइ॥६१॥

भावार्थ—आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का मनन करने से क्यो नहीं अपूर्व फल होता है—केवल ज्ञान पैदा हो जाता है तथा अविनाशी सहज सुख को प्राप्त कर लेता है।

सागारु वि णागारहु वि जो अप्पाणि वसेई।
सो पावइ लहु सिध्दसुहु जिणवरु एम भणेइ॥६४॥

भावार्थ—गृहस्थ हो या साधु हो, जो कोई आत्मा में रमण करेगा वह तुरत सहज सिद्ध सुख पावेगा ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

जो सम्मत्तपहाणु वुहु सो तयलोय पहाणु।
केवलणाण वि सह लहइ सासयसुक्खणिहाणु॥९०॥

भावार्थ—जो ज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्रधानता से धरता है वह तीन लोक में मुख्य है, वही अविनाशी सहज सुख के भण्डार केवल ज्ञान को पा सकेगा।

जो समसुक्खणिलीण बुहु पुण पुण अप्प मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ।।९२।।

भावार्थ—जो बुद्धिमान् सहज सम सुख में लीन होकर बार बार आत्मा का ध्यान करता है वह शीघ्र निर्वाण को पाता है।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खलहीणु ।।९४।।

भावार्थ—जो इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वही सर्व शास्त्रों को जानता है तथा वही अविनाशी सहज सुख में लीन है।

वज्जिय सयलवियप्पयहं परमसमाहि लहंति ।
जं वेदवि साणन्द फुडु सो सिवसुक्ख भणन्ति ।।९६।।

भावार्थ—जो सर्व संकल्प विकल्पों से रहित होकर परम समाधि को पाते हैं। वे जिस सहज सुख को पाते हैं वही मोक्षसुख कहा गया है।

(२१) श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातङ्कशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलःशश्वदात्मानपायः ।।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः।१२०।

भावार्थ—जो कोई बाधारहित, आत्मीक, स्थिर, निर्मल सहज सुख को प्राप्त करना चाहते हैं, उन चतुर पुरुषों को उचित है कि जन्म मरण से भयभीत हो, ससार के भ्रमण से उदासीन हो, इन्द्रियों को संकोच कर उस परमात्मा का चिन्तवन करें जो सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोक से रहित हैं, अपने स्वभाव में लीन हैं, सर्व मलरहित हैं व सदा अविनाशी हैं।

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः ।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ।।

सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से ।
सुखममलमनन्तं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ।।६६।।

भावार्थ—हे भव्य ! जैसा तू परिश्रम शरीर रक्षा, धन प्राप्ति व पुत्र लाभ के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य इन छः प्रकार की आजीविकाओं से करता है, यदि वैसा परिश्रम एक दफे भी संयम के लिए करे तो क्यों नहीं निर्मल, अनन्त, सहज सुख को भोग सकेगा ? अर्थात् अवश्य परमानन्द को पावेगा।

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि धम्मरसायण में कहते हैं—

अव्वावाहमणंतं जह्मा सोक्खं करेइ जीवाणं ।
तह्मा संकरणामो होइ जिणो णत्थि सन्देहो ।।१२५।।

भावार्थ—जिस जिनेन्द्र के स्वरूप के ध्यान से जीवों को बाधारहित व अनन्त सहज सुख प्राप्त होता है उस जिनेन्द्र को इसलिए शंकर के नाम से कहते हैं।

जइ इच्छय परमपयं अव्वावाहं अणोवमं सोक्खं ।
तिहुवणवंदियचलणं णमह जिणंदं पयत्तेण ।।१३१।।

भावार्थ—यदि तू बाधारहित, अनुपम, सहज सुख से पूर्ण परमपद को चाहता है तो तीन लोक से बन्दनीक हैं चरण जिनके ऐसे जिनेन्द्र को भावसहित नमस्कार कर।

ण वि अत्थि माणुसाणं आदसमुत्थं चिय विषयातीदं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं अणोवमं जं च सिद्धाणम् ।।१६०।।

भावार्थ—सिद्धों को जैसा आत्मा से उत्पन्न, विषयों से अतीत, अनुपम, अविनाशी सुख है वैसा सुख मनुष्यों को भी नहीं है।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं—

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः ।
एतेन निर्जिता यावत्तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ।।२६।।

भावार्थ—जब तक मनुष्य काम, क्रोध, मोह इन तीन शत्रुओं को न जीतें तब तक सहज सुख कैसे मिल सकता है ?

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः ।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः ।।५८।।

भावार्थ—पर पदार्थ से राग हटा कर तुझे धर्म का पालन सदा करना चाहिये, जो सहज व उत्तम सुख देता ही रहता है व अन्त में निर्वाण पहुँचा देता है।

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ।।६३।।

भावार्थ—दुःखरूपी रोग को नाश करने वाले धर्म रूपी अमृत का पान सदा ही करना चाहिए जिसके पीने से सदा ही जीवों को सहज व उत्तम सुख होता रहता है।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरुत भो यत्नं यत्रानन्तसुखप्रदे ।।७२।।
यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः ।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ।।७३।।

भावार्थ—जीवों को धर्म ही सदा दुःख संकटों से रक्षा करने वाला है। इसलिए इस अनन्त सुख के दाता धर्म में प्रयत्न करना चाहिए। तूने प्रसन्न मन होकर अब तक मोक्ष सुख को देने वाले धर्म का साधन नहीं किया इसी से तू दुःखी रहा है।

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा स्वात्मानं वशमानयेत् ।
येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ।।१३४।।

भावार्थ—इन्द्रियों के फैलाव को रोक कर अपने आपको तू वश में कर, तब तू अवश्य निर्वाण के सहज सुख को पा सकेगा।

रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च ।
संगे संगं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ।।१८१।।

भावार्थ—क्रोध से भले प्रकार क्रोध करके, मान में मान को पटक कर, परिग्रह में परिग्रह को छोड़कर, स्वाधीन सहज सुख का लाभ कर।

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ॥२२६॥

भावार्थ—आर्त ध्यान व रौद्र ध्यान को त्यागने से व धर्म तथा शुक्ल ध्यान को करने से यह जीव निर्वाण का अनन्त व अविनाशी सहज सुख प्राप्त करता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥२३५॥

भावार्थ— सर्व पर पदार्थों से ममता त्याग देने पर व आत्मा में स्थिति प्राप्त करने पर सदा ही परम उत्कृष्ट सहज सुख प्राप्त होता है जो संसार की स्थिति छेद डालता है।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ॥२६७॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक भेद विज्ञान, सर्व से मैत्री भाव, समता व दया इनकी सदा सेवा करनी चाहिए। इन ही से निर्वाण का सहज सुख प्राप्त होता है।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ॥३०१॥

भावार्थ—जो आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन सुख है उसी को विद्वानों ने सुख कहा है। जो पराधीन इन्द्रिय सुख है वह सुख नहीं है वह तो दुःख ही है।

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां ।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं कुरु ॥३०२॥

भावार्थ—बडे तेजस्वी राजाओं को भी पराधीन सुख दुखदा-होता है इसलिये ऐसा विचार कर आत्माधीन सहज सुख का लाभ कर

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ॥३०४॥

भावार्थ—मोक्ष के कारणभूत उत्तम सहज सुख परिग्रह की ममता से पैदा नही होता है। परिग्रह से तो ससार का कारण दुःख ही होता है।

(२४) श्री पद्मनन्दी मुनि सिद्धस्तुति में कहते हैं—

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः ।
बद्धोत्यंश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकं ॥
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः ।
किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः॥८॥

भावार्थ—यदि किसी पुरुष को किसी ने बहुत दुःखदाई बन्धनों से क्रोध में आकर सिर से पग तक बाँधा हो उसका यदि एक भी बन्धन शिथिल हो जावे तौ वह सुख मान लेता है।

सिद्ध भगवान जब सर्व बाहरी भीतरी बन्धनो से सदा ही रहित हैं तब वे सहज सुख के भोक्ता क्यों न रहेंगे ? अवश्य रहेंगे।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधय-
स्तेषामन्नजलादिकौषधिगणस्तच्छान्तये युज्यते ।
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिर्नि-
त्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम् ॥११॥

भावार्थ—जिन ससारी जीवो के कर्मों के उदय से क्षुधा, तृषा आदि अनेक रोग होते हैं, उन ही की शान्ति के लिये वे अन्न, जल, औषधि आदि का सग्रह करते हैं। सिद्धो के न तो कर्म हैं न कर्मकृत रोग हैं। इसलिये अन्नादिको से कोई प्रयोजन नही। वे नित्य आत्माधीन सहज सुख रूपी समुद्र मे मगन रहते हुए सदा ही तृप्त रहते हैं।

(२५) श्री पद्मनन्दी मुनि धर्मोपदेशामृत में कहते हैं—

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते ।
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वांते समुन्मीलति ॥
यस्यैकस्मृतिमात्रतोपि भगवानवत्रै देहांतरे ।
देवः तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावति १४६॥

भावार्थ—जब मोह रूपी अन्धकार दूर हो जाता है, तब ज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है, उसी समय अन्तरंग में सहज सुख का अनुभव होता है, तथा कृतकृत्यपना झलकता है। जिसके स्मरण मात्र से ही ऐसी ज्ञान ज्योति प्रगट होती है। उस भगवान आत्मा देव को तू शीघ्र ही इस देह के भीतर खोज। बाहर और कहाँ दौडता है?

भिन्नोहं वपुषो बहिर्मलकृताज्ञानाविकल्पौघतः ।
शद्वादेश्च चिदेकमूर्तिमरलः शांतः सदानंदभाक् ।।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारंभिणः ।
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ।।१४८।।

भावार्थ—मैं मल से रचे हुए इस बाहरी शरीर से भिन्न हूँ तथा मन के विकल्पों से भी भिन्न हूँ शब्दादि से भी भिन्न हूँ, मैं एक चेतना मूर्ति हूँ निर्मल हूँ शान्त हूँ सदा सहज सुख का धारी हूँ। जिसके चित्त मे ऐसी श्रद्धा हो व जो शान्त हो आरम्भ रहित हो उसको ससार से क्या भय? तब और भय का कोई कारण नही है।

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्ववित् ।।१५०।।

भावार्थ—वही तत्वज्ञानी है, जिसके चित्त में यह श्रद्धा है कि निरंतर अभ्यास मे आये हुए इन्द्रिय भोगो का सुख असत्य है, किन्तु आत्मा से उत्पन्न सहज सुख अपूर्व है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्व सप्तति में कहते हैं —

सम्यग्दृग्बोधचारित्रं त्रितयं मुक्तिकारणम् ।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ।।१३।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। मुक्ति में ही सहज सुख अनन्त है इसलिये मुक्ति का यत्न करना चाहिये।

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितं ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ।।१८।।

स एवामृतमार्गस्थ स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ।।१९।।

भावार्थ—जो कोई जन्म रहित, एक स्वरूप, उत्कृष्ट, शान्त, व सर्व रागादि की उपाधि रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर आत्मा में थिर हो जाता है वही सहजानन्दमई मोक्ष मार्ग में चलने वाला है, वह सहजानन्दमई अमृत को पीता है, वही अर्हंत् हैं, वही जगन्नाथ है, वही प्रभू है, वही ईश्वर है।

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञानेन किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ।।२०।।

भावार्थ—यह उत्कृष्ट आत्मा रूपी तेज है ; वह केवल ज्ञान, केवल दर्शन, सहजानन्द स्वभाव का धारी है। जिसने उसको जान लिया उसने क्या नहीं जाना, जिसने उसको देख लिया उसने क्या नहीं देखा, जिसने उसको आश्रय किया उसने क्या नहीं आश्रय किया ?

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ।।५०।।

भावार्थ—यह ज्ञानानन्द रूप आत्मा ही अविनाशी और अनन्त सहज सुख रूपी फल को देने वाले मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज है।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ।।५२।।

भावार्थ—यह शुद्ध चैतन्य है सो ही मैं हूँ, कोई संशय की बात नहीं है। वह सर्व कल्पनामय नयों से रहित है व सहज आनन्द का मन्दिर है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ।।६७।।

भावार्थ—समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है। समता भाव ही सहजानन्द का अविनाशी मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यह मोक्ष महल का एक द्वार है।

(२७) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ।।४-८।।

भावार्थ—जहाँ अतीन्द्रिय, इन्द्रियो के विषयो से रहित, अनुपम, स्वाभाविक, अविनाशी, सहज सुख है वही मोक्ष कहा गया है।

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ।।३५-१८।।

भावार्थ—मैं नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसे ज्ञानी अपने भीतर अपने को देखता है।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ।।३—२१।।

भावार्थ—वीतरागी मुनि के शान्त भाव पूर्वक जो सहज सुख प्राप्त होता है उसका अनन्तवा भाग भी सुख इन्द्रा को नही मिलता।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ।।१८—२३।।

भावार्थ—वीतरागी महात्मा को ऐसा कोई परमानन्द उत्पन्न होता है जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बंधविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ।।१८-२४।।

भावार्थ—जिस योगी के समभाव है उसीके ही निश्चल सहज सुख है, उसीके ही बंध का नाश है, उसीको ही अविनाशी पद प्राप्त होता है।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ।।१३-३१।।

भावार्थ—मैं अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख रूप ही हूँ, क्यो मैं अपने प्रतिपक्षी कर्म रूप विष के वृक्ष को आज उखाड़ न डालूंगा ?

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणं ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ।।६४-३२।।

भावार्थ—जो जो पदार्थ इन्द्रियों का विषय है वह मेरे आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है। मेरा स्वभाव तो सहजानन्द से पूर्ण अन्तरंग में ज्ञान ज्योतिमय है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतं ।
चिदानंदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।९९-३२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आप ही से जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनों से कहने योग्य नहीं हूँ, अमूर्तीक हूँ, कल्पना रहित हूँ, व चिदानन्दमयी हूँ।

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ।।७३-४२।।

भावार्थ—सिद्धात्मा शरीर रहित है, इन्द्रियों से रहित है, विकल्प रहित है, कर्ममल रहित है, अनन्त वीर्य धारी है, नित्य सहजानन्द में मग्न है।

(२८) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञान-तरंगिणी में कहते हैं :—

स कोपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ।।४-२।।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप के ध्यान से कोई ऐसा ही सहज परमानन्द होता है उसका अंश भी इन्द्रादि को प्राप्त नहीं होता।

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाद्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंदमंदिरं ।।१६-२।।

भावार्थ—जो योगी मोक्ष सम्पदा को प्राप्त हो चुके होंगे व हो रहे हैं उसमें शुद्ध चिद्रूप का ध्यान ही प्रधान कारण है, वही सहजानन्द का घर है।

चिद्रूपः केवल; शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपित; ।।२२-३।।

भावार्थ—मैं चैतन्य रूप हूँ, असहाय हूँ, शुद्ध हूँ, सहजानन्दमय हूँ, ऐसा स्मरण कर मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का क्या उपदेश है उसे आगे श्लोक में कहा गया।

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥१६-४॥

भावार्थ—सर्व ही कार्यों में शुद्ध चिद्रूप का चिन्तवन सुख से साध्य है क्योंकि यह अपने ही आधीन है तथा इस चिन्तवन से इस लोक में भी सहज सुख होता है और परलोक में भी होता है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१८-४॥

भावार्थ---विषयो के भोगने मे प्राणियो को दुःख ही होता है क्योंकि वहाँ आकुलता है किन्तु शुद्ध चिद्रूप के अनुभव से सुख ही होता है क्योंकि वहाँ निराकुलता है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥११-६॥

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्यरूप हूँ, इसलिये मैं उसीको देखता हूँ उसी से मुझे सहज सुख प्राप्त होता है। जिनागम का भी यही निचोड़ है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से ससार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥१२-६॥

भावार्थ---केवल, शुद्ध, नित्य सहजानन्दमई शुद्ध चिद्रूप स्वरूप जो अपना स्वभाव उसमें जो सदा ठहरता है वही निश्चय से स्वस्थ कहा जाता है।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५-८॥

भावार्थ—आत्म ध्यान के बिना और किसी उपाय से उत्तम सहज

सुख नहीं हो सकता है। आत्म ध्यान से बढ़कर और कोई तप नहीं है। आत्म ध्यान से बढ़कर कही व किसी काल में कोई मोक्ष मार्ग नहीं है।

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं॥८-१५॥

भावार्थ—चिदात्मा में रंजायमान होने वाले परिणाम को विभाव कहते हैं। परन्तु जो आकुलता रहित शुद्ध चिद्रूप में भाव हो तो वह स्वभाव है इसी स्वभाव में तन्मय हुए बिना सच्चा सहज सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

वाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं।
अन्तःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं॥११-१६॥

भावार्थ—बाहरी स्त्री पुत्रादिकी सगतिके त्यागने से ही जब सहज सुख होता है तो अतरङ्ग में सर्व रागदि व विकल्पो के त्याग से और भी अधिक सहज सुख क्यों नही होगा ?

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम॥१०-१७॥

भावार्थ—मेने बहुत वार विकल्पमय सांसारिक सुख को भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है। इसलिये उस सुख की तृष्णा छोड़ कर अब मेरी इच्छा निर्विकल्प सहज सुख पाने की है।

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत्॥११—१७॥

भावार्थ—रागभाव पूर्वक चित्त से जो पदार्थों को जाना जाता है, उस से प्राणियों को आकुलतारूप दुःख होता है, परन्तु वीतराग भाव से जो पदार्थों को जाना जावे तो सहज सुख ही है यह निश्चय है।

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला॥१३—१७॥

भावार्थ—चिंता दुःखकारी है, शांति सुखकारी है, यह बात जिस शांति के अनुभव से मालूम होती है वह निश्चल शांति तब ही होगी जब शुद्ध चिद्रूप में लयता प्राप्त होगी।

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं।।१७—१७।।

भावार्थ—जो कोई रागद्वेषादि छोड़ कर सर्व पदार्थों को जानता है उसे निराकुलता रहती है, उसी के वह सच्चा तत्वरूप सहज सुख होना है ।

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ।।५—१८।।

भावार्थ—जो योगी सकल्प विकल्प त्याग कर शुद्ध चिद्रूप में लय हाता है उसी को एक हो साथ सच्चा सहज सुख भी मिलता है व कर्म की निर्जरा भी होती है ।

(२९) श्री प० बनारसीदासजी बनारसी विलास मे कहते हैं—

सर्वया ३१ ।

लव रूपातीत लागो पुण्य पाप भ्राति भागी,
सहज स्वभाव मोह सेनावल भेद की ।
ज्ञान की लबधि पाई आतम लबधि आई,
तेज पु ज काति जागी उमग अनन्द की ।।
राहु के विमान बढे कला प्रगटत पूर,
होत जगा जोत जैसे पूनम के चद की।
बनारसीदास ऐसे आठ कर्म भ्रम भेद,
सकति सभाल देखी राजा चिदानद को ।।१४।।

(३०) पं० बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं—

कवित्त ।

जब चेतन संभारि निज पौरुष, निरखे निज दृगसों निज मर्म ।
तब सुखरूप विमल अविनाशिक, जाने जगत शिरोमणि धर्म ।।
अनुभव करै शुद्ध चेतन को, रमे स्वभाव वमे सब कर्म ।
इहि विधि सधे मुकति को मारग, अरु समीप आवै शिवशर्म।।५।।

सवैया २३ ।

राग विरोध उदै जबलों तबलों, यह जीव मृषा मग धावे ।
ज्ञान जग्यो जब चेतन को तब, कर्म दशा पर रूप कहावे ।।

कर्म बिलक्ष करे अनुभौ तहाँ, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावे।
मोह गये उपजे सुख केवल, सिद्ध भयो जगमाँहि न आवे।।५८।।

छप्पै।

जीव कर्म सयोग, सहज मिथ्यात्वस्वरूप धर।
राग द्वेष परणति प्रभाव, जाने न आप पर।।
तम मिथ्यात्व मिटि गये, भये समकित उद्योत शशि।
राग द्वेष कछु वस्तु नाहि, छिन माँहि गये नशि।।
अनुभव अभ्यास सुख राशि रमि, भयो निपुण तारण तरण।
पूरण प्रकाश निहचल निरखि, बनारसी वदत चरण।।५६।।

छप्पै।

प्रगट भेदविज्ञान, आपगुण परगुण जाने।
पर परणति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठाने।।
करि अनुभौ अभ्यास सहज सवर परकासे।
आश्रव द्वार निरोधि, कर्मघन तिमिर विनासे।।
क्षय करि विभाव सम भाव भजि, निरविकल्प निज पर गहे।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, परम अतीद्रिय सुख लहे।।११।।

सवैया २३

शुद्ध सुछद अभेद अबाधित, भेद विज्ञान सु तीछन आरा।
अन्तर भेद स्वभाव बिभाव, करे जड चेतनरूप दुफारा।।
सो जिन्ह के उर मे उपज्यो, ना रुचे तिन्ह को परसंग सहारा।
आतम को अनुभौ करिते, हरखे परखे परमातम प्यारा।।३।।

(३१) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं—

छप्पै

जीव चेतनासहित, आपगुन परगुन जानै।
पुग्गलद्रव्य अचेत, आप पर कछु न पिछानै।।
जीव अमूरतिवन्त, मूरती पुग्गल कहियै।
जीव ज्ञानमयभाव, भाव जड़ पुग्गल लहिये।।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ जो पर तजि अनुभौ करै।
सो परम अतिन्द्री सख सधा भुंजत भौसागर तिरै।।८३।।
यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखंडित।
असंख्यातपरदेस, नित्य निरमै मैं पंडित।।
एक अमूरति निर उपाधि मेरो छय नाहीं।
गुनअनन्तज्ञानादि, सर्व ते हैं मुझ माहीं।।

मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुख अनन्त मो मैं लसैं ।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्धक्षेत सहजें बसैं ।।८४।।
सुनहु हंस यह सीख, सीख मानो सदगुर की ।
गुर की आन न लोपि, लोपि मिथ्यामति उर की ।।
उर की समता गहो, गहो आतम अनुभौ सुख ।
सुख सरूप थिर रहै, रहै जग मैं उदास रुख ।।
रुख करौ नहीं तुम विषय पर, पर तजि परमातम मुनहु ।
मुनहु न अजीव जड नाहिं निज, निज आतम बर्नन सुनहु ।।८८।।
भजत देव अरहत, हृत मिथ्यात मोहकर ।
करत सुगुरु परनाम, नाम जिन जपत सुमन घर ।।
धरम दयाजुत लखत, लखत निज रूप अमलपद ।
परम भाव गहि रहत, रहत हुव दुष्ट अष्ट मद ।।
मदन बल घटत समता प्रगट, प्रगट अभय ममता तजत ।
तजत न सुभाव निज अपर तज,तज सुदुःख सिव सुख भजत।।८९।।
लहत भेद विज्ञान, ज्ञानमय जीव सु जानत ।
जानत पुग्गल अन्य, अन्यसौं नातौ भानत ।।
भानत मिथ्या तिमिर, तिमिर जासम नाहिं कोई ।
कोई विकलप नाहि, नाहि दुविधा जस होई ।।
होई अनन्त सुख प्रगट जब, जब प्रानी निजपद गहत ।
गहत न ममत लखि गेय सब, सब जग तजि सिवपुर लहत ।।९०।

कुण्डलिया ।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव ।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी ।
आनदकद सुछद, चद पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिन भंगुर सो सो ।
सुख कहि सकै न कोइ, होइ जाकों जानै जो ।।९।।
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल ।
सुर्गइंद्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ।।
अधिक अधिक सुख भाल, काल तिहुँ नत गुनाकर ।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातमपद धर ।।
सो निहचै तू आप, पापबिन क्यो न पिछानत ।
दरस ग्यान थिर थाप, आपमैं आप सु द्यानत ।।११।

छप्पै

ग्यान कूप चिद्रूप, रूप सिवरूप अनूपम ।
रिद्ध सिद्ध निज वृद्ध, सहज समृद्ध सिद्ध सम ।।
अमल अचल अविकल्प,अजल्प, अनल्प सुखाकर ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सगन-गन-मनि-रतनाकर ।।
उतपात--नास--ध्रुव साध सत, सत्ता दरव सु एकही ।।
द्यानत आनन्द अनुभौ दसा, बात कहन की है नहीं ।।३।।

भोग रोग से देखि, जोग उपयोग बढायौ ।
आन भाव दुख दान, ग्यान कौ ध्यान लगायौ ।
सकलप विकलप अलप, बहुत सब ही तजि दीनै ।
आनन्दकन्द सुभाव, परम समतारस भीनें ।।
द्यानत अनादि भ्रमवासना, नास कुविद्या मिट गई ।
अन्तर बाहर निरमल फटक, फटक दसा ऐसी भई ।।१०।।

सवैया २३

लोगनि सौं मिलनौं हमकौं दुःख, साहनिसौं मिलनौं दुख भारी ।
भूपति सौं मिलनौं मरनें सम, एक दसा मोहि लागति प्यारी ।।
चाह की दाह जजें जिय मूरख, बेपरवाह महा सुखकारी ।
द्यानत याही तें ग्यानी अबंछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।

(३२) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास में कहते हैं :—

सवैया ३१

औधिति निकन्द होय कर्म बन्ध मन्द होय,
प्रगटे प्रकाश निज आनन्द के कन्द को ।
हित को दृढाव होय विनैको बढ़ाव होय,
उपजे अंकुर ज्ञान द्वितीया के चन्द को ।
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करै मोह फन्द को ।
सुख भरपूर होय दोष दुःख दूर होय,
याते गुण वृन्द कहैं सम्यक् सुछन्द को ।। ८ ।।

सवैया २३

चेतन ऐसे में चेतत क्यों नहि, आय बनी सब ही बिधि नीकी ।
है नर देह यो आरज खेत, जिनन्द की बानि सु बूंद अमी की ।।

तामें जु आप गहो थिरता तुम, तौ प्रगटे महिमा सब जी की।
जामें निवास महासुख वास सु, आय मिलै पतियाँ शिवतीकी ॥२३॥

द्रुमलता छन्द

इक बात कहूँ शिवनायक जी, तुम लायक ठौर कहाँ अटके।
यह कौन विचक्षन रीति गही, बिनु देखहि अक्षनसों भटके॥
अजहू गुण मानो तौ सीख कहूँ, तुम खोलत क्यों न पटै घटके।
चिनमूरति आपु विराजत है, तिन सूरति देखे सुधा गटके॥१०॥

सवैया ३३

जाही दिन जाही छिन अन्तर सुबुद्धि लसी,
ताही पल ताही समैं जोतिसी जगति है।
होत है उद्योत तहाँ तिमिर विलाइ जातु,
आपापर भेद लखि ऊरधव गति है॥
निर्मल अतीन्द्री ज्ञान देखि राय चिदानन्द,
सुख को निधान याकै माया न जगति है।
जैसो शिव खेत तैसो देह मे बिराजमान,
ऐसो लखि सुमति स्वभाव में पगति है॥३४॥

कवित्त

निश दिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवे नाहि फेरिके।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिके॥
ब्रह्म को विलास करो, आतम निवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकै।
अनुभो अभ्यास करो थिरता में वास करो,
मोक्ष सुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकै॥६४॥

× × ×

तेरो ही स्वभाव चिनमूरति विराजितु है,
तेरो ही स्वभाव सुख सागर में लहिये।
तेरो ही स्वभाव ज्ञान दरसन हू राजतु है,
तेरो ही स्वभाव ध्रुव चारित में कहिये॥
तेरो ही स्वभाव अविनाशी सदा दीसतु है,
तेरो ही स्वभाव परभाव में न गहिये।

तेरो ही स्वभाव सब आन लसैं ब्रह्ममाहि,
यातें तोहि जगत को ईश सरदहिये ।। १ ।।

सवैया ३१

नेकु राग द्वेष जीत भये वीतराग तुम,
तीन लोक पूज्यपद येहि त्याग पायो है।
यह तो अनूठी बात तुम ही बताय देहु,
जानी हम अब ही सुचित्त ललचायो है ।।
तनिकहू कष्ट नाहिं पाइये अनन्त सुख,
अपने सहज माहिं आप ठहरायो है।
या में कहा लागत है, परसग त्यागत ही,
जारि दीजे भ्रम शुद्ध आप ही कहायो है ।। ३ ।।
मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारे जाहिं,
राग द्वेष टारे मोह नेक हू न पाइये।
कर्म की उपाधि के निवारिवेको पेच यहै,
जड़ के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइये ।।
डार पात फल फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइये।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
विलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइये ।। ८ ।।

कवित्त

सिद्ध की समान है विराजमान चिदानन्द,
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये।
कर्म को कलक अग पक ज्यो पखार हर्यो,
धार निज रूप परभाव त्याग दीजिये ।।
थिरता के सुख को अभ्यास कीजे रैन दिना,
अनुभौके रस को सुधार भले पीजिये।
ज्ञान को प्रकाश भास मित्र की समान दीसै,
चित्र ज्यौं निहार चित ध्यान ऐसौ कीजिये ।। ३ ।।

छप्पै

अष्ट कर्मतें रहित, सहित निज ज्ञान प्राण धर।
चिदानन्द भगवान, बसत तिहूँ लोक शीस पर ।।
विलसत सुखबु अनन्त, सन्त ताको नित ध्यावहि।
वेदहि ताहि समान, आयु घट माहिं लखावहि ।।

हम ध्यान करहि निर्मल निरखी, गुण अनन्त प्रगटहिं सरव।
तस पद त्रिकाल वन्दत भविक, शुद्ध सिद्ध आतम दरव ॥ ७ ॥

राग दोष अरु मोहि, नाहिं निजमाहिं निरक्खत।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत॥
पर द्रव्यन सों भिन्न, चिह्न चेतन पद मण्डित।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखण्डित॥
सुख अनन्त जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्रीजिनन्द इहि विधि कहत ॥१४॥

जैन धर्म परसाद, जीव मिथ्या मति खण्डे।
जैन धर्म परसाद, प्रकृति उर सात विहण्डे॥
जैन धर्म परसाद, द्रव्य षट को पहिचानै।
जैन धर्म परसाद, आप परको ध्रुव ठानै॥
जैन धर्म परसाद लहि, निज स्वरूप अनुभव करै।
'भैया' अनन्त सुख भोगवै, जैन धर्म जो मन धरै ॥२१॥

जैन धर्म परसाद, जीव सब कर्म खपावै।
जैन धर्म परसाद, जीव पंचमि गति पावै॥
जैन धर्म परसाद, बहुरि भव में नहिं आवै।
जैन धर्म परसाद, आप परब्रह्म कहावै॥
श्री जैन धर्म परसादतें, सुख अनन्त विलसन्त ध्रुव।
सो जैन धर्म जयवन्त जग, भैया जिहँ घट प्रगट हुव ॥२२॥

सवैया ३१

सुबुधि प्रकाश में सु आतम विलास में सु,
थिरता अभ्यास में सुज्ञान को निवास है।
ऊरध की रीति में जिनेश की प्रतीति में सु,
कर्मन की जीत में अनेक सुख भास है॥
चिदानन्द ध्यावत ही निज पद पावत ही,
द्रव्य के लखावत ही, देख्यो सब पास है।
वीतराग वानी कहै सदा ब्रह्म ऐसे भास,
सुख में सदा निवास पूरन प्रकाश है ॥२४॥

—:(०):—

अध्याय पांचवा

जीव का एकत्व।

इस ससार में इस जीव को अकेले ही भ्रमण करना पड़ता है। हर एक जीव अकेले ही जन्मता है, अकेले ही मरता है। अकेला ही जरा से पीड़ित होता है, अकेला ही रोगी होता है। अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही दु:खी होता है। अकेला ही सुखी होता है, अकेला ही पाप व पुण्य कर्म बांधता है व अकेला ही उसका दु:ख व सुख भोगता है। हर एक जीव अपनी करनी का आप उत्तरदायी है। जो जीव जैसे भाव करता है वह जीव वैसे कर्म बांधता है। दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य बन्ध नहीं कर सकता है, न दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य के बन्ध को हर सकता है, किसी के दु:ख को कोई ले नहीं सकता है, किसी के सुख को कोई छीन नहीं सकता है। दु:ख सुख अन्तरग भावों पर है, भावों का बदलना अपने ही आधीन है।

जिस कुटुम्ब में या जिस संयोग में कोई जन्मता है उसको यह अपना साथी मान लेता है परन्तु वे इस जीव के सच्चे साथी नहीं हो सकते हैं। माता पिता पास बैठे हैं यदि पुत्र रोगी है तो रोग का दुःख उसी को ही भोगना पड़ता है—माता पिता बँटा नहीं सकते हैं। यदि कोई भूखा है तो उसी को भोजन करने से उसकी भूख मिटेगी। दूसरे के भोजन से किसी की भूख मिट नहीं सकती है। कुटुम्ब में प्राणियों का सम्बन्ध वृक्ष पर बसेरे के समान है। जैसे साँझ के समय भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर विश्राम करते हैं, सबेरा होने तक ठहरते हैं, फिर हर एक पक्षी अपनी इच्छानुसार अपनी भिन्न-भिन्न दिशा को चला जाता है। उसी तरह एक कुटुम्ब में कोई जीव नर्क से, कोई जीव स्वर्ग से, कोई जीव पशु गति से, कोई जीव मनुष्य गति से आकर जन्मता है। वे सब अपनी-अपनी आयु पर्यन्त रहते हैं, जिसकी आयु पूरी हो जाती है वह सब को छोड़कर चला जाता है, कोई किसी के पीछे मरता नहीं।

जो पाप व पुण्य व जैसा आयुकर्म जो जीव बांधता है उसके अनुसार वह जीव चारों गतियों में से किसी गति में चला जाता है। चार सगे भाई हैं। एक विशेष धर्मात्मा है वह मर कर देव हो जाता है। एक सामान्य धर्मात्मा है वह मर कर मनुष्य हो जाता है। एक कम पापी है वह मर कर पशु जन्म पाता है। एक अधिक पापी है वह मर कर नारकी पैदा हो जाता है, फिर कोई किसी को याद भी नहीं करता है। साधारण नियम यही है कि हर एक अपने-अपने सुख व दुःख में रम जाता है।

यदि कोई गृहस्थी अपने कुटुम्ब के मोहवश स्त्री व पुत्रादि के मोहवश अन्याय व पाप कर के धनादि सग्रह करता है और कुटुम्ब की उस पाप में अनुमोदना नहीं है तो उस पाप का बध अकेले गृहस्थी को ही होगा। दूसरे यद्यपि साथ हैं, उस धन को भोगते हैं परन्तु उन का भाव पापमय न होने से वे उस पापके फलको न पावेंगे। एक कुटुम्ब में दशजीव हैं। एक आदमी चोरी करके सौ रुपये लाता है। पाँच तो उसे सराहते हैं, ५ उसकी निन्दा करते हैं तब पहले पाँच तो पापकर्म बांधेंगे और दूसरे ५ पुण्य कर्म बाँधेंगे। एक घर में दो भाई हैं—दोनों भोग्य पदार्थों के स्वामी हैं, स्त्री पुत्रादि सहित हैं। एक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, वह उन के बीच में रहता हुआ भी जल में कमल के समान अलिप्त है, भोगों को रोग के

समान जान कर वर्तमान इच्छा को रोकने को असमर्थ हो कर कड़वी दवा लेने के समान भोग भोगता है। अतरग में यह भावना है कि कब वह समय आवे जब यह विषयवासना मिटे और मैं इन भोगों को न भोग कर केवल आत्मरस का ही पान करूं।

ऐसा ज्ञानी जीव भोगों को भोगते हुए आसक्त भाव के न होने से बहुत अल्प कर्मबन्ध करेगा। परन्तु दूसरा भाई जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है जिसका उद्देश्य ही संसार का विषयभोग है, जो सहज सुख को पहचानता ही नही, इन्द्रिय सुख के सिवाय किसी सुख को जानता ही नही, वह गृहस्थ के भोगों को बहुत बडी आसक्ति के भोगेगा व यही चाहेगा कि ये भोग सदा बने रहे व इस से बढ़ कर भोग जीवन भर मिले व परलोक में भी मिले, वह अज्ञानी तीव्र कर्म बांधेगा। एक भाई दूसरे के पाप को बँटा नहीं सकता है। मरने के बाद सम्यग्दृष्टी स्वर्ग में देव होगा, मिथ्यादृष्टी पशुगति में तिर्यंच होगा या नरक में नारकी होगा। कुटुम्ब में सर्व ही प्राणी अपने स्वार्थ के साथी हैं। अपना स्वार्थ जब तक सधता जानते हैं तब तक स्नेह करते हैं, जब स्वार्थ सधता नही जानते हैं तब स्नेह छोड बैठते हैं। यदि स्वार्थ में बाधा॰ होती है तो वे ही जो बन्धु थे शत्रु हो जाते हैं। पुत्र पिता की सेवा अपने शारीरिक सुख के लिये करता है। पिता पुत्र की पालना इस आशा से करता है कि मेरे वृद्ध होने पर यह मेरी रक्षा करेगा।

स्त्री पति का स्नेह अपने शरीर पालन व अपने कामतृप्ति का साधन जान के करती है। पति स्त्री के साथ स्नेह गृहकार्य, सन्तानप्राप्ति व कामतृष्णा के शमन हेतु करता है। यदि स्त्री पति को रसोई न खिलावे, घर का काम न करे, कामतृप्ति में सहाई न हो तो उसी क्षण पति का स्नेह मिट जाता है। पति यदि स्त्री को भोजन, वस्त्र, आभूषण न दे, उसकी रक्षा न करे, उस की कामतृप्ति में सहाई न हो तो स्त्री का स्नेह पति से उड़ जाता है। वृद्ध पिता घर का कामकाज नही कर सकता व धन भी पास नही रखता उस से कुटुम्बियों का स्नेह छूट जाता है। भीतर परिणाम यही रहते हैं कि यह बेकार है, इस का जीवन न रहे तब ही ठीक है। स्वामी सेवक से स्नेह प्रयोजनवश करता है, सेवक स्वामी से स्नेह

मतलब के हेतु से करता है। सारा जगत का व्यवहार स्वार्थ व परस्पर काम के ऊपर ही निर्भर है। किसान खेती कर के राजा को कर देता है तब राजा किसानों की रक्षा करता है। मुनीम सेठ का काम करता है तब सेठ मुनीम को नौकरी देता है। यदि काम न निकले तो एक दिन सेठ मुनीम को रखना नही चाहता और यदि सेठ नौकरी न दे तो मुनीम सेठ का काम छोड देता है। वही भाई जो एक ही माता के गर्भ से निकले हैं दूसरे भाई की सम्पत्ति हडप जाने के लिये शत्रु बन जाता है।

सारे जगत के प्राणी इन्द्रियो के सुखों के दास हो रहे हैं। जिनसे इन्द्रिय-सुखकी सहायक सामग्री प्राप्त करने में काम निकलता है उनसे तो स्नेह हो जाता है और जिन से विषयभोगो में अन्तराय पडता है उनसे द्वेष पैदा हो जाता है। इन्द्रिय विषय के मोह वश ही जगत मे मित्र व शत्रु बनते हैं। रागद्वेष का सारा प्रसार विषय चाह के आधीन है। मेरा शरीर है यह मानना भी भ्रम है, मिथ्या है क्योकि यह शरीर एक धर्म-शाला है, कही से आके जीव बसा है व आयुकर्म समाप्त होते ही इसे छोडना पडेगा। शरीर पुद्गलमय जड है,आप चेतन है। शरीरअपना कैसे हो सकता है। यह परिवार मेरा है, यह भी मिथ्या है। यह सब परिवार शरीर से सम्बन्ध रखता है। आत्मा का कोई परिवार नही है। आत्मा का कोई माता पिता नही, कोई भाई नही, कोई पति नही, कोई इस को भार्या नही, पुत्री नहीं, भगिनी नही, कोई इस का पुत्र नही, भाई नही, चाचा नहीं, भतीजा नही, सब सम्बन्ध शरीर से है जब शरीर ही अपना नही तब यह परिवार अपना कैसे हो सकता है? यह धन मेरा है, यह ग्राम मेरा है, यह घर मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह वाहन मेरा है, यह सब भी मानना मिथ्या है। इन सब का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर के छूटते ही उनका सम्बन्ध छूट जाता है। एक धनी जीव मर कर एक चाण्डाल के यहां जन्म प्राप्त कर लेता है तथा एक चाण्डाल का जीव मर कर धनी के यहां पैदा हो जाता है। देव मर कर कुत्ता हो जाता है, कुत्ता मर कर देव हो जाता है। सारा शरीर का सम्बन्ध भोग विलास, कुटुम्ब परिवार, मकान, बाग कूप, तड़ाग सब शरीर के साथ ही रह जाता है। यह जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्म को लिये हुए अकेला ही जाता है। और कही जन्म धार लेता है।

शरीर को व शरीर के सम्बन्ध में आए हुए सर्व चेतन व अचेतन पदार्थों को अपने मानना मिथ्या है, भ्रम है, अज्ञान है। इस जीव का सच पूछो तो संसार में कोई साथी नहीं है। यदि कोई परम प्यारी स्त्री भी हो तौ भी अपने पति के मरने पर ऐसा नही कर सकती कि उसके साथ ही कहीं पर जन्म लेकर फिर स्त्री होजावे। स्त्री मर के पुत्री हो जाती है, भगिनी हो जाती है या स्त्री अपने पाप कर्म के अनुसार तिर्यंचनी हो जाती है, और पति अपने पुण्य कर्म के अनुसार राजपुत्र हो जाता है। कोई बड़ा भारी मित्र है तौ भी मित्र के मरने पर उसके साथ न तो मर सकता है और यदि मरे भी तो एक साथ एक ही गति में जन्म पाने का कोई नियम नही है। एक मानव रोग से तडफड़ा रहा है। सैकड़ो कुटुम्बी मित्र, पुत्र, मित्रादि बैठे देख रहे हैं, सहानुभूति बता रहे हैं परन्तु यह किसी में शक्ति नही है कि उसके रोग को आप ले ले व उसकी रोग पीड़ा को आप ओढ लें। उसी अकेले को रोग का कष्ट भोगना पडता है। जगत मे यह नियम है कि यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख सुख भोगता है। इसलिये इस जीव को उचित है कि स्वार्थी जगत के प्राणियों के मोह मे पड कर अपना बुरा न करे। अपने आत्महित को कुटुम्बियों के पीछे छोड़ बैठे।

संसार असार है बता चुके, शरीर अपवित्र अथिर है समझा चुके, भोग चचल अतृप्तिकारी व दुःखदायी हैं यह कथन कर चुके, तथा सहज सुख ही सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा ही से मिल सकता है। इन्द्रिय सुख झूठा है, कल्पित है, विनाशीक है, आत्मिक सुख स्वाधीन है, अविनाशी है, अपने ही पास है, यह सब दिखा चुके। अब उचित है कि हर एक चेतन प्राणी इस मानव जन्म को सफल करे, सच्चे सुख को पाने का यत्न करें, वह सच्चा सुख भी कोई किसी को दे नही सकता, कोई किसी से ले नही सकता, किसी से मांगने से मिल नही सकता, खुशामद से प्राप्त नहीं हो सकता, धन खरचने से नही आ सकता है, कही रक्खा नही है जो उठाया जा सके। वह सुख हर एक का हर एक के पास हैं। हर एक आप ही अपने से ही अपने में अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त

कर सकता है। जो साधन करेगा वह पा सकेगा, जो आलसी रहेगा वह नहीं पा सकेगा ।

यह शरीर मेरा नही है यह बात प्रगट ही है, परन्तु आत्मा के एकत्व को या उस के एक स्वभाव को ध्यान में लेते हुए हमें यह भी देखना होगा कि संसारी प्राणियों में क्रोध कम या अधिक है, मान कम व अधिक है, माया कम व अधिक है, लोभ कम या अधिक है, हास्यभाव कम या अधिक है, रतिभाव कम या अधिक है, अरतिभाव कम या अधिक है, शोकभाव कम या अधिक है, भय भाव कम या अधिक है, जुगुप्सा या घृणाभाव कम या अधिक है, कामभाव कम या अधिक है, ये सब भाव क्या जीव के स्वभाव हैं या नही; इनका विचार भले प्रकार कर लेना उचित है। यदि पक्षपात छोड़ कर विचारा जायेगा तो इन क्रोध, मान, माया, लोभादि भावों को कोई भी पसंद नहीं करता है। सब ही इन को औपाधिक भाव, अशुद्धभाव, या दोष मानते हैं।

एक अनपढ ग्रामीण में भी पूछा जावे तौ वह यही कहेगा कि क्रोधी आदमी अच्छा नही, मानी आदमी अच्छा नही, मायाचारी अच्छा नहीं, लोभी अच्छा नहीं, शोकी आदमी अच्छा नही, भयभीत मानव अच्छा नहीं, कामी मानव अच्छा नही, इसके विरुद्ध जगत भर को क्षमावान, विनयवान, सरल व्यवहारी, सतोषी, ब्रह्मचारी, शीलवान, निर्भय, शोक-रहित, प्रेमालु, घृणारहित मानव अच्छा लगता है। जैसे रूई के कपड़े सफेद होते हैं। किसी स्थान पर पचास आदमी एकत्र हैं, वे सब रूई के कपड़े पहने हैं परन्तु गर्मी के ऋतु के कारण सब के कपड़े मलीन हैं। तब दर्शकगण उन को देख कर यही समझते हैं कि इन के कपड़े स्वच्छ नहीं हैं, इन में मैल चढ़ गया है। और यदि कही किसी सभा में पचास आदमी जमा हों जो सब नए सफेद कपड़े पहन कर आए हो तो दर्शकों को वे सब बड़े सुहावने लगते हैं क्योंकि उन कपड़ो पर मैल नहीं है।

इसी तरह जब क्रोध, मान, माया, लोभादि से रंगे हुए जीव होते हैं तब सब को बुरे लगते हैं और जब उन के विरुद्ध क्षमा, विनय, ऋजुता, संतोष आदि से सम्पन्न जीव होते हैं तब सब को अच्छे लगते हैं। इस का

कारण यही है कि क्षमा, विनय, ऋजुता, संतोष आदि तो जीव के स्वभाव हैं जबकि क्रोध,मान,माया,लोभादि जीवके स्वभाव नहीं हैं दोष हैं,मल हैं।

क्रोधी मानव स्वय भी यदि अपने को देखे तो क्रोध के समय वह अपने आपे से बाहर हो जाता है। उसको बड़ी आकुलता पैदा हो जाती है। बडा दुःखित भाव हो जाता है, ज्ञान मैला हो जाता है, विवेक जाता रहता है, कुछ का कुछ सत्य असत्य विचारने लगता है, बकने लगता है, चाहे किसी को मारने पीटने लगता है। उस का स्वभाव बिगड़ जाता है। यदि क्रोधी को कुछ नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता। उस का परिणाम बड़ा ही क्षोभित व मैला हो जाता है, और जब उसी का क्रोध चला जाता है, शान्ति आ जाती है तब वही अपने को निराकुल मालूम करता है, सुखी मालूम करता है। उस समय विवेकी रहता है, मन में भी ठीक ठीक विचारता है, वचन भी ठीक-ठीक बोलता है, काय से भी ठीक ठीक क्रिया करता है, नवीन ज्ञान की शिक्षा को भी ग्रहण करता है भले प्रकार समझता है क्योंकि यह क्रोध रूपी पिशाच के वश नहीं है या क्रोधरूपी मदिरा के नशे में नहीं है, वह अपने आपे में है।

इसी तरह यदि किसी को अभिमान हो उच्च जाति का, धनवान होने का, रूपवान होवे का, बलवान होने का, अधिकारी होने का, विद्वान होने का, तपस्वी होने का, तो उसका भाव मैला रहता है। वह दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखता है। मान के वशीभूत हो मन से ठीक विचार नहीं करता है, वचन भी मानयुक्त बोलता है, शरीर से भी विनययुक्त क्रिया नहीं होती है, मान के आवेश में उसका वर्ताव जगत को पसंद नहीं आता है, वह भी आकुलित रहता है कि कहीं कोई अपमान न कर दे और यदि कोई अपमान कर देता है तो वह शीघ्र ही क्रोधी हो कर और भी दुःखी हो जाता है। मानी को नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो उस को वह ग्रहण नहीं करता है। यदि कोई मानरहित है, मार्दव धर्म का धारी है, कोमल चित है तो उसके भावों में शांति है, वह विवेक से विचार करता है, उसका मन कारण कार्य का ठीक विचार कर सकता

हैं, उस के वचन हितमित प्रिय निकलते हैं, उस की क्रिया प्रेम, दया व विवेकपूर्ण होती है, उसे नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे बड़े आदर से ग्रहण करता है, धारण करता है। उसका मन क्षोभित न हो कर सुखी रहता है। इसका कारण यही है कि मानरूपी मदिरा ने उसे बावला व अन्धा नहीं किया है।

मायाचार के आवेश में यह प्राणी बड़ा ही गन्दा हो जाता है, इस के भावों में कुटिलता बस जाती है, मन मे स्वार्थ साधन के हेतु पर को बंचना करने वाले कुत्सित विचार होते हैं, वचन यद्यपि मीठे निकलते हैं परन्तु वह विष से पूर्ण भोजन के समान ठगने वाले होते हैं,शरीर की चेष्टा सर्व ही धोखे मे डालने वाली कुटिल होती है। उस का भाव कुटिलता से व भय से आकुलित रहता है, शांति नही रहती है, नवीन ज्ञान की शिक्षा भी उस के मलीन भाव मे नही जमती है, परन्तु यदि सरलता हो, ऋजुता हो, आर्जव धर्म हो तो मन निर्मल रहता है, पर हितकारी बातो को ही विचारता है, वचनो से हितकारी बातें कहता है, काय से सरल व योग्य वंचनारहित वर्ताव करता है, परिणामो में शांति रहती है। ऐसे को यदि नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो बडी भक्ति से ग्रहण करता है, जैसे सफेद कपड़े पर लाल रंग खूब चढ़ता है। वह अपने भीतर सुख शांति का अनुभव करता है, इसका कारण यही है कि उसके भीतर माया पिशाचिनी का आक्रमण नहीं है, वह मलीन नहीं है, दोषी नही है।

लोभ के वशीभूत हो कर यह प्राणी बड़ा ही अपवित्र हो जाता है। स्वार्थी हो कर लोभ के साधने वाले विचारों को मन से करता है। मन में तृष्णा के साधन के ही विचार करता हुआ दया व न्याय के विचारों को छिपा देता है। वचनो से लोभयुक्त, तृष्णायुक्त वाणी कहता है। काय से ऐसी क्रिया करता है जिस से तृष्णा का साधन हो। उसे न्याय, अन्याय, धर्म अधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य का ध्यान नहीं रहता है। लोभ में अंधा हो अबला विधवा का भी धन हर लेता है। गरीब आदमी को भी ठगते हुए उसे दया नहीं आती है। अपने परममित्र को भी ठग लेता है। लोभ से आकुलित के परिणामो में शांति नहीं रहती है, वह सुखी नहीं होता है। अति धनिक होने पर भी दुःखी रहता है। ऐसे लोभी को कोई नवीन ज्ञान

की शिक्षा नहीं सुहाती है। जैसे जल मिट्टी से मैला हो जाता है वैसे जीव का परिणाम लोभ से मलीन हो जाता है।

यदि किसी के भावों में लोभ न हो संतोष हो तो उसका मन स्वच्छ रहता है, वह उचित न्याययुक्त व्यवहार का ही विचार करता है, संतोषपूर्वक न्याययुक्त वचन बोलता है व न्याययुक्त हो वह काय से क्रिया करता है। उस का परिणाम आकुलित नहीं रहता है। वह निर्लोभता के कारण सुख शांति का अनुभव करता है, वह जगत को प्रिय होता है। कारण यही है कि लोभरूपी भूत ने उस को वश नहीं किया है, वह अपने आपे में है, लोभ की मूर्छा से मूर्छित नहीं है। काम के वशीभूत हो कर प्राणी ऐसा अंधा हो जाता है कि उस का शील स्वभाव बिगड़ जाता है, मन में बडा ही आकुलित होता हुआ काम भाव सम्बन्धी ही विचार करता है। काम वर्द्धन कारक हास्य युक्त भण्डवचन, प्रलाप व गानादि करता है। काय से न्याय अन्याय का विवेक छोड़ कर चाहे जिस तरह काम चेष्टा करने लग जाता है। कामी को बड़ी अशांति रहती है, सुखशांति उस से कोसों दूर रहती है। उसे कोई ज्ञान की नवीन शिक्षा दी जावे तो वह ग्रहण नहीं कर सकता। इसके विरुद्ध जो काम के अंधकार से बाहर हैं, शीलवान हैं, शुद्ध ब्रह्मचर्य के धारी हैं, उन का मन शुद्ध होता है, वह शुद्ध विचार करते हैं, वे शीलपोषक ब्रह्मचर्यप्रेरक वचन बोलते हैं व काय से ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए चेष्टा करते हैं। उन का परिणाम सुख शांति का व साम्यभाव का अनुभव करता हैं। इस का कारण यही है कि काम भाव का अंधकार उन के ज्ञान के ऊपर नहीं आया है।

इस तरह यह विदित होगा कि क्रोधादि सर्व ही विभाव दोष हैं, उपाधि हैं, अपने को भी संक्लेशकारी, हानिकारक, सुखशांतिनाशक व ज्ञान के विरोधक भासते हैं व दूसरों को भी सर्व जगत को भी ये क्रोधादि दोष व मल ही दीखते हैं। वास्तव में यही यथार्थ बात है। जैसे मलीनपना कपड़े का स्वभाव नहीं है वैसे ही क्रोधादि मंद हों व तीव्र हों ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। मोहनीय कर्म के संयोग से इसी तरह जीव में होते हैं जैसे रंग के संयोग से पानी रंगीन होता है, अग्नि के संयोग से पानी गर्म होता है, मैल के संयोग से कपड़ा मैला होता है, धुएँ के संयोग से भीत

काली होती है, काले, पीले, हरे, लाल डाक के सयोग से फटिक मणि का पाषाण काला, पीला, हरा व लाल हो जाता है। यदि पर का संयोग न हो तो पानी निर्मल रहे, शीतल रहे, कपड़ा उजला रहे, भीत सफेद रहे, स्फटिक मणि स्वच्छ चमकदार रहे।

इसी तरह मोहनीय कर्म के अनेक भेद हैं--तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मद, मदतर, मदतम उनके विपाक या फल के सयोग से जैसे नाना प्रकार के मोहनीय कर्म का फल होता है वैसा ही कम व अधिक मैला व उपाधि या दोष जीव मे दिखता है। यदि मोहनीय कर्म का संयोग न हो तो जीव अपने वीतराग निराकुल उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य व उत्तम ब्रह्मचर्यमय स्वभाव में ही प्रकाशित रहे अर्थात परम शांत रहे। इस जीव का स्वभाव जैसा शात है वैसी शाति न चन्दन मे है, न मोती की माला मे है, न अगर कपूर मे है, न चन्द्रमा की चांदनी में है, न बर्फ में है, न शीतल जल में है, न गगा के पानी में है, न क्षीर समुद्र के जल में है, न केवड़े के बन में है, न कमल के बागीचे में है, न नन्दन वन की बाटिका में है न किसी सूर्य आताप से अस्पर्शित पृथ्वीतल में है।

इस तरह हमें यह निश्चय करना चाहिये कि जितने ये भाव तीव्र क्रोधादिरूप व मद क्रोधादिरूप हैं वे कोई भी इस जीव के स्वभाव नही हैं, वे सब मोहनीय कर्म के सयोग से दीखनेवाले मैल हैं, आत्मा से बिलकुल विरुद्ध हैं। इस मोहनीय कर्म के विपाक से ससारी जीवो के दो प्रकार के भाव होते हैं एक अशुभ भाव Bad thought activity दूसरे शुभ भाव Good thought activity अशुभ भावो के दृष्टान्त है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) कुशील, (५) परिग्रह की मूर्छा, (६) जूआ खेलना, (७) मास खाना, (८) मदिरापान, (९) शिकार खेलना, (१०) वेश्या प्रसंग, (११) परस्त्री प्रसंग, (१२) तीव्र शोक, (१३) तीव्र दुःख, (१४) पर का अपकार, (१५) तीव्र क्रोध, (१६) तीव्र मान, (१७) तीव्र माया, (१८) तीव्र लोभ। जिन जिन कार्यों के करने के लिये मर्यादा, न्याय व धर्म का उल्लंघन हो वर्ताव करना पड़े, वे सब काम अशुभ भावों के द्वारा होते हैं। जिन कामों

में मन्दकषाय करनी पड़ती है—राग तो होता है परन्तु अपने स्वार्थ का त्याग होता है, इन्द्रियों के विषयों की लम्पटता नहीं होती है, वे सब कार्य शुभ भावों से किये जाते हैं जैसे—(१) दया, (२) आहार, औषधि, अभय व ज्ञानदान, (३) सत्य भाषण, (४) न्याय से वर्तन, (५) ब्रह्मचर्य पालन, (६) संतोष, (७) परोपकार, (८) सेवा टहल, (९) यथायोग्य विनय, (१०) हितकारी वर्तन, (११) परमात्मा की भक्ति, (१२) धर्मशास्त्र पठन, (१३) गुरुसेवा, (१४) संयम पालन इत्यादि कार्य शुभ भावों से होते हैं।

यहाँ राग या लोभ मन्द होता है। दोनों ही शुभ भाव या अशुभ भाव इस जीव के स्वभाव से दूर हैं। इस जीव का स्वभाव तो वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह व परम शान्त उदासीन है, जहाँ न शुभ भाव से न अशुभ भाव से किसी व्यवहार करने का राग या द्वेष या मोह है इसलिये आत्मा का स्वाभाविक भाव, शुद्ध भाव या शुद्धोपयोग है। जैसे पानी के चौदह बर्तन हैं, पहले में लाल रंग सबसे अधिक मिला हो, फिर कमती-कमती दस बर्तनों तक मिला हो, ग्यारहवें से तेरहवें तक में पवन के द्वारा चंचलता हो। चौदहवें में चंचलता भी न हो परन्तु कुछ मिट्टी हलकी सी मिली हो। पन्द्रहवें बर्तन में ऐसा शुद्ध पानी हो, न जिसमें कोई रंग हो, न चंचलता हो, न मिट्टी मिली हो, तब विचारा जाय तो उन चौदह बर्तनों में भी जो पानी है, वह पन्द्रहवें बर्तन के पानी बराबर ही है। अन्तर डालने का कारण परवस्तु का संयोग है। रंग, हवा व मिट्टी का संयोग है। उस ही तरह सर्व ही जीव स्वभाव से शुद्ध वीतराग परमात्मा सिद्ध भगवान के समान हैं—सिद्ध पूर्ण शुद्ध आत्मा हैं। शेष संसारी आत्माएँ कम या अधिक कर्म रूपी रज से मिली हैं, इसीलिये नाना प्रकार रज मिश्रित जल के समान दीखती हैं, परन्तु स्वभाव सबका एक है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह जीव न क्रोधी है, न मानी है, न मायावी है, न लोभी है, न कामी है, न भयभीत है, न शोकी है, न रागी है, न द्वेषी है, न मोही है, न दया दान का कर्ता है, न पूजापाठ का कर्ता है, न स्वाध्याय का कर्ता है, न गुरु सेवा का कर्ता है। यह तो सर्व प्रपंच जाल, सर्व प्रकार विकार व चिन्ता व संकल्प विकल्प से रहित पूर्ण वीतराग सिद्ध के समान है।

तथा यह जीव ज्ञानी है, ज्ञान इसका स्वभाव है, हर एक जीव में ज्ञान की पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जैसे परमात्मा सिद्ध भगवान सर्वज्ञ है वैसा हर एक जीव स्वभाव से सर्वज्ञ स्वरूप है, परन्तु जो ज्ञान की कमी संसारी जीवों में देखने में आती है वह ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के सयोग से है। जैसे सूर्य का स्वभाव पूर्ण स्वपर प्रकाशक है, यदि मेघों का अधिक आवरण आता है तो कम प्रकाश झलकता है, कम आवरण होता है तो अधिक प्रकाश प्रगट होता है, यदि और भी कम आवरण होता है तो और भी अधिक प्रकाश झलकता है। मेघों के अधिक व कम आवरण की अपेक्षा प्रकाश के अनेक भेद हो जाते हैं, यद्यपि सूर्य का प्रकाश एक रूप है। इसी तरह ज्ञान का प्रकाश एक रूप है। उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म के पटल अनेक प्रकार के होने से किसी जीव में कम, किसी में अधिक ज्ञान का प्रकाश है। अथवा जैसे शुद्ध जल में ऐसी निर्मलता होती है कि अपना मुख दिख जावे परन्तु जल में मिट्टी अधिक मिली होने से कम निर्मलता होगी। कम मिट्टी मिली होने से अधिक निर्मलता झलकेगी। इसी तरह निर्मल आत्मा में सर्व जानने योग्य विश्व के पदार्थ प्रकट होते हैं परन्तु जिसमें जितना कम या अधिक ज्ञान है उसमें उतना ही अधिक या कम कर्म का आवरण है।

स्वभाव हर एक जीव का ज्ञानमयी है। ज्ञान जितना भी कहीं बढ़ता है विद्या पढ़ने से या पर के उपदेश से वह भीतर से ही अज्ञान मिट कर बढ़ता है। कहीं बाहर से ज्ञान दिया जाता नहीं, बाहर से लिया जाता नहीं। यदि ज्ञान में लेन देन हो तो ज्ञानदातारों का ज्ञान घटे तब ज्ञान लेने वालों का ज्ञान बढ़े जैसे धन के लेन देन में होता है। यदि कोई किसी को अपनी एक हजार की थैली में से सौ रुपये देता है तो उसकी थैली में नौ सौ रह जायेंगे तब दूसरे को सौ रुपये मिलेंगे। ऐसा ज्ञान में नहीं होता। एक विद्वान सौ छात्रों को पढ़ाता है, सर्व छात्रों का ज्ञान उनके आवरण के हटने के अनुसार कम या अधिक बढ़ता है परन्तु उस विद्वान का ज्ञान कुछ भी कम नहीं होता। यदि विचारा जावे तो जितना अधिक उसको पढ़ाने का अनुभव होगा उतना ही अधिक उस विद्वान का ज्ञान बढ़ जायगा।

इसलिये यही बात ठीक है कि हर एक जीव में उतना ही ज्ञान है जितना सिद्ध भगवान में है। जीवका स्वभाव निर्मल जलके समान स्वच्छ है, सर्व ही जानने योग्यको झलकाना व प्रकाश करना है। यह जीव आनन्दमय है। सहजसुख-अतीन्द्रिय सुख इसका स्वभाव है। यह पहले बताया जा चुका है। मोहके मैल से यह सुख अनुभव में नहीं आता है। जितना-जितना मोह हटता है यह सुख प्रगट होता है। परमात्मा जैसे आनन्दमय है वैसा हर एक जीव आनन्दमय है। परमात्मा अमूर्तीक है। परमात्मा में कोई वर्ण नहीं है, गन्ध नही है, रस नही है, स्पर्श नही है वैसे ही हर एक आत्मा में कोई वर्ण गन्ध रस स्पर्श नहीं है।

हर एक आत्मा अपना कोई चैतन्यमई आकार रखता है; क्योंकि जिसका कोई आकार नही होता है वह शून्य अभावमय पदार्थ होता है। जीव ऐसा नही है, वह तो अनेक गुणो का धारी द्रव्य है, इसलिये जीव का आकार अवश्य है। जिस शरीर में रहता है उस शरीर प्रमाण उसका आकार हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश कमरे में कमरे भर फैलता है, छोटे कमरे में छोटे कमरे भर, घड़े में घड़े भर, एक लोटे के भीतर लोटे भर फैलता है वैसे इस जीव का आकार हाथी में हाथी के बराबर, ऊँट में ऊँट के बराबर, घोड़े में घोडे के बराबर, बैल में बैल के बराबर, बकरे में बकरे के बराबर, कुत्ते में कुत्ते के बराबर, चूहे में चूहे के बराबर, सर्प में सर्प के बराबर, नकुल में नकुल के बराबर, कबूतर में कबूतर के बराबर, भ्रमर में भ्रमर के बराबर, चींटी में चींटी के बराबर, लट में लट के बराबर, वृक्ष में वृक्ष के बराबर, इत्यादि जैसा शरीर होता है वैसा यह जीव संकोच कर या फैलकर छोटे या बड़े आकार का हो जाता है, तौ भी इसमें शक्ति सर्व विश्व में फैलने की है। स्वभाव की अपेक्षा लोक-व्यापी है परन्तु शरीर के सम्बन्ध में शरीर प्रमाण रहता है। नाम कर्म के कारण संकोच या विस्तार को प्राप्त होता है।

ऐसा अमूर्तिक, ज्ञानाकार, ज्ञान स्वरूप, वीतराग, आनन्दमय जीव द्रव्य अपनी २ एकता को, अपनी २ सत्ता को भिन्न-भिन्न ही रखता है। एक जीवका दूसरे जीवके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे गेहूंके दसकरोड़ दाने

एक स्थल पर रखे हैं हरएक दाना गेहूँ का अलग२ है। यद्यपि गेहूँके गुणों की अपेक्षा सब गेहूँ के दाने समान हैं, परन्तु सत्ता सबकी अलग २ है। गेहूँ का व्यापारी दस करोड़ गेहूँ के दानों में से किसी को ५००, किसी को १०००, किसी को १००००, किसी को १००००० दाने बेच देता है। लेने वाले कोई थोड़ा आटा बनाते हैं,कोई ज्यादा बनाते हैं,आटेकी रोटी,पूरी बनाते हैं,खाते हैं, उन खाए हुए गेहूँ का रस रुधिर मल अदि बनता है। जब कि बहुत से गेहूँ आटे के रूप में मटके में भरे रहते हैं, कितने ही गेहूँ के रूप में ही रहते हैं। यदि दस करोड़ गेहूँ की एक ही सत्ता हो तो जहाँ एक गेहूँ जावे वहाँ दूसरा भी जावे, एक पीसा जावे तो दूसरा भी पीसा जावे। एक चबाया जावे तो दूसरा भी चबाया जावे सो ऐसा नहीं है। गेहूँ के स्वभाव की अपेक्षा दस करोड़ गेहूँ समान हैं तो भी हर एक दाना गेहूँ का अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखता है, इसी तरह सर्व जीव अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखते हैं तब ही एक ही समय में कोई शरीर में आता है, कोई शरीर को छोड़ता है, कोई दुःखी होता है, कोई सुखी होता है, कोई क्रोधी है तो कोई शान्त है, कोई विशेष ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है, कोई सोता है, कोई जागता है, कोई पढ़ाता है, कोई पढ़ता है, कोई लड़ता है, कोई प्यार करता है, कोई खाता है, कोई मलमूत्र करता है, कोई रोता है, कोई हँसता है, कोई न्याय करता है, कोई दण्ड पाता है, कोई लिखता है,कोई रँगता है,कोईपीसता है,कोई हल जोतता है,कोई सींता है, कोई धोता है, कोई नहाता है, कोई कपड़े पहनता है, कोई कपड़े उतारता है, कोई ध्यान करता है, कोई गाता है, कोई बजाता है—सर्व जीव भिन्न-भिन्न हैं तब ही सर्व की क्रियाएँ प्रगट हैं। एक ही जीव की सत्ता बन नही सकती। एक ही समय में एक चोरी करता है, एक रक्षा करता है, एक हिंसा करता है, एक बचाता है, एक शील खण्डन करता है, एक शील की रक्षा करता है, एक ठगा जाता है, एक दान करता है, एक दान पाता है। जितने प्रकार के शरीर विश्व में हो सकते हैं उतने प्रकार के लगभग शरीर को एक जीव पुनः पुनः जन्म लेकर व मरकर धारण कर लेवे परन्तु एक जीव दूसरे जीव के साथ कभी मिलकर एक नहीं हो सकता,न एक जीव के खण्ड होकर दो जीव या अनेक जीव बन सकते हैं। जीव अमूर्तीक पदार्थ है। जितने अमूर्तीक पदार्थ होते हैं वे न कभी परस्पर

बंधते हैं न कभी उनके खण्ड होते हैं। मिलना बिछुड़ना परमाणुओं में होता है जो मूर्तीक हैं। परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं,स्कन्ध के खण्ड होकर परमाणु हो जाते हैं। इस तरह जीवों के मिलकर जीव स्कन्ध नहीं होते न उनके खण्ड होते हैं।

हर एक जीव अकेला है, निराला है, स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। जब जीव के पर के संयोग रहित एकत्व को विचार करते हैं तब तो यही झलकता है कि हर एक जीव बिल्कुल अकेला है, स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव हैं न कोई परमाणु या स्कन्ध हैं, न कोई कर्म है, न कोई पुण्य है, न पाप है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सांसारिक सुख है, न दुःख है, न शुभ भाव है, न अशुभ भाव है, न वह एकेन्द्रिय है, न द्वेन्द्रिय है, न तेन्द्रिय है, न चौन्द्रिय है, न पचेन्द्रिय पशु है, न नारकी है, न देव है, न मानव है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न ब्राह्मण है, न क्षत्री है,न वैश्य है,न शूद्र है, न म्लेच्छ है,न आर्य है,न लघु है,न दीर्घ है,न साधु है,न गृहस्थ है,न बंधा है,न खुला है। हर एक जीव सबसे निराला शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा वीतराग आनन्दमई सिद्ध परमात्मा के समान है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, वे सर्व ही अपनी-अपनी सत्ता भिन्न-भिन्न रखते हुए अपने-अपने ज्ञानानन्द का भिन्न-भिन्न अनुभव करते हैं। वे समान होने पर भी सत्ता से समान नहीं हैं। जीव का एकत्व उसका शुद्ध निज स्वभाव है, यह हमें निश्चय करना चाहिये। परमाणु मात्र भी कोई अन्य द्रव्य या कोई अन्य जीव या कोई अन्य औपाधिक भाव इस जीव का नहीं है। यह जीव रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म से भिन्न है। यह बिल्कुल निराला स्वतन्त्र है।

Every soul is quite distinct and independent being.

अशुद्ध अवस्था में भी हर एक को अकेले ही जगत में व्यवहार करना पड़ता है। हर एक अपनी हानि व लाभ का स्वयं उत्तरदायित्व रखता है, हर एक अपने सुख को व दुःख को आप अकेले भोगता है, हर एक अपनी उन्नति व अवनति स्वयं करता है। "हम न किसी के, कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा" यह लोकोक्ति बिल्कुल सत्य है। यह

जीव व्यवहार में भी अकेला है, अशरण है, निश्चय से भी अकेला व अशरण है। जैन शास्त्रों में आचार्यों ने जो वाक्य जीव के एकत्व के सम्बन्ध में कहे हैं उनका दिग्दर्शन नीचे प्रमाण है :—

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

भावार्थ—यह संसारी प्राणी अकेला ही कर्मों को बाँधता है, अकेला ही इस अपार संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही यह जन्मता है, अकेला ही मरता है, अपने कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है।

एक्का करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

भावार्थ—यह प्राणी विषयों के लिये तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप बाँधता है, वही जीव नारकी व तिर्यंच होकर अकेला ही उस पाप कर्म का फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

भावार्थ—यह अकेला ही धर्म के निमित्त पात्रों को दान देकर पुण्य को बाँधता है तथा उस पुण्य का फल अकेला ही देव तथा मनुष्य भव में भोगता है।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

भावार्थ—मैं निश्चय से एक अकेला हूँ, मेरा कोई भी अन्य नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिन्तवन करता है।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

भावार्थ—जब प्राणी के मरण का समय आता है तब मणि, मन्त्र,

औषधि, राख, घोड़े, हाथी, रथ व सर्व विद्याएँ कोई भी प्राणी को मरण से बचा नहीं सकती हैं।

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग व भय से आत्मा ही अपनी रक्षा आप कर सकता है, इसलिये बन्ध, उदय, सत्वरूप कर्मों से मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपना रक्षक है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चेट्ठदि जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

भावार्थ—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पाँचों परमेष्ठी आत्मा का ही अनुभव करते हैं। इसलिये मेरे को भी एक अपना आत्मा ही शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम् ॥१३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप ये चारों ही आत्मा के ध्यान से सिद्ध होते हैं इसलिये मेरे को एक अपना आत्मा ही शरण है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥४३॥

भावार्थ—मैं एक अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमई हूँ, सदा अरूपी हूँ। अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गन्धो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संघवणं ॥५५॥

भावार्थ—जीवके निश्चयसे न कोई वर्ण है न कोई रस है न कोई गन्ध है न कोई स्पर्श है न कोई रूप है न कोई संहनन (हड्डी का प्रकार) है।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

भावार्थ—जीव के न तो राग है, न कोई द्वेष है, न कोई मोह है, न कर्म आने के भाव आस्रव हैं, न कर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा ॥५७॥

भावार्थ—जीव के न कोई वर्ग है (फलदान शक्ति का अंश है) न कोई वर्गणा (कर्म स्कन्ध) है, न स्पर्द्धक (वर्गणा समूह) है, न रागादि अध्यवसाय स्थान हैं न फलदान शक्ति रूप अनुभाग स्थान हैं।

जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णो व य उदयट्ठाणा णो मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥

भावार्थ जीवके न कोई योग स्थान (मन, वचन, काय के व्यापार) हैं, न बन्ध स्थान हैं, न कर्म के उदय स्थान हैं, न गति इन्द्रिय आदि मार्गणा के स्थान हैं।

णो ठिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥

भावार्थ—इस जीव के न कोई स्थिति बंध स्थान है, न कोई संक्लेश भाव के स्थान हैं, न विशुद्धि के स्थान हैं, न सयम लब्धि के स्थान हैं।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

भावार्थ—जीव के न कोई जीव समास अर्थात् जीवो के भेद हैं न गुणस्थान अर्थात् उन्नति की श्रेणियां हैं क्योंकि ऊपर लिखित ये सब पुद्गल द्रव्य के सयोग से होने वाली अवस्थाएं हैं। जीव का निज स्वभाव नही है।

अहमिक्को खलु सुद्धो यणिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

भावार्थ—मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्व रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में स्थित होता हुआ व उसी में तन्मय होता हुआ इन सर्व ही क्रोधादि भावों को नाश करता हूँ।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मिट्ठिदा सभावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५८॥

भावार्थ—आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, मुनि है, ज्ञानी है, केवली है। उसीके स्वभाव में जो लय होते हैं वे मुनि निर्वाण पाते हैं।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१७१।।

भावार्थ—ज्ञानोपयोगी आत्मा में ज्ञानोपयोग धारी आत्मा है, क्रोधादि में कोई भी ज्ञानोपयोग नही है। क्रोध में क्रोध है, उपयोग में कोई क्रोध नही नही है। भावार्थ क्रोध भिन्न है, आत्मा भिन्न है।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगे।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ।।१७२।।

भावार्थ—आठ प्रकार कर्म में व शरीरादि नोकर्म में भी ज्ञानोपयोगी आत्मा नही है, न ज्ञानोपयोगी आत्मा में कर्म व नोकर्म हैं।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंत्ता णेव कत्तीणं ।।७१।।

भावार्थ—निश्चय से मैं आत्मा अकेला हूँ, न मैं देह हूँ, न मैं वचन हूँ, न मै मन हूँ, न मैं मन, वचन, काय का कारण हूँ, न इनका कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, न करने वालो की अनुमोदना करने वाला हूँ।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ।।१०३।।

भावार्थ—ज्ञानी जानता है कि निश्चय से न मैं शरीरादि का हूँ न शरीरादि मेरे हैं। मै तो एक ज्ञान स्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसा जो ध्यान में ध्याता है वही आत्म ध्यानी होता है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेहं अप्पगं सुद्धं ।।१०४।।

भावार्थ—मै अपने आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि यह आत्मा परभावो से रहित निर्मल है, निश्चल एक रूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अतीन्द्रिय है, महान पदार्थ है, निश्चल है, तथा परद्रव्य के आलम्बन से रहित स्वाधीन है।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१०५॥

भावार्थ—औदारिक आदि पाँच शरीर अथवा धन धान्यादिक अथवा इष्ट अनिष्ट पचेन्द्रियों के सुख तथा दुःख अथवा शत्रु मित्र आदि लोक कोई भी इस जीव के नहीं हैं, ये सब नाशवन्त हैं, जबकि जीव ज्ञान दर्शन स्वरूप अविनाशी द्रव्य है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड में कहते हैं :—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५६॥

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान व दर्शन लक्षणधारी है, रागादि सर्व भाव मेरे नहीं हैं वे सब कर्म के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

भावार्थ—यह जीव निश्चय से अपने ही शुद्ध भावो का कर्ता है व शुद्ध भावो का भोक्ता है, अमूर्तीक है, शरीर प्रमाण आकार धारी है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड में कहते हैं :—

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥

भावार्थ—यह आत्मा एक सत् द्रव्य है, दुष्ट आठ कर्मों से रहित है, अनुपम है, ज्ञानाकार है; अविनाशी है; व शुद्ध है; ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

भावार्थ—आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्व लोक दर्शी है, यही केवल ज्ञानमय है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं—

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स, फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजा, चिंताभयवेदणादीए ॥१७३४॥
जीवाण णत्थि कोई, ताणं सरणं च जो हविज्ज इदं ।
पायालमदिगदो वि य, ण मुच्चइ सकम्मउदयम्मि१७३५

भावार्थ—उदय आने पर ना इलाज ऐसा कर्म का फल जब होता है तब जन्म, जरा, मरण, रोग, चिंता, भय, वेदना दुःख जीवों के ऊपर यकायक आजाता है,उस समय कोई रक्षा करनेवाला नहीं होता है। जिस जीव पर इन का आक्रमण होता है, उस अकेले को ही भोगना पड़ता है। यदि जीव पाताल मे भी चला जावे तौ भी उदय में प्राप्त कर्म फल दिये बिना नहीं रहता है ।

दंसणणाणचारित्तं, तवो य ताण च होई सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासण, हेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४६॥

भावार्थ—जीव के कर्म की उदीरणा या तीव्र उदय होते हुए कर्म के नाश करने को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ही परम शरण हैं। कोई अन्य रक्षक नही है।

पावं करेदि जीवो, बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं, एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४७॥

भावार्थ—यह जीव अपने बान्धवोके निमित्त व अपने शरीर के लिये पाप कर्म करता है बहुत आरम्भ व परिग्रह में लीन हो कर ऐसा पाप बंध करता है जिस का फल नरकादि कुगति में अकेला ही इस को भोगना पडता है ।

रोगादिवेदणाओ, वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं,किंचिवि ण करंति से णियया॥१७४८॥

भावार्थ—अपने कर्म का फल रोगादि वेदना है उसको भोगते हुए जीव को कोई दुःख दूर नही कर सकता। कुटुम्ब परिवार के लोग सामने बैठे देखते रहते हैं तौ भी वे कुछ नही कर सकते हैं तब और कौन दुःख दूर करेगा ?

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं मुण्णिता, जदि वि दइत्तंति ते सुट्ठु ।।१७५०।।

भावार्थ—पर लोक को जाते हुए जीव के साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादिक परिग्रह कोई नही जाते हैं, यद्यपि इसने उस के साथ बहुत प्रीति करी है तौ भी वे निरर्थक हैं, साथ नहीं रहते।

होऊण अरी वि पुणो, मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी,जायदि अवयारकरणेण ।।१७६१।।
तम्हा ण कोइ कस्सइ,सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे,णीया व अरी व जीवाणं।।१७६२।।

भावार्थ—वैरी भी हो परन्तु यदि उसका उपकार करो तो मित्र हो जाता है, तथा अपना पुत्र भी अपकार किये जाने पर क्षण में अपना शत्रु हो जाता है, इस लिये इस जगत में कोई किसी का मित्र व शत्रु नहीं है, स्वारथ के वश ही जगत में मित्र शत्रु होते हैं।

जो जस्स वट्टदि हिदे, पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं,सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो।।१७६३।।

भावार्थ—जिस का जो हित करता है वह उस का बाधव हो जाता है, व जो जिस का अहित करता है वह शत्रु हो जाता है।

(७) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ।।८।।

भावार्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, शत्रु आदि सर्व का स्वभाव अपने से जुदा हैं, तौभी मूढ़ पुरुष उन को अपना मान लेता है।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ।।९।।

भावार्थ—पक्षीगण भिन्न भिन्न देशों से आकर संध्या के समय वृक्ष पर बैठ जाते हैं, सबेरा होते होते अपनेअपने कार्यवश भिन्न भिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं, इसी तरह कुटुम्ब के लोग हैं, किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं है।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ।।२७।।

भावार्थ—मैं एक अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, मैं निश्चय से शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियो के ध्यानगम्य हूँ, जितने कर्म के सयोग से होनेवाले भाव हैं वे सब बिलकुल मेरे से भिन्न हैं।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ।।२९।।

भावार्थ—मैं आत्मा हूँ, मेरा मरण नही,मुझे मरने से क्या भय ? न मेरे मे रोग है, मुझे रोग का क्या कष्ट, न मैं बालक हूँ, न मैं युवान हूँ, न मैं वृद्ध हूँ ये सब शरीरमई पुद्गल की अवस्थाएँ हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ।

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ।।३४।।

भावार्थ—आत्मा का सच्चा गुरु अपना आत्मा ही है, अपने ही में अपना भला करने की इच्छा होती है। आप ही अपने हित को जानता है व आप ही अपने को हित साधन में प्रेरणा करता है।

(८) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ।।१४।।

भावार्थ—शरीर को अपना मानने से ही पुत्र, स्त्री आदि की मान्यताएँ हो जाती हैं इस लिये अज्ञानी उन्ही स्त्री पुत्रादि को अपना मानता हुआ नष्ट हो रहा है।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।२०।।

भावार्थ—जो आत्मा से भिन्न है, वह ग्रहण करने योग्य नही है, उसे यह कभी ग्रहण नही करता है। जो इस का स्वभाव है, जिसे यह ग्रहण किये हुए है उसे यह कभी छोड़ता नही है। जो सर्व को सर्वथा जानता है और स्वानुभवगम्य है वही मैं हूँ।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

भावार्थ— जिस स्वरूप से मैं अपने में अपने द्वारा अपने को अपने समान ही अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ। न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न मैं एक हूँ, न दो हूँ, न मैं बहुवचन हूँ।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

भावार्थ—जिस स्वरूप के न जानने से मैं सोया हुआ था व जिस स्वरूप के जानने से मैं जाग उठा यह मेरा स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं है, कथन योग्य नहीं है। मात्र मैं अपने से ही अनुभवगोचर हूँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

भावार्थ—जब मैं निश्चय से अपने ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता हूँ तब मेरे रागादि भाव सब नाश हो जाते हैं इसलिये इस जगत में न कोई मेरा शत्रु है, न कोई मेरा मित्र है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ —यह जगत् मेरे सच्चे शुद्ध स्वरूप को देखता ही नहीं है, इसलिये न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र। तथा जो ज्ञानी मेरे शुद्ध स्वरूप को देखता है वह भी मेरा शत्रु या मित्र नहीं हो सकता है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

भावार्थ—जो कोई परमात्मा है वह मैं ही हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा का स्वरूप है। इसलिये मैं ही अपनी आराधना करता हूँ। और किसकी सेवा करूं यही सत्य बात है।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

भावार्थ—जो कुछ में इन्द्रियों से देखता हूँ वह मेरा नहीं है। अब में इन्द्रियों को रोक कर अपने भीतर देखता हूँ तो वहां परमानन्दमई उत्तम ज्ञानज्योति को पाता हूँ, वही मैं हूँ।

नयत्यात्मानमात्मेव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

भावार्थ—यह आत्मा आप ही अपने को संसार में भ्रमण कराता है व आप ही अपने को निर्वाण में लेजाता है। इस लिये परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, और कोई गुरु या रक्षक नही है।

(६) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ—यह तेरा घर तुझे मरणादि आपत्तियो से बचा नही सकता, ये तेरे बाधव तेरे स्नेह पाश में बांधनेवाले हैं, दीर्घकाल की परिचित स्त्री आपदाओ के घर का द्वार है; ये तेरे पुत्र हैं, वे भी तेरी आत्मा के शत्रु हैं। इन सर्व से मोह छोड। यदि तू सहज सुख को चाहता है तो निर्मल धर्म का सेवन कर।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः।
सम्बन्धेन किमंग शश्वदशुभैः सम्बन्धिभिर्बन्धुभिः ॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा।
देहिन् याहि सुखाय ते सममम् मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

भावार्थ—हे प्राणी! तेरे पास जो यह धन है सो आशारूपी अग्नि को बढ़ाने के लिये ईंधन के समान है; तथा हे भव्य! तेरे सम्बन्धी बंधुओं से तुझे क्या लाभ जिन के निमित्त से सदा तू अशुभ में प्रवृत्ति करता है, तथा यह देहरूपी घर, मोहरूपी सर्प का बिल है, इस से भी क्या! तू इन सब से स्नेह छोड़ और एक समताभाव को भज उसी से तुझे सुख होगा, प्रमाद मत कर।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥११०॥

भावार्थ—मेरा कोई नही है। मै अकेला हूँ ऐसी भावना कर, इसी से तू तीन लोक का स्वामी हो जायगा। यह योगियो के जानने लायक भेद तुझे कहा गया है। इसी से परमात्मा का स्वरूप प्रगट होता है।

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् का सा तपःफले ॥२४२॥

भावार्थ—यह शरीर मेरा और मै इसका, यह प्रीति ईति या अकस्मात् टीडीदल, मूषक दल आदि के समान उपद्रव की करने वाली है। जब तक शरीर मे आत्मा मोहित है तब तक तप के फल की आशा क्या। अर्थात् तब तक तप से मोक्ष पाने की आशा करनी वृथा है।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

भावार्थ—भरम बुद्धि के होने पर तूने अपने को शरीररूप जाना और कायादिक को अपना स्वभाव जाना। इस विपरीत ज्ञान से तू संसाररूपी समुद्र मे भ्रमण करता रहा। अब तू यह जान कि मै पर पदार्थ नही हूँ, मै मै ही हूँ पर पर ही हैं, उन में मै नहीं, सो मै नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, और सब मुझ से भिन्न हैं।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा।२५३।

भावार्थ—जिस देह के साथ इस जीव का दूध पानी के समान सम्बन्ध चला आरहा है वह देह ही जब जीव से भिन्न है तब और बाहरी चेतन व अचेतन पदार्थों की क्या कथा ? वे तो अपने से भिन्न ही हैं। तैजस व कार्मण शरीर भी जीव का नही है।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि मै इस देह के संयोग से उसी तरह

दुःखी रहा जैसे अग्नि के संयोग से पानी संतापित होता है। इसीलिये कल्याण के अर्थी साधुओं ने देह का ममत्व छोड़ कर शान्ति लाभ की।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्त्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्द्धमचलः प्रभुः ।।२६६।।

भावार्थ—यह आत्मा कभी पैदा हुआ नहीं इससे अजन्मा है, कभी नाश नहीं होगा इससे अविनाशी है, अमूर्तीक है, अपने स्वभावों का कर्ता व अपने सहज सुख का भोक्ता है, परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकारधारी है, कर्ममलों से रहित लोकाग्र जाकर ठहरता है, निश्चल है तथा यही प्रभु है, परमात्मा है।

(१०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ।।१४७।।

भावार्थ—मैं चैतन्य हूँ, लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्तीक हूँ, शुद्धात्मा हूँ, सिद्ध समान हूँ व ज्ञानदर्शन लक्षणधारी हूँ।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ।।१४८।।

भावार्थ—अन्य मै नहीं हूँ, में अन्य नहीं हूँ, न मैं अन्य का हूँ, न अन्य मेरा है। अन्य है सो अन्य है, मै मै हूँ अन्य अन्य का है, मैं ही मेरा हूँ।

भावार्थ—आत्मा सब से भिन्न है।

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ।।१४९।।

भावार्थ—शरीर जुदा है मैं जुदा हूँ, मैं चेतन हूँ शरीर अचेतन जड़ है। शरीर अनेक परमाणुओं से रचा गया है,मैं एक अखंड हूँ। शरीर नाशवत है, मैं अविनाशी हूं।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ।।१५३।।

भावार्थ—मैं सत् द्रव्य हूँ चेतन स्वरूप हूँ ज्ञाता द्रष्टा हूँ, सदा ही

उदासीन हूँ। अपने प्रति देह के आकार हूँ, तौ भी आकाश के समान देह से जुदा हू।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः ।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।९।।

भावार्थ—यह आत्मा चैतन्य स्वरूप है, स्पर्श, रस, गंध वर्ण से रहित ज्ञानादि गुण व उनकी शुद्ध पर्यायों को रखने वाला है। स्वभाव से ध्रुव है परिणमन की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वरूप है।

(१२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार में कहते हैं :—

कस्याऽपत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।

एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ।।३४-६।।

भावार्थ—किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता, किसकी स्त्री ? यह जीव इस दुस्तर ससार समुद्र मे अकेला ही भ्रमता रहता है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।

हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ।।३५-६।।

भावार्थ—यह जीव सचेतन है, शरीर से जुदा है, शरीर अचेतन हैं, जीव से जुदा है। खेद है कि तौ भी मानव इन दोनो के भेद को नहीं समझते हैं।

(१३) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-

मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।

विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं

प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०—१।।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय से वास्तव में इस आत्मा का स्वभाव रागादि परभावो से भिन्न है—अपने ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, अनादि अनन्त है, इसमें संकल्प विकल्प के जाल नही हैं, यह सदा प्रकाशमान है।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।३-२।।

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्ति से सम्पूर्ण भरा हुआ है। इसके सिवाय जितने रागादि भाव हैं वे सब पुद्गल जड़ के रचे हुए हैं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा-
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।३-२।।

भावार्थ—वर्ण, गन्ध, रसादि व राग मोहादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न हैं। जब निश्चय से भीतर देखा जाता है तो ये सब नहीं दीखते हैं, एक उत्कृष्ट आत्मा ही दीखता है।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ।।६—२।।

भावार्थ—यह जीव अनादि अनन्त है, स्वभाव से निश्चल है, स्वानुभवगम्य है, प्रगट है, चैतन्य रूप है, अपने ही पूर्ण उद्योत रूप है।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किंद्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंतेजनाः ।।२२-१०।।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो तत्व का यह स्वरूप है कि एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नही झलकता है। ज्ञान जो पदार्थों को जानता है वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश है, फिर क्यो मूढ जन पर द्रव्य के साथ राग-भाव करते हुए आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते हैं ?

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता—
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनोयथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।४२-१०।।

भावार्थ—आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान है वह अन्य द्रव्यों में नहीं

है। आत्मा रूपी द्रव्य मे निश्चल ठहरा है, सर्व अन्य पदार्थों से पृथक् है। इसमें न किसी का ग्रहण है, न किसी का त्याग है। यह शुद्ध वीतराग है, जैसा है वैसा ही स्थित है, अनादि व अनन्त है। प्रकाशमान शुद्ध ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी महिमा को लिये हुए नित्य उदय रहता है।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं :—

दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

भावार्थ—जो दर्शन व ज्ञानमयी है, असख्यातप्रदेशी है, अमूर्तीक है, अपनी देह प्रमाण आकारधारी है उसे ही आत्मा जानो।

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥१९॥

भावार्थ—जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याएँ हैं, न जन्म है, न जरा है, न मरण है वही जो निरजन है सो मैं हूँ ऐसा कहा गया है।

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥

भावार्थ—जिसके स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध, शब्दादि नही हैं, जो शुद्ध चैतन्यमय पदार्थ हैं वही निरजन है ऐसा ही मैं हूँ यह कहा गया है।

मलरहिओ णाणमंओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ—जो मलरहित है, ज्ञानमयी है, चरम ब्रह्मस्वरूप है व सिद्ध गति मे विराजमान है वैसा ही आत्मा इस देह मे है ऐसा जानना चाहिए।

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥२७॥
सिध्दोहं सुध्दोहं अणंतणाणाइगुणसमिध्दोहं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

भावार्थ—यह आत्मा निश्चय से नोकर्म तथा कर्म रहित है, केवल ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, शुद्ध है, सिद्ध है,अविनाशी है, एक अकेला है, परालम्बरहित है, वैसा ही मैं हूँ--मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हूँ, शरीर प्रमाण आकारधारी हूँ, अविनाशी हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, तथा अमूर्तीक हूँ।

(१५) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं :—

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ।।२२।।

भावार्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ,वही परमात्मा है। अर्थात् मेरा स्वभाव परमात्मा रूप है। हे योगी ! ऐसा जानकर और विकल्प न कर।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ।।२३।।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण है, इसी आत्मा का रात दिन मनन करो, शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा।

सुद्धु सचेयण बुद्ध जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ।।२६।।

भावार्थ—आत्मा शुद्ध है, चैतन्य रूप है, बुद्ध है, जिन है, केवल ज्ञान स्वभाव है, उसी का रात दिन मनन करो जो मोक्ष का लाभ लेना चाहते हो।

अप्पा दंसणु णाण मुणी अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजम सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ।।८०।।

भावार्थ—आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा को ही चारित्र जानो, आत्मा संयम है, शील है, तप है, आत्मा ही त्याग है।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ।।९४।।

भावार्थ—जो अपने आत्मा को इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध व अविनाशी सुख में लीन अनुभव करता है वह सर्व शास्त्रों को जानता है।

(१६) श्री अमितिगति आचार्य सामायिक पाठ में कहते हैं:—

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ।।२४।।

भावार्थ—कोई भी मेरे आत्मा से बाहर के पदार्थ मेरे नहीं हैं, न मैं उनका कदापि होता हूँ; ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थों से ममता त्याग कर हे भद्र ! सदा तू अपने स्वरूप में स्थिर हो जिससे कि मुक्ति का लाभ हो।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ।।२६।।

भावार्थ—मेरा आत्मा सदा ही एक अविनाशी निर्मल ज्ञान स्वभावी है, अन्य रागादि भाव सब मेरे स्वभाव से बाहर हैं, क्षणिक हैं व अपने-अपने कर्मों के उदय से हुए हैं।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ।।२७।।

भावार्थ—जिस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नहीं है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ कैसे होगी, जिनका सम्बन्ध शरीर से है। ऊपर का चमड़ा अलग कर देने पर रोमों के छिद्र शरीर में कैसे पाये जा सकते हैं ? रोम छिद्र चमड़े के आश्रय है।

संयोगतो दु:खमनेकमेवं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

भावार्थ—इस शरीर के सयोग से ही यह शरीर धारी, संसार रूपी वन में अनेक दु:खों को भोगता है इसलिये जो अपने आत्मा की मुक्ति चाहता है उसको उचित है कि वह मन, वचन, काय से इस शरीर का ममत्व त्याग करे।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसारकांतारनिपातहेतुं ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

भावार्थ—सर्व ही मन के विकल्पो को दूर करके जो संसार रूपी वन मे भ्रमण कराने के कारण हैं, सबसे भिन्न अपने आत्मा को निश्चय करके तू अपने ही परमात्मा स्वरूप में लय हो।

(१७) श्री अमितिगति आचार्य तत्व भावना मे कहते हैं —

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भाव: परो विद्यते ।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालङ्कृतिं ॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते: ।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनै: ॥११॥

भावार्थ– सर्व भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित व ज्ञान दर्शन गुणो से विभूषित आत्मा को छोडकर न मै किसी का हूँ, न कोई परभाव मेरा है। जिस तत्व ज्ञानी के चित्त में ऐसी बुद्धि है उसका बन्ध सांसारिक बधनों से तीन भुवन में कहीं नहीं होता है।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावा: पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादय: ॥

तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता।।१२।।

भावार्थ—अनेक प्रकार के उपायों से बढ़ाने पर भी यह देह भी जहां इस आत्मा की नहीं हो सकती तो पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्र, जमाई, बन्धु आदि जो अपने अपने पूर्व कर्म के वश आए हैं व जाँयगे, अपने कैसे हो सकते हैं ? ऐसा जान कर बुद्धिमान को अपनी बुद्धि सदा ही आत्मा के हित में करनी योग्य है ।

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेंऽगजाः ।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः ।।
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीखस्यते ।।२५।।

भावार्थ—मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे बन्धु हैं, मेरा पुत्र है, मेरा भाई है, मेरी सम्पदा है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे नौकर हैं, इस तरह घोर ममता के वश से तत्व ज्ञान में ठहरने को असमर्थ हो कर परम सुख देने वाले आत्महित से यह प्राणी दूर होता चला जाता है ।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा,
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ।
यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता,
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ।।३३।।

भावार्थ—जिस शरीर को आत्मा से जुदा होते हुए न तो वैद्य बचा सकते हैं, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न स्त्री, न माता, न नौकर, न राजागण । ऐसा जान कर आर्य पुरुषों को आत्मा के हित को करना चाहिये, शरीर के मोह मे आत्महित को न भूलना चाहिये ।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः,
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ।
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र,
प्रबुद्ध्येति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ।।३४।।

भावार्थ—नाना उपायो से सदा पालते रहते भी जहाँ यह अपना देह साथ नहीं जासकता तब बाहरी पदार्थ किस तरह हमारे हो सकते हैं? ऐसा जान कर किसी भी पर पदार्थ में मोह करना उचित नही है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ।।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यताः ।।६२।।

भावार्थ—मै शूर हूँ, बुद्धिवान हूँ, चतुर हूँ, सब से अधिक धनवान हूँ, मै मान्य हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मै सब से बडा मुखिया हूँ। हे आत्मन्! तू इस पापकारी कल्पना को छोड़ कर सदा ही अपने निर्मल आत्म तत्व का ध्यान कर जिससे मोक्ष लक्ष्मी का लाभ हो।

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशः ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ।।
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ।।७०।।

भावार्थ—मै गोरा हूँ, रूपवान हूँ, दृढ़ हूँ, बलवान हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हू, नारकी हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हूँ। हे मूढ! तू इस झूठी कल्पनाओ को करके अपने आत्मा को नही समझता है, जो नित्य ज्ञान स्वभावधारी है, सर्व मल रहित है व सर्व आपत्तियों से बाहर है।

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम्।।११२।।

भावार्थ—जब मरण किसी संसारी आतुर प्राणी पर आता है तब मंत्री, पैदल सिपाही, पुरोहित, देव, विद्याधर, असुर, इन्द्र आदि कोई भी रक्षा नही कर सकते हैं।

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेऽगकुटुम्बकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम्।।११४।

भावार्थ----प्राणी, शरीर व कुटुम्ब के लिये नाना प्रकार के पापों को बांधता है परन्तु उनका फल उस अकेले को ही नरक में जाकर असह-नीय दुःख भोगना पडता है ।

(१८) श्री चन्द्रजी वैराग्यमणिमाला में कहते हैं—

एको नरके याति वराकः स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः ।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः एकः स्यादविवेको दासः ॥९॥
एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः॥१०॥

भावार्थ----यह जीव अकेला ही बिचारा नर्क में जाता है, कभी पुण्य बांध के अकेला ही स्वर्ग में जाता है, अकेला ही कभी राजा, कभी धनिक, कभी अज्ञान दास हो जाता है, अकेला ही रोगी, शोकी होता है, अकेला ही सुखी व दुःखी होता है अकेला ही व्यवहारी व दलिद्र होता है। इस तरह से बिचारा अकेला ही भ्रमण करता रहता है।

(१९) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते हैं—

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥२४९॥
सयोगेमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिविधेन परित्यजेत् ॥२५०॥

भावार्थ—मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव से पूर्ण है, एक है, अविनाशी है। और सर्व रागादि भाव मेरे स्वभाव से बाहर कर्म के सयोग से हुए हैं। शरीर और कर्म के सयोग से जीव बराबर दुःख उठा रहे है, इसलिए इस संयोग सम्बन्ध को मन, वचन, काय से मैं त्यागता हूँ।

(२०) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं—

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥
स एवामृतमार्गस्थ सः एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ, शान्त स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जान कर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्ष मार्ग मे चलने वाला है, वही आनन्द रूपी अमृत को भोगता है, वही पूज्यनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है।

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥

भावार्थ—यह आत्मा कर्मों के छूट जाने पर सर्व विकल्प रूपी तरंगों से रहित, शान्त व अपने केवल ज्ञानादि स्वभाव में स्थिर ऐसा हो जाता है जैसा पवन के सचार बिना समुद्र स्थिर रहता है।

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम्।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥२७॥

भावार्थ—जो जो वस्तु या अवस्था पर के सयोग से आई है वह सब मुझ से भिन्न है उस सब को त्याग देने से मैं मुक्त ही हूँ, ऐसी मेरी बुद्धि है, ऐसा ज्ञानी विचारता है।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत् ॥३५॥

भावार्थ—क्रोधादि कर्मों के सयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म ज्योति विकारी नही होती है, जैसे विकार करने वाले मेघो से आकाश विकारी नही होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥३९॥

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, सो ही उत्कृष्ट ज्ञान है, सो ही पवित्र सम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है।

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम्।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥४०॥

भावार्थ—वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है, सज्जनो के लिये वही एक शरण का स्थान है।

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ।।४४।।

भावार्थ—चिदानन्द स्वरूप आत्मा है सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवो के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परम ज्योति है।

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलं ।।४७।।

भावार्थ—ससार रूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यन्त्र-धारा गृह है अर्थात् फवारों का घर है।

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनं ।।४८।।

भावार्थ—चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही महान् विद्या है, सो ही प्रकाशमान मन्त्र है। तथा वही ससार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सम्बन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ।।५४।।

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूं, और कोई कदापि नहीं हूं मेरे किसी के साथ कोई सम्बन्ध नही है, मेरा ऐसा दृढ़ निश्चय है।

शरीरादिबहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितं ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरन्तरं ।।५५।।

भावार्थ—ज्ञानी शरीरादि बाहरी पदार्थों की चिन्ता के सम्बन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा में चित्त को स्थिर करता हुआ निरन्तर विराजता है।

(२१) श्री पद्मनंदि मुनि उपासक-संस्कार मे कहते हैं—

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ।।४८।।

भावार्थ—इस जीव का साथी न तो कोई स्वजन है, न परजन है। अपने बाधे हुए कर्म के फल को यह जीव अकेला ही भोगता है।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ।।४९।।

भावार्थ—दूध और पानी के समान एक साथ मिले हुए शरीर और आत्मा में ही जब भेद हैं तब अन्य स्त्री आदि की तो बात ही क्या है, वे तो जुदे हैं ही।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ।।६१।।

भावार्थ—ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा के स्वरूप की ऐसी भावना करे कि वह आठ कर्मो से व आठ कर्म के कार्यों से जुदा है, चैतन्यमयी है, नित्य है, व नित्य आनन्दमयी पद को देने वाला है।

(२२) श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं—

कर्मबन्धकलितोप्यबन्धनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ।।१३।।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मबन्ध सहित होने पर भी कर्मबन्ध से रहित है, राग-द्वेष से मलीन होने पर भी निर्मल है, देहवान होने पर भी देह रहित है, आत्मा का सर्व महात्म्य आश्चर्यकारी है।

व्याधिनांगमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वह्निना न गगनं तदाश्रितम्।।२४।।

भावार्थ—रोगों से शरीर को पीड़ा होती है परन्तु उस शरीर में प्रविष्ट चैतन्य प्रभु को पीडा नही होती है। जैसे अग्नि की ज्वाला से घर जलता है परन्तु घर के भीतर का आकाश नही जलता है। आत्मा आकाश के समान निर्लेप तथा अमूर्तीक है, जल नही सकता।

बोधरूपमखिलरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः।२५।।

भावार्थ---सर्व रागादि उपाधियों से रहित जो कोई एक ज्ञान स्वरूप है सो ही हमारा है, और कुछ भी परमाणु मात्र भी हमारा नही है। मोक्ष का कारण यही एक तत्व है, यही योगियों का निश्चय मत है।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलंतदन्तरम्।२८।।

भावार्थ---आत्म ज्ञान ही एक पवित्र अद्भुत तीर्थ है, इसी तीर्थ रूपी नदीमे पण्डितजन उत्तम स्नान करो। जो अन्तरंगका कर्ममल करोडों नदियो के स्नान से नही नाश होता है, उसे यह तीर्थ धो देता है।

(२३) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपचाशत् मे कहते हैं---

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ।।२३।।

भावार्थ—रोग शरीर को पीडा करता है, उससे अमूर्तीक व शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा रूप जो मैं हूँ सो मुझे पीडा नही होती है। आग कुटी को जलाती है, परन्तु कुटी के भीतर के आकाश को नही जला सकती है। आत्मा आकाश के समान अमूर्तीक व निर्मल है।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किंतु कर्मसंबन्धात् ।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ।।२५।।

भावार्थ—निश्चय से क्रोध आदि आत्मा के स्वाभाविक विकार नही हैं, परन्तु कर्म के उदय से सम्बन्ध से विकार हैं जैसे –स्फटिक मणि के नीचे लाल पुष्प है इससे वह लाल दीखती है। आत्मा तो स्फटिक मणि के समान स्वच्छ ही है।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ।।२६।।

भावार्थ—कर्मों के उदय से अनेक रागादि विकल्प होते हैं, परन्तु निश्चय से मै तो परम शुद्ध हूं. मैं विकारी नही होता हूं. जैसे –विकारी मुख का दृश्य दर्पण में दिखने पर भी दर्पण स्वयं विकारी नहीं होता है।

आस्तां बहिरुपाधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरं ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ---कर्म के उदय से उत्पन्न बाहरी उपाधि की बात तो दूर ही रहे। शरीर, वचन और मन के विकल्पों का समूह भी मुझसे भिन्न है। क्योंकि मैं तो शुद्ध हूँ, मेरा शरीरादि कैसे हो सकता है।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ—कर्म भिन्न हैं तथा कर्म के कार्य सुख तथा दुःख भी भिन्न हैं, इनके होने पर मोही हर्ष तथा विषाद करता है, अन्य कोई नहीं करता है।

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तं ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपं ॥५४॥

भावार्थ- मैं नय, निक्षेप इत्यादि विकल्पों से रहित परम शान्त हूँ, मैं चैतन्य रूप एक तेज हूँ, सो शुद्धात्मा अनुभव से ही अनुभव करने योग्य हूँ।

(२४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१—४॥

भावार्थ—महा आपदाओं से भरे हुए, दुःख रूपी अग्नि से प्रज्वलित और भयानक ऐसे ससार रूपी मरुस्थल (रेती के जंगल) में यह जीव अकेला ही भ्रमण करता रहता है।

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभं ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥२-४॥

भावार्थ—इस ससार में यह आत्मा अकेला ही तो अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख रूप फल को भोगता है, और अकेला ही सर्व गतियों मे एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥४—४॥

भावार्थ—इस प्राणी के सयोग में, वियोग में, जन्म मे वा मरण में, सुख तथा दु:ख भोगने में कोई भी मित्र साथी नही है. अकेला ही भोगना पड़ता है।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥८—४॥

भावार्थ—यह जीव अपने स्वरूप को न जानता हुआ व ज्ञानादि लोचन को बन्द किये हुए अपने अज्ञान से कर्मों से ठगाया हुआ एकाकी दीर्घकाल से भ्रमण कर रहा है।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एक सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥११—४॥

भावार्थ—यह जीव अकेला ही स्वर्ग में जाकर देव होता है, और स्त्री के मुख कमल में भ्रमरवत् आसक्त हो जाता है, व अकेला ही नर्क मे जाकर तलवारों से छिन्न भिन्न किया हुआ नरक के खारे जल को पीता है, व अकेला ही क्रोधादि की अग्नि से जलता हुआ कर्मों को बाँधता है, तथा अकेला ही आप विवेकी होकर जब सर्व कर्मों के आवरण को दूर कर देता है, तब मोक्ष होकर ज्ञान राज्य को भोगता है।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥२—५॥

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आप व शरीरादि जड की एकता बन्ध की अपेक्षा से है। निश्चय से देखा जावे तो चेतन अलग है, जड़ अलग है। इन दोनों का अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जैसे—खान में सुवर्ण और कालिमा का एकपना है, वस्तुतः कालिमा अलग है सुवर्ण अलग है।

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वास्वरूपाद्विलक्षणाः ॥८—५॥

भावार्थ—इस जगत मे जिन चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध जीव के साथ हुआ है, वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं, आत्मा उन सबसे जुदा है।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान्स्वान्प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रंसमालोकय॥१२-५॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू इस ससार रूपी गहन वन में मिथ्या दर्शन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सर्वथा एकान्त रूप खोटी दृष्टि के मार्ग में भ्रम रूप होता हुआ बाहरी पदार्थों को अपने मान करके सदा दुःखी ही रहा है, परन्तु अब तू सर्व भ्रम को दूर कर दे और अपने ही मे ठहर कर उत्कृष्ट चैतन्य रूपी तेज में प्रवेश कर और मुक्ति रूपी स्त्री के मुख को देख।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ।।१२-३१।।

भावार्थ—निश्चय नय से न मे नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मानव हूँ, न देव हूँ, किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ। ये सब नारकी आदि अवस्थाएँ कर्मों के उदय से होती है।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ।।२२-३१।।
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ।।२३-३१।।
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धामत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ।।२४-३१।।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभं ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ।।२५—३१।।

विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वंद्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥२६—३१॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥२७—३१॥

भावार्थ—आत्मा का निश्चय नय से स्वरूप परमात्मा के समान है। यह ज्ञानाकार है तथा अमूर्तिक है, हलन चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्द का मन्दिर है, ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापी है, अज्ञानी जिसके स्वरूप को नहीं जान सकते हैं, सदा उदय रूप है, कृतकृत्य है, कल्याण रूप है, शान्त है, शरीर रहित है, इन्द्रियों से अतीत हैं, समस्त ससार के क्लेश रूपी वृक्षो को जलाने के लिये अग्नि के समान है, शुद्ध है, कर्मलेप से रहित है, ज्ञान रूपी राज्य में स्थित है, निर्मल दर्पण मे प्राप्त प्रतिविम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञान-ज्योतिमय है, महा वीर्यवान है, पूर्ण है, पुरातन है, सम्यक्तादि आठ गुण (सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व) सहित है, उपाधि रहित है, रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियो के द्वारा जानने योग्य है, सर्व तत्वो का निश्चय करने वाला है, जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नही है, अन्तरग भावो से क्षण मात्र में ग्रहण योग्य है, ऐसा स्वभाव इस परमात्म स्वरूप आत्मा का है।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितं ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥३३-३१॥

भावार्थ—आत्मा का स्वरूप वचनगोचर नही है, इन्द्रियों से व मन से प्रगट नहीं है, अनन्त है, शब्द रहित है, जन्म रहित है, भव भ्रमण से रहित है, निर्विकल्प है ऐसा विचारे।

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरं ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलं ॥२७-३२॥

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा ध्याता है कि जो अपने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपने से पर है उसको नहीं ग्रहण करता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, उसमें कोई विकल्प नहीं है, ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है, और वह अपने से ही अनुभवगम्य है।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम्।।३५-३२।।

भावार्थ—जो विशुद्ध है, प्रसिद्ध आत्मा है, परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है, सनातन है सो ही मैं हूँ इसलिये इस अविनाशी आत्मा को मैं अपने में ही देखता हूँ।

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ।।७२-३२।।

भावार्थ—कपड़े को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होते हुए कोई अपने को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट हुआ नही मानता है, वैसे ही शरीर को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होता हुआ जानकर आत्मा जीर्ण, लाल, मोटा तथा नष्ट नहीं होता है।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम् ।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्याऽऽत्मनिश्चये ।।८३-३२।।

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा के तत्व को भीतर देखकर व शरीर को बाहर देखकर दोनों के भेद में चतुर होकर आत्मा के स्वरूप के निश्चय में कभी शिथिल नही होता है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।९९-३२।।

भावार्थ—*हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आत्मा ही के* द्वारा जान कि यह अतीन्द्रिय है, वचनो से कथन योग्य नहीं है, अमूर्तीक है, कल्पना से रहित है, चिदानन्दमयी है।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ।।१०३-३२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा को अपने आत्मा से ही इस

प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानन्द की सीमा को उपाधि रहित प्राप्त हुआ है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यन्त जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः ।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८-४०॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलंको जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥२९-४०॥

भावार्थ—इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्व व्यापक हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही साध्य हूँ, संसार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरंजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है कि यह अमूर्तीक है, निष्कलक है, जगत में श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय कर के ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

(२५) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं—

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥१०-४॥

भावार्थ—इस जगत में शुद्ध चैतन्यरूप के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ, और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है, इस लिये शुद्ध चैतन्य रूप को छोड़ कर और कुछ चिंता करना वृथा है, इस लिये मैं उसी में लय होता हूँ।

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥५-१०॥

भावार्थ—न मैं देह हूं, न आठ कर्म हूं, व मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न अब्राह्मण हूं, न मोटा हूं, न दुबला हूं, किंतु मैं तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षणधारी हूं।

(२६) पं० बनारसीदासजी नाटकसमयसार में कहते हैं—

सवैया ३१

जहां शुद्ध ज्ञान की कला उद्योत दीसै तहां,
शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्र को अंश है।
ता-कारण ज्ञानी सब जानै ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्य विलास धर्म वाको सरवंस है॥
राग द्वेष मोह की दशासों भिन्न रहे यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल सों विध्वंस है।
निरुपाधि आतम समाधि में बिराजे तातैं,
कहिये प्रगट पूरण परम हंस है॥ ८१॥

ज्ञान मान भासत प्रमाण ज्ञानवन्त कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है।
काल सों अतीत कर्म चाल सों अभीत जोग,
जाल सौं अजीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोह को विलास यह जगत को वास मैं तो,
जगत सों शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप हैं।
पाप किने किये कौन करे करि है सो कोन,
क्रिया को विचार सुपने की दौर धूप हैं॥९१॥

निरभय निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परकाश में जगत माइयतु है।
रूप रस गंध फास पुद्गल को विलास,
तासों उदवस जाको जस गाइयतु है॥
विग्रहसों विरत परिग्रह सों न्यारो सदा,
जा में जोग निग्रह को चिन्ह पाइयतु है।
सो है ज्ञान परमाण चेतन निधान तांहि,
अविनाशी ईश मानी शीश नाइयतु है॥ १०६॥

जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतो,
तैसे निरभेद अब भेद कौन कहेगो।
दीसे कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायो निज थान फिर बाहिर न वहेगो॥
कबहूँ कदाचि अपनों स्वभाव त्यागि करि,
राग रस राचि के न पर वस्तु गहेगो।

अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो,
याही भांति आगामी अनंतकाल रहेगो ॥ १०७ ॥
जबही ते चेतन विभाव सों उलटि आप,
समै पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है।
तबहीते जो जो लेने योग्य सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागि योग्य सो सो सब छांड़ि दीनो है ॥
लेबे को न रही ठोर त्यागबे कों नाहिं और,
बाकी कहां उबरयोजु कारज नवीनो है।
संग त्यागि अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनों है ॥१०८॥
करम के चक्र में फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यो बहिर मुख व्यापत विषमता।
अन्तर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्गल सों प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥
शुद्ध नै निवास कीनो अनुभौ अभ्यास लीनो,
भ्रमभाव छांड़ि दीनो भीनोचित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसो,
पद अवलम्बि अवलोके राम रमता ॥ १४ ॥
रूप रसवंत मूरतीक एक पुदगल,
रूप बिन और यों अजीव द्रव्य द्विधा है।
च्यार हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याही तैं अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है ॥
और सों न कबहू प्रगट आपा आपही सों,
ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है।
चेतन को अनुभौ आराधे जग तेई जीव,
जिन्ह के अखण्ड रस चाखबे की क्षुधा है ॥ ११ ॥
निह्चे निहारत स्वभाव जांहि आतमा को,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाको,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना ॥
सोई जीव संसार अवस्था मांहि करम को,
करतासों दीसे लिये भरम उपासना।

यहै महा मोह को पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह व्यवहार वासना ॥ ४ ॥
एह छह , द्रव्य इन ही को है जगत जाल,
ता में पाँच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनंत सत्ता काहू सों न मिले कोई,
एक एक सत्ता में अनंत गुण गान है ॥
एक एक सत्ता में अनंत परजाय फिर,
एक में अनेक इहि भांति परमाण है।
यहै स्यादवाद यह संतन की मरयाद,
यहै सुख पोष यह मोक्ष को निदान है ॥ २२ ॥

सवैया २३

चेतन मंडित अंग अखंडित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो।
राग विरोध विमोह दशा, समझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो ॥
भोग सयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्मजु घेरो।
है जिन्हको अनुभौ इह भांति, सदा तिनको परमारथ नेरो ॥१७॥
ज्यो कलधौत सुनारकी संगति, भूषण नाम कहे सब कोई।
कंचनता न मिटी तिही हेतु, वहे फिरि औटि के कंचन होई ॥
त्यो यह जीव अजीव सयोग, भयो बहुरूप हुवो नहि दोई।
चेतनता न गई कबहूँ तिहि, कारण ब्रह्म कहावत सोई ॥१२॥
ज्यो नट एक धरै बहु भेष, कला प्रगटै जग कौतुक देखै।
आप लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न विलोकत पेखै ॥
त्यो घटमें नट चेतन राव, विभाव दशा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद, दुन्द विचार दशा नहि लेखै ॥१४॥

सवैया ३१

प्रथम सुदृष्टि सों शरीर रूप कीजे भिन्न,
तामें और सूक्षम शरीर भिन्न मानिये।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोई कीजे भिन्न,
ताहू में सुबुद्धि को विलास भिन्न जानिये ॥
तामें प्रभु चेतन विराजत अखण्ड रूप,
वहे श्रुत ज्ञान के प्रमाण ठीक आनिये।
वाहि को विचार करि वाही में मगन हूजे,
वाको पद साधिवे को ऐसी विधि ठानिये ॥१५॥

अलख अमूरति अरूपी अविनाशी अज,
निराधार निगम निरंजन निरन्ध है।
नाना रूप भेष धरे भेष को न लेश धरे,
चेतन प्रदेश धरे चेतन्य का खन्ध है॥
मोह धरे मोही सो बिराजे तामें तोही सों न,
मोही सो न तोहीसों न रागी निरबन्ध है।
ऐसो चिदानन्द याहि घट में निकट तेरे,
ताहि तू विचार मन और सब धन्ध है॥५४॥
शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार माँहि,
नव तत्व रूपी पंच द्रव्य में रहत है॥
पंच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखै,
सम्यक दरश यह और न गहत है।
सम्यक दरश जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है॥७॥

(२७) पं० द्यानतराय द्यानतविलास में कहते हैं—

सवैया ३१

चेतना सरूप जीव ज्ञान दृष्टि में सदीव,
कुम्भ आन आन धीव त्यौं सरीरसौं जुदा।
तीन लोक माँहि सार सारवतो अखण्डधार,
मूरतीक कौं निहार नीर कौ बुदबुदा।
सुद्ध रूप बुद्ध रूप एक रूप आप रूप,
आतमा यही अनूप पर्म जोति कौ उदा।
स्वच्छ आपने प्रमानि राग दोष मोह मानि,
भव्य जीव ताहि जानि छाड़ि शोक औ मुदा॥८१॥
चेतना सहित जीव तिहुँ काल राजत है,
ग्यान दरसन भाव सदा जास लहिए।
रूप रस गन्ध फास पुदगल को विलास,
मूरतीक रूपी विनासीक जड कहिये॥
याही अनुसार परदर्वको ममत्त डारि,
अपनौ सुभाव धारि आप माँहि रहिए।

करिए यही इलाज जातें होत आप काज,
राग दोष मोह भाव को समाज दहिए ।।६३।।

सिंहावलोकन

ग्यानी जानी ग्यान में, नमें वचन मन काय।
कायम परमारथविषै, विषै-रीति बिसराय ।।
विषै रीति बिसराय, राय चेतना विचारै।
चारै क्रोध बिसार, सार समता विसतारै ।।
तारै औरनि आप, आपकी कौन कहानी।
हानी ममता-बुद्धि, बुद्धि अनुभी तैं ग्यानी ।।६।।

सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मझार।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार ।।
तीन लोक में सार, धार सिवखेत निवासी।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहितगुण अष्टविलासी ।।
जैसौ तैसौ आप, थाप निहचै तजि सोहं।
अजपा-जाप सभार, सार सुख सोहं सोहं ।।७।।

दरव करम नोकरमतैं, भावकरमतैं भिन्न।
विकलप नहीं सुबुद्धकैं, सुद्ध चेतनाचिन्न ।।
सुद्ध चेतनाचिन्न, भिन्न नहिं उदै भोग में।
सुख दुख देहमिलाप, आप सुद्धोपयोग में ।।
हीरा पानी माहिं, नाहिं पानी गुण ह्वै कब।
आग लगै घर जलै, जलै नहिं एक नभ दरव ।।८।।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौ रस प्रानी।
आनन्दकन्द सुबन्द, चन्द पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिनभंगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोइ, होइ जाको जानै जो ।।९।।

सब घट में परमातमा, सूनी ठौर न कोइ।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होइ ।।
जा घट परगट होइ, धोइ मिथ्यात महामल।
पंच महाव्रत धार, सार तप तपै ग्यानबल ।।

केवल जोत उदोत, होत सरवग्य दसा तब।
देही देवल देव, सेव ठानैं सुर नर सब ।।१०।।
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल।
सुर्गइन्द्र अहमिंद्र सब, अधिकअधिक सुख माल ।।
अधिकअधिक सुख माल, काल तिहुँ नन्त गुनाकर।
एक समै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ।।
सो निहचै तू आप, पापबिन क्यों न पिछानत।
दरस ग्यान थिर थाप, आपमें आप सु द्यानत ।।११।।

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

कवित्त

ज्ञान में है ध्यान में है वचन प्रमाण में है,
अपने सुथान में है ताहि पहचानिरे।
उपजे न उपजत मूए न मरत जोई,
उपजन मरन ' व्यौहार ताहि मानिरे ।।
राव सो न रंक सो है पानी सो न पक सो है,
अति ही अटक सो है ताहि नीके जानिरे।
आपनो प्रकाश करै अष्ट कर्म नाश करै,
ऐसी जाकी रीति 'भैया' ताहि उर आनिरे ।।१३।।

सवैया ३१

जैसो वीतराग देव कह्यो है स्वरूप सिद्ध,
तैसो ही स्वरूप मेरो या में फेर नाहीं है।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि मोमें कहूँ नाहिं,
अष्ट गुण मेरे सो तौ सदा मोहि पाहिं हैं ।।
ज्ञायक स्वभाव मेरो तिहूं काल मेरे पास,
गुण जे अनन्त तेऊ सदा मोहि माहीं हैं।
ऐसो है स्वरूप मेरो तिहूँ काल सुद्ध रूप,
ज्ञान दृष्टि देखते न दूजी परछांही हैं ।। ६ ।।

सवैया २३

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै।
अन्तर दृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही में अपनो पद छाजै ।।
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, काहे को खेद करै किहूँ काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ।।३६।।

ए मन मूढ़ कहा तुम भूले हो, हंस बिसार लगे परछाया।
या में स्वरूप नहीं कछु तेरो जु, व्याधि की पोट बनाई है काया॥
सम्यक रूप सदा गुण तेरो सु, और बनी सब ही भ्रम माया।
देखत रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनन्द बताया॥४७॥
चेतन जीव निहारहु अन्तर, ए सब हैं परकी जड़ काया।
इन्द्र कमान ज्यों मेघ घटामहिं, शोभत है पै रहै नहिं छाया॥
रैन समै सुपनो जिम देखतु, प्रात वहै सब झूंठ बताया।
त्यों नदिनाव संयोग मिल्यो तुम, चेतहु चित्त में चेतन राया॥४८॥
सिद्ध समान चिदानन्द जानिके, थापत है घटके उर बीच।
वाके गुण सब ताहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच॥
ज्ञान अनन्त विचारत अन्तर, राखत है जिय के उर सीच।
ऐसे समकित शुद्ध करतु है, तिनतें होवत मोक्ष नगीच॥६३॥

सवैया ३१

जबै चिदानन्द निज रूप को सम्भार देखे,
कौन हम कौन कर्म कहाँ को मिलाप है।
राग द्वेष भ्रम ने अनादि के भ्रमाये हमें,
ताते हम भूल परे लाग्यो पुण्य पाप है॥
राग द्वेष भ्रम ये सुभाव तो हमारे नाहिं,
हम तो अनन्त ज्ञान, भान सो प्रताप है।
जैसो शिव खेत बसै तैसो ब्रह्म यहाँ लसै,
तिहूँ काल शुद्ध रूप 'भैया' निज आप है॥ ९॥
जीव तो अकेलो है त्रिकाल तीनों लोक मध्य,
ज्ञान पुंज प्राण जाके चेतना सुभाव हैं।
असख्यात परदेश पूरित प्रमान बन्यो,
अपने सहज माहि आप ठहराव है॥
राग द्वेष मोह तो सुभाव में न याके कहूँ,
यह तो विभाव पर संगति मिलाप है।
आतम सुभाव सौं विभाव सौं अतीत सदा,
चिदानन्द चेतवे को ऐसे में उपाव है॥१०॥

छप्पै

ऊरध मध अध लोक, तासु में एक तिहूँ पन।
किसिहि न कोउ सहाय, याहि पुनि नाहिं दुतिय जन॥

जो पूरव कृत कर्म भाव, निज आप बन्ध किय ।
सो दुख सुख द्वय रूप, आय इहि थान उदय दिय ।।
तिहिमध्य न कोऊ रख सकति,यथा कर्म विलसंततिम ।
सब जगत जीव जगमें फिरत, ज्ञानवन्त भाषन्त इम ।।१३।।

सवैया ३१

आतम अनोपम है दीसै राग द्वेष बिना,
देखो भव्य जीव ! तुम आप में निहारकैं ।
कर्म को न अंश कोऊ भर्म को न वश कोऊ,
जाकी सुद्धताई मैं न और आप टारकैं ।।
जैसो शिव खेत बसै तैसो ब्रह्म इहाँ लसै,
इहाँ उहाँ फेर नाहिं देखिये विचारकैं ।
जेई गुण सिद्ध माहि तेई गुण ब्रह्म पाहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चय निरधारकैं ।। ७ ।।

छप्प

त्रिविधि कर्म ते भिन्न, भिन्न पर रूप परसतें ।
विविधि जगत के चिह्न, लखै निज ज्ञान दरसतें ।।
बसै आप थल माहिं, सिद्ध सम सिद्ध विराजहिं ।
प्रगटहिं परम स्वरूप, ताहि उपमा सब छाजहिं ।।
इह विधि अनेक गुण ब्रह्ममहिं, चेतनता निर्मल लसै ।
तस पद त्रिकाल वन्दत भविक, शुद्ध स्वभावहि नित बसै ।।६।।
ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषाये ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखायें ।।
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ।।
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निर्मल विशुद्ध शास्वत सुथिर, चिदानन्द चेतन धरम ।। ८ ।।

सवैया ३१

वर्णमें न ज्ञान नहिं ज्ञान रस पचन में,
फर्स में न ज्ञान नही ज्ञान कहूँ गन्ध में ।
रूप में न ज्ञान नहीं ज्ञान कहूँ ग्रन्थन में,
शब्द में न ज्ञान नही ज्ञान कर्म बन्ध में ।।
इनते अतीत कोऊ आतम स्वभाव लसै,
तहाँ बसै ज्ञान शुद्ध चेतना के खन्ध में ।

ऐसो वीतराग देव कह्यो है प्रकाश भेव,
ज्ञानवन्त पावै ताहि मूढ़ धावै व्वन्ध में ॥१०॥
जहाँ तोहि चलबो है साथ तू तहाँ को ढूँढ़ि,
इहाँ कहाँ लोगन सों रह्यो तू लुभाय रे।
संग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र के कलत्र धन धान्य यह काय रे॥
जाके काज पाप कर भरत है पिण्ड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जाय रे।
तहाँ तौं अकेलो तूही पाप पुण्य साथी दोय,
तामें भलो होय सोई कीजे हंसराय रे॥ ६॥
आंख देखै रूप जहाँ दौड़ तूही लागै तहाँ,
सुने जहाँ कान तहाँ तूही सुनै बात है।
जीभ रस स्वाद धरै ताको तू विचार करै,
नाक सूँघै बास तहाँ तू ही विरमात है॥
फर्स की जु आठ जाति तहाँ कहो कौन भाँति,
जहाँ तहाँ तेरो नाव प्रगट विख्यात है।
याही देह देवल में केवलि स्वरूप देव,
ताकी कर सेव मन कहाँ दौड़े जात है॥१७॥

छप्पै

जो जानहिं सो जीव, जीव बिन और न जानै।
जो मानहिं सो जीव, जीव बिन और न मानैं॥
जो देखहिं सो जीव, जीव बिन और न देखै।
जो जीवहि सो जीव, जीव गुण यहै विसेखै॥
महिमा निधान अनुभूत युत, गुण अनन्त निर्मल लसै।
सो जीव द्रव्य पेखन्त भवि, सिद्ध खेत सहजहिं बसै॥१४॥

—: o :—

छठा अध्याय

सहज सुख साधन।

यह बताया जा चुका है कि ससार असार दुःखमय है, शरीर अशुचि व अथिर है, इन्द्रियों के भोगों का सुख अतृप्तिकारी व तृष्णा वर्द्धक है तथा सहज सुख अपने ही आत्मा का स्वभाव है। और यह आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न रखता है। आप अकेला ही कर्म के सयोगवश दुःख सुख उठाता हुआ भव-भव में जन्म मरण करता हुआ भ्रमण करता है। यह अपनी करनी का आप ही उत्तरदायित्व रखता है। कोई इसके दुःखो को बँटा नहीं सकता, हर नहीं सकता। तथा इस आत्मा का स्वभाव बिलकुल शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमयी तथा परम शान्त और निर्विकार है। सिद्ध भगवान के समान ही हर एक आत्मा का स्वभाव है। अब यह बताना है कि सहज सुख जो अपने ही पास है, अपना गुण है वह अपने को कैसे मिले? सहज सुख का स्वाद आना ही हमारी विषय सुख की तृष्णा के रोग को शमन करने का एक मात्र उपाय है।

किसी वस्तु का स्वाद लेने के लिये यह आवश्यक है कि स्वाद को लेने वाला ज्ञानोपयोग उस वस्तु की ओर एकाग्र हो जावे और उस समय दूसरी चिन्ताओं से रहित हो जावे। उस वस्तु की ओर ज्ञान की थिरता ही उस वस्तु का स्वाद अनुभव कराने में कारण है। जैसे मिष्ट जल सरोवर में है ऐसा जानते हुए भी मिष्ट जल का स्वाद तब ही आवेगा जब जल को लेकर जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श कराया जायगा और मति ज्ञानोपयोग थिर होकर उधर एकाग्र होगा। यदि किसी और काम की तरफ उपयोग आकुलित होगा तो जल को पीते हुए जल का स्वाद नहीं भासेगा। यदि हमारा ध्यान किसी और कार्य में है और कोई खटमल काट रहा है तो हमको वेदना नहीं होगी। जब उपयोग स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा उस काटे हुए स्थल पर जाकर रुकेगा तब ही उस वेदना का ज्ञान होगा। उदास चित्त होने पर बढ़िया वस्त्र व रत्नमय आभूषण पहनने पर भी सुख की वेदना नही होती; क्योंकि उपयोग उनकी सुन्दरता की ओर उपयुक्त नही है। जब उपयोग उन वस्त्र व आभूषणो की तरफ राग सहित लवलीन होगा तब उनके स्पर्श का स्वाद आयगा।

एक शोकाकुल मानव तीव्र धनकी हानिसे पीडित है,उसकी प्रियतमा स्त्री उसको प्रेमपूर्वक आलिगन करती है तो भी शोकातुर का उपयोग स्त्री के स्पर्श में लवलीन न होने से उसको स्त्रीके स्पर्श का स्वाद नही आयेगा। कचहरी जाने की शीघ्रता में बहुत ही सुन्दर व रसीली रसोई भी खाई हुई अपने स्वाद के रस को भान नही कराती है क्योकि उपयोग रसोई के खाने में लवलीन नही है किन्तु व्यग्र है। एक वैरागी साधु के गले में बहुत ही सुगन्धित पुष्पों की माला डाल दी जाती है, उस साधु का उपयोग राग सहित उस माला की सुगन्ध लेने में उपयुक्त नही होता है इसलिये उस साधु को उस सुगन्धि का सुख वेदित नहीं होता।

एक बड़ी सुन्दर स्त्री का चित्र किसी रोग की पीड़ा से पीड़ित मानव के आंखों के सामने लाया जाता है, वह पीड़ा के अनुभव में लीन है। उस के भीतर रागसहित उस चित्र के देखने का भाव नहीं होता है। अतएव उस सुन्दर चित्र देखने का स्वाद उस व्यग्रचित्त रोगी को नहीं आयगा। एक पतिव्रता स्त्री पति के वियोग से आतुर चिन्तातुर बैठी है, उस के सामने नाना प्रकार के सुरीले गान किये जाते हैं परन्तु उस का ज्ञानोपयोग रागसहित उनको नही सुनता है, उन पर उपयोग नहीं लगता है इस लिये गान सुनने का सुख उस दुःखित अबला के अनुभव में नहीं

आता। इस से सिद्ध है कि इन्द्रिय सुख व दुःख का भान तब ही होता है जब ज्ञानोपयोग की स्थिरता होती है।

एक मजदूर नंगे पैर जेष्ठ की धूप में भार लिये कोसों चला जाता है उस को पग के जलने का दुःख नही होता क्योंकि उस का उपयोग पैसा लाभ करने में उलझा है, वह उस पग की पीड़ा सराग भाव से अनुभव नही करता है। उसी जेठ मास की धूप में यदि किसी धनिक को जो बिना जूता पहने व छतरी लगाए कभी नही चलता है, दस कदम भी नंगे पैर चलने को बाधित किया जावे तो वह उपयोग को उधर ही लगाता हुआ बहुत दुःख अनुभव करेगा। एक साधु आत्मध्यान में तल्लीन है, शरीर पर डास, मच्छर काटते है,साधु को किंचित् भी कष्ट नहीं होता है क्योंकि उपयोग उस तरफ नही आया है। ध्यान हटते ही जैसे ही उपयोग उधर आता है वह काटने की वेदना को अनुभव करता है।

इसी तरह जब सहज सुख आत्मा में है, आत्मा का स्वभाव है तब उस के लाभ का यही साधन है कि हम अपना उपयोग सर्व ओर से खींच कर एक अपने आत्मा ही पर लगावें। आत्मा के स्वभाव के ज्ञान में थिरता से जमें। जिस समय उपयोग सर्व अपने आत्मा से भिन्न द्रव्य तथा भावो से हट कर अपने आत्मा के ही शुद्ध गुणों में रमण करेगा तब ही सहज सुख का स्वाद आएगा।

इस लिये आवश्यक है कि सहज सुख जिसमें है उस आत्मा को भले प्रकार पहचाना जावे। यह विश्वास लाया जावे कि आत्मा है और उस का स्वभाव इस तरह का है और उसी विश्वासयुक्त आत्मा के ज्ञान में उपयोग को स्थिर किया जावे। इसी को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। यही सहज सुख का साधन है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध सिद्ध समान ज्ञानानन्द वीतरागमय है। यहदृढ़ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी दृढ़ श्रद्धासहित आत्मा के स्वभाव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा इसी श्रद्धा सहित ज्ञान में थिर होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों भी आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा ही हैं। जैसे श्री महावीरस्वामी का श्रद्धान व महावीरस्वामी का ज्ञान व महावीरस्वामी

का ध्यान महावीरस्वामीसे भिन्न नहीं है,तीनोंका लक्ष्यबिन्दु एक महावीर स्वामी है। सुवर्ण का श्रद्धान, सुवर्ण का ज्ञान व सुवर्ण का ध्यान सुवर्ण से भिन्न नहीं है, सुवर्ण ही है। अतएव आत्मा ही स्वयं अपने लिये आप ही सहज सुख का साधन है। अर्थात आत्मा आप ही अपने ध्यान से सहज सुख को पा लेता है। इसलिये आत्मा का ध्यान या आत्मा का अनुभव ही सहज सुख का साधन है।

यह ज्ञानोपयोग पाँच इन्द्रियो के विषयों में या मन के विचारों में उलझा रहता है। इसी को इन से हटा कर जब आत्मस्थ किया जाता है तब ही आत्मा का ध्यान हो जाता है। जैसे एक मानव किसी ऐसे घर में बैठा है जिस के छः दिशाओं में छः खिड़कियाँ हैं। वह इन खिड़कियों के द्वारा सदा ही बाहर देखा करता है। एक खिड़की को छोड़ कर दूसरी में, उस को छोड कर तीसरी में, उस को छोड़ कर चौथी में, उस को छोड़ कर पाँचवीं में, उस को छोड़ कर छठी में, फिर किसी में फिर किसी में, इस तरह इन खिड़कियो के द्वारा बाहर ही देखा करता है, कभी भी खिड़ कियों से देखना बन्द कर के अपने घर को नही देखता है। यदि वह खिड़- कियो से देखना बन्द करदे, भीतर देखे तो उसे अपने घर का दर्शन हो जावे। पांच इन्द्रिय और मन ये छः खिडकियां हैं, इन से हम बाहर २ देखा करते हैं। रातदिन इन ही के विषयो में उपयोग को रमाते हैं। इसी से हमें अपने आत्मा का दर्शन नही होता है। यदि एक क्षणभर के लिये भी इन से उपयोग हटालें और भीतर देखें तो हमें अपने आत्मा का दर्शन हो सकता है।

जिस का हम को ध्यान करना है वह आप ही है, कोई दूसरी वस्तु नही है। उपयोग जब आत्मा के सिवाय जो जो अन्य पदार्थ हैं, भाव हैं या पर्यायें हैं उन से हटेगा तब ही आत्मा का अनुभव हो जायगा। सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य ही आत्मध्यान का साधक हैं।

सच्चा ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, विभाव से अशुद्ध है। सच्चा वैराग्य यह है कि मेरे आत्मा का हितकारी आत्मा के सिवाय कोई और पदार्थ नहीं है। आत्माही में आत्मा की अटूट अमिट ध्रुव सम्पत्ति है। इसे किसी और वस्तु से राग करने की जरूरत नहीं है। हमें अपने आत्मा का ज्ञान दो अपेक्षाओं से करना चाहिये-एक

निश्चयनय, दूसरा व्यवहारनय । जिस दृष्टि से पदार्थ का मूल शुद्ध स्वभाव देखने में आता है। उस दृष्टि, अपेक्षा, नय(point of view) को निश्चयनय कहते हैं। जिस दृष्टि से पदार्थ का भेदरूप स्वरूप व अशुद्ध स्वभाव देखने में आता है उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को व्यवहार नय कहते हैं। अशुद्ध वस्तु को शुद्ध करने का उपाय यही है, जब उसको निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो से जाना जावे।

हमारे सामने एक मैला कपड़ा है। जब तक इसको निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनों से न जाना जायगा तब तक इसको साफ करने का उपाय नही बन सकेगा। निश्चय नय से कपड़ा स्वभाव से सफेद रुई का बना हुआ है इसलिये सफेद स्वच्छ है। अर्थात् निश्चय नय से देखते हुए वही मैला कपड़ा सफेद स्वच्छ दिखता है क्योंकि कपडा तो उजला ही है, मैल तो ऊपर से चढा हुआ धूआ है, या चढी हुई रज है, या चढ़ा हुआ पसीना है, कपडे का स्वभाव अलग है, मैल का स्वभाव अलग है, मैल है सो कपडा नही, कपड़ा है सो मैल नही इसलिये असल में मूल में स्वभाव में कपडा सफेद स्वच्छ है ऐसा ही कपडे को देखना निश्चय नय का काम है। व्यवहार नय से कपडा मैला है क्योकि मैल ने स्वच्छता को ढक दिया है। कपडा मैला दिखता है। मैल के संयोग से मलीनता कपड़े में हो रही है। कपडे की वर्तमान अवस्था विभाव रूप है, अशुद्ध है। दोनो ही दृष्टियो से दो भिन्न बातों को देखना ठीक है, निश्चय नय से कपडा स्वच्छ है, यह स्वभाव की दृष्टि भी ठीक है। व्यवहार नय से कपडा मलीन है, यह विभाव की दृष्टि भी ठीक है। यदि कोई एक ही दृष्टि को माने दूसरी दृष्टि को सर्वथा न माने तो ज्ञान उस मैले कपडे का ठीक न होगा। और कभी भी कपडा साफ नही किया जा सकेगा।

यदि कोई निश्चय नय का पक्ष पकड कर यह ही माने कि यह कपड़ा स्वच्छ ही है, उजला ही है, यह मैला है ही नही तो ऐसा मानने वाला कभी कपडे को साफ करने का उद्यम न करेगा। इसी तरह यदि कोई व्यवहारनय का पक्ष पकड कर यह ही माने कि यह कपड़ा मैला ही है, मैला ही रहना इसका स्वभाव है, तो ऐसा मानने वाला भी कभी कपड़े को स्वच्छ न करेगा। दोनों में से एक दृष्टि से देखने वाला कभी भी कपड़े को साफ नहीं कर सकता। जो कोई दोनों दृष्टियों से कपड़े को

देखेगा कि यह कपड़ा स्वभाव से तो स्वच्छ है परन्तु वर्तमान में इसकी स्वच्छता को मैल ने ढक दिया है, मैल कपड़ा नहीं, कपड़ा मैल नहीं, दोनों अलग-अलग स्वभाव वाले हैं तब अवश्य मैल को किसी मसाले से धोया जा सकता है, ऐसा यथार्थ ज्ञान एक बुद्धिमान को होगा और वह कपड़े को अवश्य स्वच्छ कर डालेगा। इसी तरह यह आत्मा दोनों नयों से जानने योग्य है। निश्चय नय से यह बिल्कुल निराला, अकेला, सिद्ध समान शुद्ध है, ज्ञाता है, दृष्टा है, निर्विकार है, वीतराग है, अमूर्तीक है, परमानन्दमय है, इसमें कोई मलीनता व अशुद्धता नहीं है। न इसके आठों कर्मों का बन्धन है, न रागद्वेष, क्रोधादि भाव कर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं। न इसके पास मन है, न वचन है, न काय है। यह एकाकी स्वतन्त्र परम शुद्ध स्फटिक मणि के समान है। यही इस आत्म-द्रव्य का निज स्वभाव है, मूल स्वभाव है, निजतत्व है।

व्यवहारनय से यह अपना आत्मा कर्मबन्ध सहित है, पाप पुण्य को रखता है, सुख दुःख को भोगता है। क्रोधादि भावों में परिणमता है, इन्द्रियों से व मन से बहुत थोड़ा जानता है। यह बहुत सी बातों का अज्ञानी है। वर्तमान में पुद्गल के संयोग से जो इसकी अशुद्ध सांसारिक अवस्था हो रही है इस बात का ज्ञान व्यवहार नय या पर्याय दृष्टि द्वारा देखने से होता है। दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्यार्थ हैं।

स्वभाव आत्मा का शुद्ध है, विभाव अशुद्ध है। यदि निश्चय नय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को शुद्ध मान ले तौ कभी आत्मा को शुद्ध करने का यत्न नहीं हो सकेगा और जो व्यवहार नय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा **अशुद्ध** ही मान ले तौ भी शुद्ध करने का यत्न नहीं हो सकेगा। यत्न तब हो हो सकेगा जब निश्चय नय से स्वभाव में शुद्ध होने पर भी व्यवहार नय से विभाव में हो रहा है इस लिये अशुद्ध है। यह अशुद्धता पुद्गल के संयोग से है। इसलिये इस संयोग को हटाया जा सकता है, ऐसा भाव जब होगा तब ही आत्मा के शुद्ध करने का प्रयत्न हो सकेगा। यही आत्मा का सच्चा ज्ञान है। सच्चा वैराग्य यह है कि आत्मा का स्वभाव में रहना ही आत्मा की सुन्दरता है। यदि यह स्वभाव में हो, इसे किसी बात के जानने देखने की चिन्ता न हो, कोई क्रोध, मान, माया, लोभ का क्लेश न हो, कोई तृष्णा न हो,

कोई दुःख न हो, कोई विकार न हो, कोई जन्म मरण न हो, सदा ही अपने स्वाभाविक सहज सुख का अनुभव हो। कर्म का संयोग तथा शरीर का सम्बन्ध इसके गुणो का घातक है, इसकी सुन्दरता को बिगाड़ने वाला है, इसे आकुलित, खेदित, शोकित रखने वाला है।

अतएव मुझे किसी भी परमाणु मात्र पुद्गल से प्रयोजन नहीं है, न पुण्य से न पापसे, न सासारिक क्षणिक सुख से, न दुःख से, न इन्द्र अहमिंद्र पद से, न चक्रवर्ती विद्याधर नरेन्द्र पद से। कोई भी ससार की अवस्था मेरे लिये हितकारी नही है। ऐसा सच्चा वैराग्य हो कि संसार मात्र बिरस दीखे। सर्व ही कर्म का सयोग त्यागने योग्य पर दीखे, सिवाय निज स्वभाव के और सब को अकार्यकारी स्वभाव विकारक जान कर सबसे मोह रागद्वेष छोड देना यही सच्चा वैराग्य है। सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ आत्म ध्यान करना ही रत्नत्रय धर्म है या सहज सुख का साधन है।

जैसे मलीन कपड़े को स्वच्छ करने के लिये कपड़ा स्वच्छ है, मैल के सयोग से मैला है इस सच्चे ज्ञान को तथा कपडे के स्वभाव को ढकने वाले मैल की कोई जरूरत नही है, यह कपड़े के लिए अहितकारी है, ऐसे सच्चे वैराग्य की जरूरत है, और साथ-साथ इस सच्चे ज्ञान व वैराग्य को लिए हुए कपडे पर ध्यान लगाने की जरूरत है, तब कपड़ा स्वच्छ होगा वैसे ही ज्ञान वैराग्य के साथ आत्मा के ध्यान से आत्मा शुद्ध होगा।

यदि कोई कपड़े को स्वच्छ करने की इच्छा रखता हुआ कपड़े पर मसाला रखके इधर उधर ध्यान रक्खे, कपड़े पर ध्यान न रक्खे व एक-चित्त हो कपड़े पर बलपूर्वक रगड न लगावे तो कभी भी कपड़े का मैल न कटेगा और वह कपडा कभी भी स्वच्छ न होगा। इसी तरह कोई सच्चे ज्ञान वैराग्य सहित होकर व्यवहार चारित्र का मसाला लेकर यदि आत्मा को शुद्ध करना चाहे, जप तप करे, सयम पाले परन्तु उपयोग को एकाग्र न करे, आत्मा मे ध्यान न लगावे, आत्मानुभव न करे तो कदापि आत्मा शुद्ध न होगा।

आत्मा के शुद्ध करने का व सहज सुख के पाने का एक मात्र उपाय आत्मध्यान है। जो उपाय सहज सुख पाने का है वही उपाय आत्मा के

मैल काटने का है। आत्मा के कर्म मैल का संयोग रागद्वेष मोह भावों से होता है। तब कर्म मैल का कटना-दूर होना वीतराग भावों से होता है। जब आत्मध्यान किया जाता है, सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ शुद्ध आत्मा के स्वभाव में एक तान हुआ जाता हैं तब वीतरागता का अंश बढ़ता जाता है। यही ध्यान की अग्नि है जो कर्म ईंधन को जलाती है।

जिस आत्मध्यान से सहज सुख का स्वाद आता है उसी आत्म ध्यान से आत्मा का कर्म मैल कटता है। तथा इसी आत्मध्यान से आत्मा का बल अधिक अधिक प्रगट होता है। अतएव कर्म का मैल जितना-जितना कटता है उतना२ आत्मबल (soul force) बढ़ता जाता है। आत्मध्यान के भीतर एक गुण और प्रगट हो जाता है, वह है धैर्य (firmness)। धैर्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि अचानक सकटो के व आपत्तियों के आने पर वह आकुलित नहीं होता है, कर्मों का उदय मानकर सतोषी रहता है, तथा आत्मा को अविनाशी व अजर अमर मानता हुआ वह सासारिक आपत्तियो से आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नही समझता है। बड़े बड़े उपसर्ग आने पर भी वह मेरु पर्वत के समान अचल रहता है।

जैसे मिश्री का कण एक क्षण मात्र जिह्वा पर रहे तौभी वह उतनी देर ही मिष्ट स्वाद देता है, वैसे आत्मा का ध्यान यदि बहुत ही अल्प समय तक रहे तौ भी वह सहज सुख का स्वाद देता है। एक मिनट के साठ सेकण्ड होते हैं, एक सेकण्ड के भी सौ भाग करो। इस सौवें भाग भी यदि उपयोग आत्मस्थ हो जावे तौ भी सहज सुख अनुभव मे आएगा। अतएव आत्मध्यान के अभ्यासी को समता भाव के साथ जितनी देर तक लगातार ध्यान लग सके, आकुलता न हो, उतनी देर ही आत्म ध्यान करके संतोष मानना चाहिये। अधिक समय तक आत्म स्थिरता करने की चिन्ता व घबड़ाहट नहीं लानी चाहिये। बड़े बड़े शक्तिशाली व बडे बडे वीर वैराग्यवान पुरुष भी आत्मा का ध्यान लगातार दो घड़ी के भीतर ही भीतर कर सकते हैं। दो घडी अड़तालीस (४८) मिनट की होती हैं।

एक बात और याद रखनी चाहिये कि आत्म ध्यान पैदा करने की माता आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना है। भावना बहुत देर तक की

जा सकती है। भावना करते करते यकायक ध्यान पैदा होता है जो कम या अधिक देरतक बिलकुल एकाग्र रहता है। ध्यान के समय मन, वचन, काय तीनों के व्यापार बन्द हो जाते हैं, चिन्तवन नहीं होता है। आत्मा के स्वरूप में उसी तरह रमणभाव हो जाता है जैसे किसी सुन्दर रूप के देखने में उपयोग एकाग्र हो जाता है। उस समय ध्याता को यह विचार भी नहीं होता है कि मैं ध्यान करता हूं या आत्मा को ध्याता हूँ। वह दशा एक ऐसी है जिस का वर्णन नही हो सकता है। उस दशा को अद्वैत भाव कहते हैं। वहां एक आत्मा का ही स्वाद विकल्प व विचार रहित होता है। इस स्वानुभवरूप आत्म-ध्यान को पैदा करने वाली आत्मा की भावना है। जैसे दूध को विलोते २ मक्खन निकलता है वैसे आत्मा की भावना करते-करते आत्म-ध्यान या आत्मानुभव हो जाता है।

सच्चे ज्ञान के लिये यह कहा जा चुका है कि हमें आत्मा को निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनों से जानना चाहिये। इन दोनों दृष्टियो में से आत्मा की भावना करने के लिये निश्चय दृष्टि को ग्रहण कर लेना चाहिये, व्यवहार दृष्टि के विषय को धारणा में रखना चाहिये, भावना के सामने न लाना चाहिए। जिस स्थान पर पहुँचना है उस स्थान पर ले जाने वाले मार्ग पर चलने से ही हम उस स्थान पर पहुँच सकते हैं। हमें शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करना है, अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप की ही भावना करनी चाहिये।

निश्चयनय ही आत्मा को शुद्ध बताती है, दिखाती है। इसलिये मैं शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, ज्ञायक हूँ, परमानन्दमय हूँ, परमात्मा रूप हूँ, यही भावना बार बार करना ही आत्मानुभव को जागृत करने वाली है। जब आत्मानुभव हो जाता है तब भावना बन्द हो जाती है। तब अद्वैतभाव, निर्विकल्प भाव, स्वात्मरमण भाव, एकाग्र भाव ही रहता है। जब तक स्वात्मानुभव रहता है, तब तक न निश्चय नय का पक्ष या विचार है, न व्यवहार नय का पक्ष या विचार है। आत्मानुभव नयों से बाहर, विकल्पों से बाहर, अनिर्वचनीय, अचिंतनीय एक परमानन्दमयी अमृत का समुद्र हैं। इसी समुद्र में स्नान करते हुए डुबकी लगाना आत्म ध्यान है।

आत्मानुभव या आत्म-ध्यान ही निश्चय रत्नत्रय है या निश्चय मोक्ष मार्ग है। इसके बाहरी साधनो में व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्ष मार्ग उपयोगी है जिसका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर आत्म ध्यान करने के कुछ जरूरी निमित्त कारणों को बता देना उचित होगा। ध्यान करने वाले में दृढ व पक्का श्रद्धान आत्मा का निश्चय नय तथा व्यवहार नय से होंना चाहिये तथा उसके मन में सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य होना चाहिये, ऐसा ध्याता आत्म रसिक होता है, आनन्दामृत पीने का प्रेमी होता है। जैसे कोई के घर में बड़ा ही मिष्ट रस हो वह पुनः पुनः उसे पीकर स्वाद को लेकर सुख भोगता है वैसे ही आत्मरसिक बार बार जितना ही अधिक हो सके आत्म-ध्यान करके आत्मा के आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

इस घोर आपत्तिमय ससार के भीतर रहता हुआ वह एक आत्मानद का ही प्रेमी हो जाता है। अतएव जिन निमित्तो से ध्यान हो सकता है उन निमित्तो को अवश्य मिलाता है। ध्यान करने वाले को समय, स्थान, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आसन बैठने का व आसन लगाने का योग्य उपाय करना चाहिए तथा उस विधि का सेवन करना चाहिये जिससे ध्यान हो सके।

(१) ध्यान—करने का समय अत्यन्त प्रातःकाल सूर्योदय के पहले से लेकर सूर्योदय के पश्चात् तक छः घडी, चार घड़ी, या दो घड़ी है। यह उत्तम, मध्यम, जघन्य है। अभ्यास करने वाला जितना भी समय दे सके उतना ही ठीक है। यदि दो घड़ी करना हो तो १ घड़ी सूर्योदय के पहले से लेकर एक घडी पीछे तक करे इसी तरह मध्यम व उत्तम में करे। दोपहर को व साँझ को भी इसी तरह तीन काल हैं। मध्य रात्रि को भी ध्यान इसी तरह किया जा सकता है। इसके सिवाय जिस समय मन लगे उसी समय ध्यान किया जा सकता है। सबं से श्रेष्ठ समय प्रातः काल का है। तब समय बिलकुल शान्त रहता है, वातावरण शीतल व सुहावना होता है।

(२) स्थान—ध्यान के लिये स्थान पवित्र व शान्त व क्षोभ रहित होना चाहिये, जहाँ पर स्त्रियों का व बच्चों का शब्द न आवे, पुरुषों की

बातें भी न सुनाई दे। हवा अनुकूल हो। न बहुत शीत हो न बहुत उष्णता हो। जितना एकान्त होगा उतना ध्यान अधिक अच्छा हो सकेगा। पर्वत का शिखर, पर्वत की गुफा, वन, उपवन, नदी व समुद्र तट, नगर बाहर उद्यान या नशिया, श्री जिन मन्दिर का एकान्त स्थान, धर्मशाला का या उपाश्रय का एकान्त स्थान, व अपने घर का ही एकान्त स्थान जहां निराकुलता रहे ऐसा स्थान ध्यान के लिये खोज लेना चाहिये।

(३) **मन की शुद्धि**—जितनी देर ध्यान करना हो उतनी देर और सर्व कामों से निश्चिन्त हो जावे। यदि कोई काम दूसरों की देखभाल, रक्षा या प्रबन्ध का हो तो दूसरे के सुपुर्द करदे, अपने ऊपर कोई चिन्ता न रहे। निश्चिन्त हुए बिना ध्यान में मन न लगेगा। जहाँ भय का कारण हो वहां न बैठे अथवा भय का कारण सम्भावित हो तो किसी भी अन्य मानव को अपने साथ में रखे जिससे वह रक्षा रखे। ध्याता के मन मे आकुलता न होनी चाहिये। मन से शोक, विषाद आदि दूर कर उतनी देर के लिये मन का ममत्व सबसे छोडकर ध्यान करने बैठे।

(४) **वचन शुद्धि**—ध्यान मे जितनी देर लगानी हो उतनी देर मौन रहे व ध्यान के सहकारी मन्त्रो को पढे या पाठ पढे परन्तु और किसी से बातचीत न करे।

(५) **काय शुद्धि**—शरीर में बहुत भूख न हो, बहुत भरा न हो, दर्द न हो, मलमूत्र की बाधा न हो। शरीर भीतर से स्वस्थ हो, बाहर से भी पवित्र हो। शरीर पर जितना कम वस्त्र हो उतना ठीक है। वस्त्र रहित भी ध्यान किया जा सकता है। जिस तरह डांस मच्छरादि की बाधा को होते हुए थिरता रहे वैसे उपाय करना चाहिये। सरदी की बाधा नही सह सके तो अधिक वस्त्र ओढ़ ले। शरीर भीतर व बाहर से निराकुल हो। शरीर के कारण से कोई बाधा मन में न आवे ऐसा शरीर को रक्खे।

(६) **आसन बैठने का**—ध्यान के लिये कोई घास का आसन या चटाई या पाटा या शिला नियत करले। यदि कुछ न मिल सके तो पवित्र भूमि पर भी ध्यान किया जा सकता है।

(७) **आसन लगाना**—ध्यान करते हुए पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या

कायोत्सर्ग ये तीन आसन सुगम हैं तथा बड़े उपयोगी हैं। आसन लगाने से शरीर थिर रहता है। शरीर की थिरता से श्वासोछ्वास सम तरह से चलता है व मन निश्चल रह सकता है। दोनों पग जांघो पर रक्खे, दोनों हथेली एक को दूसरे पर रक्खे, सीधा मस्तक सीधी छाती करके इस तरह बैठे कि दृष्टि नाक पर मालूम होती हो। यह पद्मासन है। एक जांघ के नीचे एक पग ऊपर रखके पद्मासन की तरह बैठने को अर्ध पद्मासन कहते हैं। सीधे खडे हो दोनो पग आगे की तरफ चार अंगुल की दूरी पर रखकर दोनो हाथ लटका कर ध्यानमय रहना कायोत्सर्ग है। जिस आसन से ध्यान जमे उसी आसन से बैठा जा सकता है। ध्यान के वीरासन, मयूरासन आदि बहुत से आसन हैं।

(८) ध्यान की विधि—बहुत सीधी विधि यह है कि अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह निर्मल भरा हुआ विचार करे और मन को उसी जल समान आत्मा में डुबाये रक्खे, जब हटे तब अर्हं, सोहं, सिद्ध, अरहन्त सिद्ध, ॐ आदि मन्त्र पढ़ने लगे फिर उसी में डुबोये। इसी तरह बार-बार करे। कभी-कभी आत्मा का स्वभाव विचार ले कि यह आत्मा परम शुद्ध ज्ञानानन्दमयी है।

(२) दूसरी विधि यह है कि अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकार धारी स्फटिक मणि की मूर्ति समान विचार करके उसी के दर्शन मे लय हो जावे। जब मन हटे तब मन्त्र पढता रहे, कभी-कभी आत्मा का स्वभाव विचारता रहे,

(३) तीसरा विधि यह है कि पिण्डस्थ ध्यान करे। इसकी पाँच धारणाओं का क्रमशः अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुँच जावे। पाँच धारणाओं का स्वरूप यह है :—

(क) पार्थिवी धारणा—इस मध्यलोक को सफेद निर्मल क्षीर समुद्र मय चिन्तवन करे। उसके मध्यमें ताए हुए सुवर्णके रग का १०००पत्रों का कमल एक लाख योजन का चौडा जम्बू द्वीप के समान विचारे। इसके मध्य में कर्णिका को सुमेरु पर्वत के समान पीत वर्ण का सोचे। इस पर्वत के ऊपर सफेद रग का ऊँचा सिंहासन विचारे। फिर ध्यान करे कि मैं इस सिंहासन पर पद्मासन बैठा हूँ। प्रयोजन यह है कि मैं सर्व कर्म मल

को जलाकर आत्मा को शुद्ध करूं । इतना चिन्तवन पार्थिवी धारणा है ।

(ख) आग्नेयी धारणा—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह सोचे कि नाभि मण्डल के भीतर एक सोलह पत्रों का निर्मल सफेद खिला हुआ कमल ऊपर की ओर मुख किये हुए है। उसके सोलह पत्रों पर सोलह अक्षर पीत रंग के लिखे विचारे।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः । उस कमलके बीचेकर्णिका में चमकता हुआ र्हं अक्षर विचारे। फिर इस नाभि कमल के ऊपर हृदय में एक अधोमुख औधा आठ पत्रों का कमल विचारे जिसके पत्रों पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को स्थापित करे। फिर यह सोचे कि नाभि कमल के मध्य में जो र्हं मन्त्र है उसकी रेफ से धुआ निकला, फिर अग्नि का फुलिंगा उठा, फिर लौ उठी और बढकर हृदय के कमल को जलाने लगी। वही अग्नि की शिखा मस्तक पर आ गई और चारो तरफ शरीर के उसकी रेखा फैलकर त्रिकोणमे बन गई। तीनों रेखाओ को र र अग्निमय अक्षरो से व्याप्त देखे तथा तीनो कोनों के बाहर हरएक मे एक एक साथिया अग्निमय विचारे। भीतर तीनो कोनो पर ॐ र्ं अग्निमय विचारे। तब यह ध्याता रहे कि बाहर का अग्निमडल धूम रहित शरीर को जला रहा है व भीतर की अग्नि शिखा आठ कर्मों को जला रही है। जलाते जलाते सर्व राख हो गई तब अग्नि शात हो गई। इतना ध्यान करना सो आग्नेयी धारणा है ।

(ग) मारुती धारणा--वही ध्याता वही बैठा हुआ सोचे कि तीव्र पवन चल रही है जो मेघो को उड़ा रहो है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशो दिशाओं मे फैल रही है, यही पवन मेरे आत्मा के ऊपर पड़ी हुई शरीर व कर्म के रज को उडा रहो है। ऐसा ध्यान करना पवन धारणा है ।

(घ) वारुणी धारणा--वही ध्याता सोचे कि बडी काली काली मेघों की घटाएँ आ गईं। उन से मोती के समान जल गिरने लगा तथा अर्धचन्द्राकार जल का मंडल आकाश में बन गया, उससे अपने आत्मा पर जल पड़ता हुआ विचारे कि यह जल बची हुई रज को धो रहा है। ऐसा सोचना जल धारणा है।

(ङ) तत्वरूपवती धारणा--फिर वही ध्यानी सोचे कि मेरा आत्मा सर्व कर्मों से रहित व शरीर रहित पुरुषाकार सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा में तन्मय हो जावे। यह तत्वरूपवती धारणा है।

(४) चौथी विधि यह है कि पदों के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जावे। उस के अनेक उपाय हैं। कुछ यहां दिये जाते हैं कि ह्रं मंत्रराज को चमकता हुआ नाशाग्र पर या भौहों के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके। कभी मन हटे तो मंत्र कहे व अर्हंत सिद्ध का स्वरूप विचार जावे।

(ख) ॐ प्रणव मंत्र को हृदयकमल के मध्य में चमकता हुआ विचारे चारो तरफ १६ सोलह स्वर व कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, व य र ल व श ष स ह इन सब व्यजनो से वेष्ठित विचारे। कर्णिका में १६ स्वर विचार ले व आठ पत्तों पर शेष अक्षरो को बांट ले और ध्यान करे। कभी कभी ॐ को उच्चारण करे, कभी पाँच परमेष्ठो के गुण विचारे।

(ग) नाभिस्थान में या हृदय स्थान में सफेद रग का चमकता हुआ आठ पत्रो का कमल विचारे मध्य कर्णिका में सात अक्षर का "णमो अरहंताण" लिखा विचारे--चार दिशाओ के चार पत्रो पर क्रम से "णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाण, णमो लोएसव्वसाहूणं" इन चार मंत्र पदो को लिखे, चार विदिशाओं के चार पत्रो पर 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक् चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः' इन चार मंत्रों को स्थापित करे, फिर क्रमसे एक एक पद पर मन को रोक कर कभी कभी पद बोल कर कभी अरहंत आदि का स्वरूप विचार कर ध्यान करे।

(घ) मुख में सफेद रंग का एक कमल आठ पत्रो का सोचे। उन आठों पत्रों पर क्रम से आठ अक्षरो को स्थापित करे "ॐ णमो अरहंताणं" एक एक अक्षर पर चित्त रोके। कभी मंत्र पढ़े कभी स्वरूप विचारे।

(ङ) इसी कमल के बीच में कर्णिका में सोलह स्वरों को विचारे, उन के बीच में ह्रीं मंत्र को विराजित ध्यावे।

(५) रूपस्थ ध्यान की विधि यह है कि समोसरण में विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यान मय सिंहासन पर शोभित बारह सभाओं से

वेष्ठित इन्द्रादिकों से पूजित ध्यावे । उन के ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावे ।

(६) छठी विधि रूपातीत ध्यान की है—इसमें एक दम से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आप को उन के स्वरूप में लीन करे।

ध्यान का स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ अध्याय ३७, ३८, ३६, ४० में है वहां से विशेष जानना योग्य है।

जब ध्यान करने में मन न लगे व ध्यान के समय के सिवाय भी आत्ममनन करना हो तो नीचे लिखे काम किये जा सकते हैं। इन कामों के करने में भी मध्य मध्य में कुछ कुछ देर वृत्ति में आत्मा का विचार आता रहेगा धर्मध्यान होता रहेगा।

(१) आध्यात्मीक वैराग्यमय ग्रन्थों को ध्यान से पढ़े तथा सुने।

(२) आध्यात्मीक भजनों को गावे,बाजे के साथ भी गा सकता है।

(३) जिनेन्द्र की वैराग्यमय स्तुति पढ़े, स्तोत्र पढ़े।

(४) जिनेन्द्रकी ध्यानमय प्रतिमा के सामने खड़ा हो ध्यान करे या उन के स्वरूप को देखता हुआ पूजा करे, भक्ति करे। जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ प्रकार शुद्ध द्रव्यों को लेकर इन के द्वारा भक्ति करके आत्मा की भावना करे । इन आठ द्रव्यों की भावना क्रम से नीचे प्रकार है—

(१) जल--मैं जल चढ़ाता हूँ,मेरा जन्म,जरा,मरण, रोग नष्ट हो।

(२) चंदन--मैं चंदन चढाता हूँ, मेरा भव का आताप शांत हो।

(३) अक्षत--मैं अक्षत चढाता हूँ, मुझे अक्षय गुणों की प्राप्ति हो।

(४) पुष्प—मैं पुष्प चढ़ाता हूँ, मेरा काम विकार शांत हो।

(५) नैवेद्य— मैं नैवेद्य (चरु) चढ़ाता हूं, मेरा क्षुधा रोग शांत हो, (मिठाई व गोले के खंड चढ़ाना)।

(६) दीपक—मैं दीपक चढ़ाता हूं, मेरा मोह अंधकार नष्ट हो।

(७) धूप—मैं अग्नि में धूप खेता हूं, मेरे आठ कर्म दग्ध हों।

(८) फल—मैं फल चढ़ाता हूं, मुझे मोक्ष फल प्राप्त हो।

फिर श्री जिनेन्द्र की जयमाल स्तुति पढ़े। इस पूजा से भी आत्म ध्यान जग जाता है।

जैसे मिठाई की चर्चा करने से, मिठाई को देखने से, मिठाई के स्मरण करने से सराग भाव के कारण मिठाई के स्वाद लेने के समान स्वाद सा आजाता है वैसे आत्माकी चर्चा करने से, आत्मध्यान को देखने से, आत्मा के स्मरण करने से सहज सुख का स्वाद सा आ जाता है। सहज सुख के अभिलाषी को वे सब प्रयत्न कर्तव्य हैं, वह सब सम्मति कर्तव्य है जिस से आत्मा के मनन व ध्यान मे उपयोग रम सके व आत्मा के सिवाय सम्पूर्ण जगत के प्रपंच जाल से उपयोग विरक्त हो सके।

वास्तव में अद्वैत आत्मानुभव ही मुख्यता से सहज सुख का साधन है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिये जो जो यत्न किया जावे वह भी परम्परा से सहज सुख का साधन है। जीवन को सफल करने के लिये, कंटकमय संसार के भीतर गुलाब के सुख समान चमकता हुआ जीवन बिताने के लिये सहज सुख का साधन अवश्य कर्तव्य है। रत्नत्रय मार्ग ही सहज सुख का साधन है। अब देखिये, जैनाचार्य इस सम्बन्ध में क्या क्या अमृतवाणी की वर्षा करते हैं।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाणे।
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥२॥

भावार्थ—जब यह जीव अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र की एकता रूप होता है अर्थात् स्वानुभवरूप होता है, तब इसको स्वसमय अर्थात् आत्मस्थ जानो और जब यह पुद्गल कर्म के उदय से होने वाले रागादि या नर नारकादि पर्यायों में लीन होता है, तब इस को पर समय या आत्मा से बाहर पर में रत जानों।

एयत्तणिच्छय गदो समओ, सव्वत्थ सुन्दरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

भावार्थ—इस लोक में यह आत्मा अपने एक शुद्ध स्वभाव में तिष्ठा हुआ सर्वत्र सुन्दर भासता है क्योंकि वह अपने स्वभाव में है ऐसा सिद्ध

समान शुद्ध स्वभाव होते हुए भी इसके साथ कर्म का बंध है, यह बात भी कहना आत्मा के स्वरूप की निन्दा है।

णाणह्मि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुणु तिण्णिवि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे ।।११।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में व सम्यक्चारित्र में भावना करनी चाहिये परन्तु ये तीनों ही रत्नत्रय आत्मा का ही स्वभाव है इस लिये एक आत्मा की ही भावना करो।

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।१८।

भावार्थ—साधन करने वाले को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की सदा सेवा करनी चाहिये, परन्तु निश्चय से ये तीनो ही आत्मा ही हैं, आत्मा से भिन्न नही हैं। इस लिये आत्मा की ही आराधना करनी चाहिये।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ।।१५७।।

भावार्थ—संसार में जो जीव रागी है, आसक्त है वह कर्मो को बाधता है, परन्तु जो ससार से वैरागी है वह कर्मों से मुक्त होता है, यह जिनेन्द्र का उपदेश हैं। इसलिये पुण्य या पाप कर्मों में रजायमान मत हो, आसक्त मत हो।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ।।१६०।।

भावार्थ—व्रत व नियमों को पालते हुए तथा शील और तप को करते हुए भो यदि कोई परमार्थ जो आत्मानुभव है उससे रहित है, केवल व्यवहार चारित्र में लीन है, निश्चय चारित्र से शून्य है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं।

अप्पाणमप्पणोरुंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हिठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ।।१७७।।

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चितेदि एयत्तं ।।१७८ ।।

भावार्थ—जो कोई आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा पुण्य तथा पापरूप मन वचन काय के योगों से रोक कर सर्व आत्मा के सिवाय पर पदार्थों में इच्छा को दूर करता हुआ आत्मा के दर्शन और ज्ञान स्वभाव मे स्थिर होता है तथा सर्व परिग्रह से मुक्त हो कर सर्व ममता को छोड़ कर अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को ही ध्याता है, द्रव्य कर्म व शरीर को नही ध्याता है वह ज्ञानी एक शुद्ध आत्म स्वभाव का अनुभव करके उसी का आनंद लेता है।

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।२२१।।

भावार्थ—बहुत भी जीव आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव से रहित होते हुए जिस निज स्वाभाविक पद को नही पा सकते हैं,तू उसी एक अपने निज स्वभाव को ग्रहण कर, यदि तू कर्मों से छूटना चाहता है।

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ।।३१८।।
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्त णादव्वा ।।३१९।।

भावार्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा को कैसे ग्रहण करके अनुभव किया जावे। आचार्य कहते हैं—प्रज्ञा या भेद विज्ञान या विवेक भाव से ही आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। जैसे प्रज्ञा के द्वारा इस आत्मा को सर्व रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म तथा सर्व अन्य जीव व पुद्गलादि द्रव्यो से भिन्न जाना गया है उसी प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिये। जैसे जिस बुद्धि से चावल व तुष को अलग अलग जाना जाता है उसी बुद्धि से चावल को प्रयोजनभूत जान के ग्रहण किया जाता है, उसी तरह जिस विवेक से आत्मा को पर से भिन्न जाना गया उसी विवेक से उसे ग्रहण करना चाहिये। तथा जिसको प्रज्ञा से ग्रहण करना है वह ज्ञाता आत्मा मैं ही तो निश्चय से हूँ इससे मैं आप में

ही स्थिर होता हूँ, और अपने से भिन्न जो सर्व भाव हैं उन सबको पर है ऐसा जानता हूँ। व ऐसा ही जानना उचित है।

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४३२॥
जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४३३॥
मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं माविहरसु अण्णदव्वेसु ॥४३४॥

भावार्थ—निश्चय से साधु के व श्रावकों के बाहरी भेष मोक्ष मार्ग नही हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को जिनेन्द्रों ने मोक्ष मार्ग कहा है। इसलिये गृहस्थ व साधु के ग्रहण किये हुए भेषों में ममता छोड़ करके अपने आत्मा को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता रूप मोक्ष मार्ग में स्थापन कर। इसी स्वानुभव रूप मोक्ष मार्ग में अपने को रख, इसी का मनन कर व इसी का ध्यान कर व इसी में रमण कर। अपने आत्मा को छोड कर दूसरे द्रव्य के चिंतवन मे मत जा।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय में कहते हैं—

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

भावार्थ—आत्म ज्ञानी भव्य जीवों के लिये राग द्वेष से रहित सम्यग्दर्शन व ज्ञान से युक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ - जिसके भावो में राग, द्वेष, मोह नही है, न मन, वचन, कायों की क्रिया है, उसी के भाव में शुभ तथा अशुभ भावों को दग्ध करने वाली स्वात्मानुभव रूपी ध्यानमयी अग्नि पैदा हो जाती है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

भावार्थ—जो साधु अपने आत्मा के स्वभाव को जानता है उसके लिये सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित आत्मरमणता रूप ध्यान जिसमें आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य का संयोग नहीं हैं, उत्पन्न होता है। इसी ध्यान से कर्मों का क्षय होता है।

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।

जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।।१५८।।

भावार्थ—जो कोई सर्व परिग्रह त्याग कर एकाग्र मन होकर अपने आत्मा को स्वभाव के द्वारा निरन्तर जानता देखता रहता है वही जीव स्वचारित्र में या आत्मानुभव में या आत्मा के ध्यान में वर्त रहा है।

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।

ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति१६१।।

भावार्थ—निश्चयनय से यह कहा गया है कि जो आत्मा रत्नत्रय सहित होकर किसी भी अन्य द्रव्य पर लक्ष्य नहीं देता है और न अपने स्वभाव को त्यागता है। आप आप मे मगन होता है वही मोक्ष मार्ग है।

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।

सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि।।१६७।।

भावार्थ—जिसके मन में परमाणु मात्र भी जरा-सा भी राग पर द्रव्य में है वह सर्व आगम को जानता हुआ भी अपने आत्मा को नहीं जानता है। आत्मा तो सब से भिन्न एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसमें राग द्वेष मोह का रच मात्र भी लेश नही है।

तह्मा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।

सिद्धेसु कुणदि भत्ति णिव्वाणं तेण पप्पोदि ।।१६९।।

भावार्थ—इसलिये सर्व इच्छाओं को छोड कर किसी भी पदार्थ में कहीं भी राग मत कर, इसी तरह जो भव्य जीव वीतराग होता है वही भवसागर को तर के पार हो जाता है। स्वात्मरमण रूप वीतराग भाव ही मोक्ष मार्ग है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ।।६।।
चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र से ही जीव को निर्वाण प्राप्त होता है और जब तक निर्वाण न हो वह इन्द्र चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त करता है। यह चारित्र ही धर्म है। धर्म एक समभाव कहा गया है। राग द्वेष मोह से रहित जो आत्मा का स्वभाव है सो वही समभाव है। यही मोक्ष मार्ग है, यही स्वात्मानुभव है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ।।८७।।

भावार्थ—मोह रहित जीव अपने आत्मा के स्वभाव को भले प्रकार जानकर जब राग द्वेष त्यागता है तब वह शुद्ध आत्मा [illegible] लेता है अर्थात् शुद्ध आत्मा में ही रमण करता है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।६५।।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र के उपदेश को समझकर जो राग द्वेष मोह त्याग देता है वही अति शीघ्र सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।१०३-२।।

भावार्थ—न मैं किन्हीं पर पदार्थों का हूँ न पर पदार्थ मेरे हैं। मैं एक अकेला ज्ञानमय हूँ। इस तरह जो ध्याता ध्यान में ध्याता है वही आत्मा का ध्यानी है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ।।१०४-२।।

भावार्थ—ध्याता ऐसा जानता है कि मैं इस तरह अपने आत्मा को ध्याता हूँ कि यह परभावों से रहित शुद्ध है, निश्चल एक रूप है, ज्ञान स्वरूप है, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से एक महान पदार्थ है,

अपने स्वरूप मे निश्चल हैं तथा पर के आलम्बन से रहित स्वाधीन है। यही भावना आत्मानुभव को जागृत करती है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभिता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ—जो मोह के मैल को नाश कर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तथा मन को रोक कर अपने स्वभाव मे भले प्रकार स्थित हो जाता है वही आत्मध्यानी है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥५९-३॥

भावार्थ—जिसको मूर्छा देह आदि पर पदार्थों में परमाणु मात्र भी है वह सर्व शास्त्र को जानता हुआ भी सिद्धि को नही पा सकता है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
बिसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥९५-३॥

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स॥९६-३॥

भावार्थ—जो जीव यथार्थ रूप से जीवादि पदार्थों को जानते हैं तथा बाहरी व भीतरी परिग्रह को छोडकर पाँचो इन्द्रियो के विषयो में आसक्त नही होते हैं, उन्ही को शुद्ध मोक्ष मार्गी कहा गया है। जो परम वीतराग भाव को प्राप्त हुआ मोक्ष का साधक परमयोगीश्वर है उसी के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप साक्षात् मोक्ष मार्ग रूप श्रमण पद कहा गया है। उसी शुद्धोपयोगी के अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, उसीको ही निर्वाण होता है, वही सिद्ध है, उनको बार-बार नमस्कार हो।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र पाहुड मे कहते है :—

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥१९॥

भावार्थ—जो मोह रहित जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्

चारित्रमयी गुणों को धारते हुए अपने आत्मीक-शुद्ध गुणो की आराधना करता है वह शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ---जो आत्मज्ञानी स्वरूपाचरण चारित्र को धारता हुआ अपने आत्मा में पर द्रव्य को नहीं चाहता है अर्थात् केवल आत्मरमी हो जाता है, परद्रव्य से रागद्वेष मोह नही करता है सो शीघ्र ही उपमारहित सहज सुख को पाता है ऐसा निश्चय से जानो।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड में कहते हैं :---

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।८५।।

भावार्थ---जो आत्मा रागद्वेषादि सर्व दोषो को छोडकर अपने आत्मा के स्वभाव में लवलीन होता है वही ससार सागर से तिरने का उपाय धर्म जिनेन्द्रो ने कहा है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड में कहते हैं ·---

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।१२।।

भावार्थ---जो योगी शरीर के सुख से उदासीन है, रागद्वेष के द्वन्द से रहित है, पर पदार्थ में जिसने ममता छोड दी है, जो आरम्भ रहित है और आत्मा के स्वभाव में लीन है वही निर्वाण को पाता है।

सव्वे कसाय मुत्तं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ।।२७।।

भावार्थ---ध्याता सर्व कषायों को छोड़ कर अहंकार, मद, रागद्वेष, मोह व लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में लीन होकर अपने ही आत्मा को ध्याता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।३१।।

भावार्थ—जो योगी जगत के व्यवहार में सोता है वही अपने आत्मा के कार्य में जागता है तथा जो लोक व्यवहार में जागता है वह अपने आत्मा के कार्य में सोता है।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

भावार्थ—जो सयमी सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय को धारता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार तप करता हुआ अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४६॥

भावार्थ—जो योगी दृढ सम्यक्त की भावना करता हुआ दृढ चारित्र को पालता है और अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है।

चरणं हवइं सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जोवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ—चारित्र आत्मा का धर्म है। धर्म है वही आत्मा का स्वभाव है, या स्वभाव है वही रागद्वेष रहित आत्मा का ही अपना भाव है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

भावार्थ—जो विषयो से विरक्त चित्त हैं और जिनका सम्यक्त शुद्ध है और चारित्र दृढ़ है और वे आत्मा को ध्याते हैं उनको निश्चय से निर्वाण का लाभ होता है।

णिच्छयणयस्स एव अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भावार्थ—निश्चय नय का यह अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा ही में आत्मा ही के लिए भले प्रकार लीन होता है वही स्वरूपाचरण रूपी चारित्र को पालता हुआ निर्वाण को पाता है।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो हादि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ।।१०१।।
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिओ साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ।।१०२।।

भावार्थ--जो साधु वैराग्यवान् है, परद्रव्यो से परामुख है, संसार के क्षणिक सुख से विरक्त है, आत्मा के सहज शुद्ध सुख में अनुरक्त है, गुणों के समूह से विभूषित है, ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य का निश्चयज्ञान रखने वाला है, ध्यान मे तथा आगम के अध्ययन में लगा रहता है वही उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेंहि कणयं व ।।५६।।

भावार्थ—जैसे सुवर्ण धातु अग्नि से धौके जाने पर मल रहित सुवर्ण में परिणत हो जाती है वैसे ही यह जीव आत्मा मे तपतरूप तप के द्वारा कर्म मल से छूट कर शुद्ध हो जाता है ।

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादो जहा अग्गो ।।५७।।

भावार्थ—जैसे अग्नि तृण व काष्ठ को जला देती है ऐसे ही आत्म ध्यानरूपी तपकी अग्नि उत्तम आत्मज्ञानरूपी पवन के द्वारा बढ़ती हुई तथा शील समाधि और सयम के द्वारा जलती हुई ससार के बीजभूत कर्मों को जला देती है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना में कहते हैं—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ।।११५।।

भावार्थ —जो महामुनि इन्द्रियों को दमन करने वाले हैं वे ध्यान में उपयोग लगाते हुए रागद्वेष को क्षय करके सर्व मोह को दूर करते हुए कर्मों का क्षय करते हैं ।

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादिजुत्तेहिं ।
उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ।।११६।।

भावार्थ—आठ प्रकार कर्मों के मूल कारण कषाय हैं उनको जब क्षमादि भावो से क्षय कर दिया जाता है फिर कर्म नही बँधते जैसे जिस वृक्ष की जड काट दी जाय फिर वह नहीं उग सकता है।

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए ।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ।।११८।।

भावार्थ—जैसे सुमेरुपर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर की पवनों से चलायमान नही होता है वैसे योगी निश्चल हो कर निरन्तर ध्यान करता है ।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकार में कहते हैं—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं।।३।।

भावार्थ—जो साधु धीर है, वैराग्यवान है सो थोड़ा भी शास्त्र जाने तौ भी सिद्धि को प्राप्त करलेता है परन्तु जो सर्व शास्त्रो को पढकर भी वैराग्य रहित है वह कभी सिद्ध न होगा।

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप ।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ।।४।।

भावार्थ—ध्यानी साधु को उपदेश करते हैं कि भिक्षा से भोजन कर, एकात वन में रह, थोडा जीम, बहुत बात मत कर, दुःखो को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना व वैराग्य का भले प्रकार चिन्तवन कर।

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयतचेट्ठो असंगो य ।।५।।

भावार्थ—ध्यानी साधुको लोकव्यवहारसे दूर रहना चाहिये,एकाकी रह कर ध्यान में एकाग्र मन रखना चाहिये, आरम्भ नही करना चाहिये,कषाय व परिग्रह का त्यागी होना चाहिये, ध्यान में उद्योगी रहना चाहिये व असंग भाव ममता रहित भाव रखना चाहिये ।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मक्को संसारं तरदे लहुं ।।७७।।

भावार्थ—जो ज्ञान और भेदविज्ञान से सयुक्त है, ध्यान, स्वाध्याय व तप में लीन है, कषाय व अहकार से रहित है सो शीघ्र ससार को तरता है।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार वृहत् प्रत्याख्यान मे कहते हैं—

ध्यानी ध्यान के पहले ऐसी भावना भावे —

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ।।४२।।

भावार्थ—मैं सर्व प्राणियो पर समभाव रखता हूँ, मेरा किसी से वैर भाव नही है, मैं सब आशाओ को त्यागकर आत्मा की समाधि को धारण करता हूँ।

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।।४३।।

भावार्थ—मैं सर्व जीवों पर क्षमा भाव लाता हूँ। सर्व प्राणी भी मुझ पर क्षमा करो मेरी मैत्री सर्व जीव मात्र से हो, मेरा वैर भाव किसी से न रहो।

रायबंध पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्त भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ।।४४।।

भावार्थ—मैं रागभाव को, द्वेषभाव को, ईर्ष्याभाव को, दीनभाव को, उत्सुक भाव को (राग सहित भाव से करना कुछ विचारना कुछ), भय को, शोक को, रति को व अरति को त्यागता हूँ।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ।।४५।।

भावार्थ—मैं ममता को त्यागता हूँ, निर्ममत्व भाव से तिष्ठता हूँ, मैं मात्र एक आत्मा का ही सहारा लेता हूं और सब आलम्बनों को त्यागता हूँ।

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ।।७२।।

भावार्थ—जो जिनवाणी में लीन रहते हैं, गुरु की आज्ञा को भाव से पालते हैं, मिथ्यात्व रहित व सक्लेश भाव रहित होते हैं वे संसार से पार होते हैं ।

(११) श्री समन्तभद्र आचार्य स्वयम्भूस्तोत्र में कहते हैं—

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं,
मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
विविध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं,
यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वावग्रहं ।।४७।।

भावार्थ—हे शीतलनाथ भगवान् ! सुख की इच्छारूपी अग्नि की दाह से मूर्छित मन को आपने आत्मज्ञान रूपी अमृत के जल से सिंचित कर के बुझा डाला, जिस तरह वैद्य विष की दाह से तप्त अपने शरीर को मंत्र के प्रभाव से विष को उतार कर शांत कर देता है ।

कषायनाम्नां द्विषतां,
प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं,
समाधिभेषज्यगुणैर्व्यलीनयन् ।।६७।।

भावार्थ—हे अनंतनाथ स्वामी आपने आत्मा को मथन करनेवाले, घात करनेवाले, कषाय नाम के वैरी को मूल से नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा आत्म को सुखाने वाले कामदेव के खोटे मद के रोग को आत्मा की समाधिरूपी औषधि के गुणों से दूर कर डाला । वास्तव में आत्मध्यान ही शांति का उपाय है ।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः ।
विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ।।

।।८४।।

भावार्थ—हे कुंदनाथ भगवान ! आपने रत्नत्रयरूपी तेजसे आत्मबल को प्रगट करके आत्मध्यान के द्वारा चार घातीय कर्मोंकी कटुक प्रकृतियों को जला डाला। तब आप अरहंत हो गए। आपने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश किया। जैसे आकाश में से मेघों के चले जाने से सूर्य प्रकाश हो जाता है ऐसे आप ज्ञानावरणादि कर्मों के दूर होने से सूर्य सम सर्वज्ञ स्वरूप में प्रगट हो गए।

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।

दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥६०॥

भावार्थ—हे अरहनाथ भगवान् परमवीर ! आपने क्रोधादि कषायरूपी योद्धाओं को रखने वाले और महा पापी मोह रूपी शत्रु को सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र की एकतारूप आत्मानुभव रूपी शस्त्र से जीत लिया। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मानुभव ही मोह को जीतने का उपाय है।

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोर्निर्निरुत्तरा ।

तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥६२॥

भावार्थ—हे अरहनाथ भगवान् ! आपने इस लोक और पर लोक दोनों लोक में दुःखो को देनेवाली व जिसका पार होना बडा कठिन है ऐसी तृष्णारूपी नदी को वीतरागता सहित आत्मानुभवरूपी नौका में चढ़कर पार कर डाला। अर्थात रागद्वेष रहित आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है।

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।

अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये११५

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने आठ कर्म रूपी मलीन कलक को अनुपम आत्मध्यान की अग्नि को जला कर भस्म कर डाला और आप अतीन्द्रिय सिद्ध के सहज सुख के भोक्ता हो गए। आप के प्रताप से मैं भी इसी तरह आत्मध्यान करके अपने ससार को शान्त कर डालूँ। सहज सुख का साधन एक आत्मा का ध्यान ही है

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनम् ।

ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धः कमलायतेक्षणः ॥१२१॥

हरिवंशकेतुरनवद्य-
विनयदमतीर्थनायकः ।
शीतलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिन-
कुञ्जरोऽजरः ।।१२२।।

भावार्थ—हे अरिष्टनेमि जिन तीर्थंकर ! आपने उत्तम आत्मध्यान की अग्नि से कर्म रूपी ईंधन को दग्ध कर डाला, आप ही परम ऐश्वर्यवान् सच्चे ऋषि हो। आपने केवलज्ञान की विशाल किरणो से सर्व विश्वको जान लिया। आप प्रफुल्लित कमल समान नेत्र के धारी हैं, हरिवंश की ध्वजा हैं, निर्दोष चारित्र व सयममई धर्मतीर्थ के उपदेष्टा हैं, शील के समुद्र हैं, भवरहित हैं, अजर व अविनाशी हैं। यहा भी आत्मानुभव की ही महिमा है ।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया,
निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं,
त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ।।१३३।।

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ स्वामी ! आपने आत्मध्यानरूपी खड्ग की तेज धारसे कठिनता से जीते जाने योग्य मोहरूपी शत्रु को क्षय कर डाला और अचिंत्य अद्‌भुत व तीन लोक के प्राणियो से पूजने योग्य ऐसे अरहन्त पद को प्राप्त कर लिया। यहा भी आत्मानुभव की ही महिमा है ।

(१२) श्री शिवकोटि आचाय भगवती आराधना मे कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं, तवं च विरियं समाधिजोगं च ।
तिविहेणुवसंपज्जि य, सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ।।१७८७।।

भावार्थ—जो साधु सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, सम्यक् तप, सम्यक् वीर्य व आत्मध्यान मई समाधि योग, इन को मन, वचन, काय तीनो योगो को थिर करके ध्याता है वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया करता है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ।।१७८८।।

भावार्थ—जो साधु रागद्वेष को जीतने वाला है, इन्द्रियों को वश करनेवाला है, भयरहित है, कषायों को जीतने वाला है, रति अरति व मोह का मन्थन करने वाला है वही सदा ध्यान में उपयुक्त हो सकता है।

जह जह णिव्वेदुवसमवेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयरं, णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ।।१८६२।।

भावार्थ—जैसे जैसे साधु मे धर्मानुराग, शांति, वैराग्य, दया, इन्द्रिय संयम बढते जाते हैं वैसे २ निर्वाण अति निकट आता जाता है।

वयरं रदणेसु जहा, गोसीसं चंदणं व गंधेसु ।
वेरुलियं व मणीणं, तह झाणं होइ खवयस्स ।।१८९४।।

भावार्थ—जैसे रत्नो में हीरा प्रधान है, सुगन्ध द्रव्यों में गोसीर चन्दन प्रधान है, मणियो में वैडूर्यमणि प्रधान है तैसे साधु के सर्व व्रत व तपो में आत्मध्यान प्रधान है।

झाणं कसायवादे, गब्भधरं मारूए व गब्भहरं ।
झाणं कसायउण्हे, छाही छाही व उण्हम्मि ।।१८९६।।

भावार्थ - जैसे प्रबल पवन की बाधा मेटने को अनेक घरो के मध्य में गर्भग्रह समर्थ है वैसे कषायरूपी प्रबल पवन की बाधा मेटने को ध्यान रूपी गर्भग्रह समर्थ है। जैसे गर्मी की आताप में छाया शांतिकारी है वैसे ही कषाय की आताप को मेटने के लिये आत्मध्यान की छाया हितकारी है।

झाणं कसायडाहे, होदि वरदहो व दाहम्मि ।
झाणं कसायसीदे, अग्गी अग्गी व सीदम्मि ।।१८९७।।

भावार्थ—कषाय रूपी दाह के हरने को आत्मा का ध्यान उत्तम सरोवर है तथा कषाय रूपी शीत के दूर करने को आत्मा का ध्यान अग्नि के समान उपकारी है।

झाणं कसायपरचक्कभए वलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए वलवाहणड्ढओ होइ जह राया ।।१८९८।।

भावार्थ---जैसे पर चक्र के भय से बलवान वाहन पर चढा हुआ राजा प्रजा की रक्षा करता है वैसे कषाय रूपी परचक्र के भय से समता भाव रूपी वाहन पर चढा आत्म ध्यान रूपी राजा रक्षा करता है।

झाणं कसायरोगेसु होइ विज्जो तिगिंछदो कुसलो।
रोगेसु जहा विज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो॥१८९९॥

भावार्थ---जैसे रोग होने पर प्रवीण वैद्य रोगी पुरुष का इलाज करके रोग को दूर करता है, वैसे कषाय रूपी रोग के दूर करने को आत्म ध्यान प्रवीण वैद्य के समान है।

झाणं विसयछुहाए, य होइ अछुहाइ अण्णं वा।
झाणं विसयतिसाए, उदयं उदयं व तण्हाए॥१९००॥

भावार्थ---जैसे क्षुधा की वेदना को अन्न दूर करता है तैसे विषयो की चाह रूपी क्षुधा को आत्म ध्यान मेटता है जैसे प्यास को शीतल मिष्ट जल दूर करता है वैसे विषयो की तृष्णा को मेटने के लिये आत्म ध्यान समर्थ है।

(१३) श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश मे कहते हैं —

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्येन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थित॥२२॥

भावार्थ---आत्म ज्ञानी ध्याता को उचित है कि इन्द्रियो के ग्राम को सयम मे लाकर और मन को एकाग्र करके आत्मा ही के द्वारा आत्मा मे स्थित अपने आत्मा को ध्यावे।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्व निजात्मनः॥३६॥

भावार्थ---जहाँ मन मे आकुलता न आवे ऐसे एकान्त मे बैठकर आत्मा के तत्व को भले प्रकार निश्चय करने वाला योगी योग बल से अपने ही आत्मा के स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करे।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि॥३७॥

भावार्थ---जैसे-जैसे स्वात्मानुभव मे उत्तम आत्मा का तत्व भले प्रकार आता जाता है वैसे-वैसे सुलभ भी इन्द्रियो के विषय नही रुचते हैं।

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९ ।

भावार्थ—ध्यान करने वाला सर्व जगत को इन्द्रजाल के तमाशे के समान देखता है,आत्मा के अनुभवकी ही कामना रखता है । यदि आत्मा-नुभव से उपयोग दूसरे विषय पर जाता है तो पश्चाताप करता है ।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

भावार्थ—जिसने आत्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करली है व आत्मा के मनन का भले प्रकार अभ्यास कर लिया है वह इतना स्वभाव में मगन रहता है कि कुछ कहते हुए भी मानो नहीं कहता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है । अर्थात् वह आत्मानन्द का ही प्रेमी रहता है, और कार्य में दिल नहीं लगाता है ।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगीबहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

भावार्थ - योगी आत्मध्यान करता हुआ ऐसा एकाग्र हो जाता है कि बाहर शरीर पर कुछ दुःख पड़े तो उनको नहीं गिनता हुआ कुछ भी खेदित नहीं होता है तथा परमानन्द का अनुभव करता है । यही आनन्द ही वह ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत कर्मों के ईंधन को जला देती है ।

(१४) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं :—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

भावार्थ--बहिरात्मा बुद्धि को छोड़कर, आत्मा का निश्चय करने वाला अन्तरात्मा होकर, सर्व संकल्प से रहित परमात्मा स्वरूप अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन्भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

भावार्थ—सोहं इस पद के द्वारा मैं परमात्मा रूप हूँ ऐसा बार-बार संस्कार होने से व उसी आत्मा में बार-बार भावना करने से तथा इस भावना का बहुत दृढ़ अभ्यास होने से योगी आत्मा में तन्मयता को प्राप्त करता है।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ।।३३।।

भावार्थ—जो कोई शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न इस अविनाशी आत्मा का अनुभव नहीं करता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नहीं पा सकता है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ।।३४।।

भावार्थ—जब योगी को आत्मा और देहादि पर पदार्थों के भेद विज्ञान से व आत्मा के अनुभव से आनन्द का स्वाद आता है तब कठिन घोर तप करते हुए भी कोई खेद विदित नहीं होता है।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ।।३५।।

भावार्थ—जिस योगी का मन रूपी जल राग द्वेषादि की तरगों से चंचल नहीं है वही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर सकता है, और कोई आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता है।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ।।७८।।

भावार्थ—जो योगी लोक व्यवहार में सोता है वही आत्मा के अनुभव में जागता है परन्तु जो इस लोक व्यवहार में जागता है वह आत्मा के मनन में सोता रहता है।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ।।७९।।

भावार्थ—शरीरादि को बाहरी पदार्थ देखकर जो भीतर मे अपने आत्मा को देखता है और उसके स्वरूप को भले प्रकार समझकर आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है वही निर्वाण को पाता है।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥६५॥

भावार्थ—जो पदार्थ को बुद्धि से निश्चय कर लिया जाता है उसी पदार्थ में प्राणी की श्रद्धा हो जाती है। तथा जिस किसी मे श्रद्धा हो जाती है उसी मे ही यह चित्त लय हो जाता है। श्रद्धा ही ध्यान का बीज है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

भावार्थ—यदि आत्मा अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य मे लेकर ध्यान करे तो भी वह दृढ अभ्यास से आत्मानुभव प्राप्त करके परमात्मा के समान परमात्मा हो जायगा। जैसे बत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा करके स्वय दीपक हो जाती हैं।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथातरुः ॥९८॥

भावार्थ—अथवा यह आत्मा अपने ही आत्मा की आराधना करके भी परमात्मा हो जाता हैं। जैसे वृक्ष स्वय लडकर आप ही अग्नि रूप हो जाते हैं। आत्मा का अनुभव सिद्ध भगवान के ध्यान द्वारा व अपने आत्मा के ध्यान द्वारा दोनो से प्राप्त हो सकता है।

(१५) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते हैं —

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्
भ्रांत्यार्ऽचित्याःसहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्य्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा गुह्यगेहे नृसिंहाः।२५८।

भावार्थ—मानवो मे सिंह के समान साधु, जिनकी प्रतिज्ञा एकाकी रहने की है, जिन्होंने सर्व परिग्रह त्याग दिया है व जो परीषहों को सहने वाले हैं, जिनकी महिमा चिन्तवन मे नहीं आसकती, जो शरीर की सहायता लेते हुए लज्जा को प्राप्त हैं, जिसको अब तक भ्रान्ति से सहाई जाना था परन्तु जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत हैं, जो अपने आत्मा के कार्य मे आप उद्यमवन्त हैं, जो पलयंकासन से तिष्ठे हैं, तथा जिनके यह भावना है कि पुन शरीर प्राप्त न हो, जिन्होंने मोह को दूर कर दिया हैं तथा जो पर्वत की भयानक गुफा आदि गुप्त स्थान मे तिष्ठते हैं, ऐसे साधु आत्मा के स्वभाव का ध्यान करते हैं।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं,

निवृत्तिवृत्योः परमार्थकोट्याम् ।

अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या,

निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ।।२३४।।

भावार्थ—यह सर्व जगत मोक्ष मार्ग की अपेक्षा भोगने योग्य नहीं है, ससार की प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य है, परमार्थ की अपेक्षा इस जगत को अभोग्य और भोग्य जानकर भी ससार के त्याग का अभ्यास करो, तब इस जगत को अभोग्य ही जानो क्योकि इस ससार के भोगो मे लिप्त होने से ससार होगा व वैराग्य भाव से मोक्ष होगा।

तावद्दु:खाग्नितप्तात्माऽय:पिण्ड इव सीदसि ।

निर्वासिनिर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ।।२३३।।

भावार्थ—हे भव्य ! तू लोहे के गर्म पिण्ड की तरह ससार के दुखो की अग्नि से सन्तापित होकर उसी समय तक कष्ट पा रहा है जब तक तू निर्वाण के आनन्द रूपी समुद्र मे अपने को नही डुबाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मध्यान से सर्व सन्ताप मिट जाता है।

यमनियमनितान्त: शान्तबाह्यान्तरात्मा

परिणमितसमाधि: सर्वसत्वानुकम्पी ।

विहितहितमिताशी क्लेशजाल समूलं

दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसार: ।।२२५।।

भावार्थ—जो साधु यम नियम में तत्पर हैं, जिनका अन्तरग व बहिरग शान्त है, पर से ममता रहित है, समाधिभाव को प्राप्त हुये हैं, सब जीवो मे जो दयालु हैं, शास्त्रोक्त अल्प मर्यादित आहार के जो करने वाले हैं, निन्द्रा को जिन्होने जीता है, आत्म स्वभाव का सार जिन्होने निश्चय कर लिया है वे ही ध्यान के बल से सर्व दु खो के जाल को जला देते हैं।

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः

स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।

स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः

कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ।।२२६।।

भावार्थ—जिन्होने सर्व शास्त्रो का रहस्य जाना है, जो सर्व पापो से दूर हैं, जिन्होने आत्म कल्याण मे अपना मन लगाया है, व जिन्होंने सर्व इन्द्रियो के विषयो को शमन कर दिया हैं, जिनकी वाणी स्वपर कल्याणकारिणी है, जो सर्व सकल्प से रहित है, ऐसे विरक्त साधु सिद्ध सुख के पात्र क्यो न होगे अवश्य होगे ।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे

वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।

श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं

समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ।।२१३।।

भावार्थ—हे भव्य ! जब तक तेरे निर्मल व अगाध हृदयरूपी सरोवर में कषाय रूपी जलचरो का समूह बसता है तब तक गुणो का समूह निश्शक होकर तेरे भीतर प्रवेश नही कर सकता है, इसलिये तू समता भाव, इन्द्रिय सयम व अहिंसादि महाव्रतो के द्वारा उन कषायो के जीतने का यत्न कर।

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।

प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।१७७।।

भावार्थ—आत्मज्ञानी मुनि बार-बार आत्म-ज्ञान की भावना करता

हुआ तथा जगत के पदार्थों को जैसे हैं वैसे जानता हुआ उन सबसे राग द्वेष छोड़ के आत्मा का ध्यान करता है।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है। उसी ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति सोही अविनाशी मुक्ति हैं, इसलिए जो निर्वाण को चाहता है उसे आत्म ज्ञान की भावना करनी चाहिए।

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलम्
चारित्रं शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पंथाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहुलः छाया दया भावना
यानं तन्मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः॥१२५॥

भावार्थ—जिसके सम्यग्ज्ञान तो आगे-आगे चलने वाला है, लज्जा साथ चलने वाली सखी है, सम्यक् चारित्र पालकी है, बीच में ठहरने के स्थान स्वर्ग हैं, आत्मीक गुण रक्षक हैं, शान्तिमयी जल से पूर्ण मार्ग है, दया की जहाँ छाया है, आत्म भावना यही गमन है, ऐसा समाज जहां प्राप्त हो वह समाज बिना किसी उपद्रव के मुनि को अपने अभीष्ट स्थान मोक्ष को ले जाता है।

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः
पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं
विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

भावार्थ—हे साधु! तू दया, संयम, त्याग व आत्म ध्यान सहित मोक्ष मार्ग में सीधा कष्ट रहित प्रयत्नशील होकर गमन कर, यह मार्ग तुझे अवश्य वचन अगोचर, विकल्पो से अतीत उत्कृष्ट मोक्षपद में ले जायगा।

(१६) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं—

जं अवियप्प तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च ।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥६॥

भावार्थ—जो निर्विकल्प आत्म तत्व है वही सार है, वही मोक्ष का

कारण है उसी को जानकर और निर्ग्रन्थ होकर उसी निर्मल तत्व का ध्यान कर।

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णिययअप्पाणं ॥१८॥

भावार्थ—रागादि विभावो को तथा बाहरी व भीतरी सर्व मन, वचन, काय के विकल्पों को छोड़ कर और एकाग्र मन होकर तू अपने निरंजन शुद्ध आत्मा का ध्यान कर।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण ॥२४॥
झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं।
घेत्तव्वो णियअप्पा सिद्धसरूवो परो बम्भो ॥२५॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बम्भो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ----जैसे कोई अपनी तर्क बुद्धिसे पानी और दूधके मिले होने पर भी पानी और दूधको अलग २ जानता है वैसे ही ज्ञानी उत्तम व सूक्ष्म भेदविज्ञान के बल से आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है। ध्यान के बल से जीव से पुद्‌गल और कर्मों का भेद करके अपने आत्मा को ग्रहण करना चाहिये जो निश्चय से सिद्ध स्वरूप परम ब्रह्म है। जैसे कर्म मल रहित, ज्ञानमई सिद्ध भगवान सिद्ध गति में हैं वैसा हो परम ब्रह्म इस शरीर में विराजित है ऐसा अनुभव करना चाहिये।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥४१॥

भावार्थ--जिसके मनरूपी जलको रागादि विभाव चंचल नहीं करते हैं वही अपने आत्माके तत्वका अनुभव करसकता है उससे विपरीत हो तो कोई स्वात्मानुभव नही कर सक्ता है। जब सरोवर का पानी थिर होता है तब उसके भीतर पड़ा हुआ रतन जैसे साफ साफ दिख जाता है वैसे निर्मल मनरूपी जल के थिर होने पर आत्मा का दर्शन हो जाता है।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं।
जो वेइय अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

भावार्थ—जो कोई शुद्ध भाव में स्थिर, चेतन स्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है उसी योगी के निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहे गए हैं।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥६१॥

भावार्थ—सर्व सकल्प विकल्पो के रुक जाने पर योगी के भीतर एक ऐसा शाश्वत शुद्ध भाव प्रगट हो जाता है जो आत्मा का स्वभाव है तथा वही मोक्षका मार्ग है।

(१७) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते हैं-

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ इक्कखणण ॥१९॥

भावार्थ—श्री जिन परमात्मा का स्मरण करो, उन का ही चिन्तवन करो, उनही का शुद्ध मन हो कर ध्यान करो, उसी के ध्यान करने से एक क्षण में परम पद जो मोक्ष है उसका लाभ होगा।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

भावार्थ—जो कोई व्रत व संयम के साथ निर्मल आत्मा की भावना करता हैं वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

जे परभाव चएवि मुणी अप्पा अप्पु मुणंति।
केवलणाणसरूव लियइ ते संसारु मुंचति ॥६२॥

भावार्थ—जो मुनि रागादि पर भावो को छोड़ कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं वे केवल ज्ञान स्वरूप को पाकर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कया वि।
तह कम्मेण ण लिप्पियइ जइ रइ अप्पसहावि ॥९१॥

भावार्थ—जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी में नहीं डूबता है

वैसे जो कोई आत्मा के स्वभाव में रमण करता है वह कर्मों से नहीं बंधता है।

(१८) श्री नागसेनाचार्य तत्वानुशासन में कहते हैं—

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः।३२।

भावार्थ—निश्चय नय से जो भिक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रय सहित हो कर न कुछ ग्रहण करता है न कुछ त्यागता है, आप आप में एकाग्र हो जाता है यही मोक्षमार्ग है। जो कोई वीतरागी आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में देखता है जानता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप होता हुआ निश्चय मोक्ष मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र का वचन है; क्योकि व्यवहार और निश्चय दोनो ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होता है। इसलिये बुद्धिमान लोग आलस्य को त्याग कर सदा ही आत्मध्यान का अभ्यास करो।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥७४॥

भावार्थ—क्योकि ध्याता आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा में अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिये अपने आत्मा में से ध्याता है। अतएव निश्चय से छः कारकमई यह आत्मा ही ध्यान है।

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥७५॥

भावार्थ—असंगपना, कषायो का निरोध, व्रत धारना तथा मन और इन्द्रियों की विजय, ये चार बातें ध्यान की उत्पत्ति में सामग्री हैं।

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥७६॥

भावार्थ—जो साधु इन्द्रियों के पदार्थों की ओर से ध्यान हटा कर भावनाओं को चितवन करता हुआ नित्य स्वाध्याय में लगा रहता है वही मन को जीत लेता है।

स्वाध्यायः परमस्तावज्जयः पंचनमस्कृतेः ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ।।८०।।

भावार्थ—उत्तम स्वाध्याय पांच परमेष्ठी के नमस्कार मन्त्र का जप है अथवा एकाग्र मन से जिनेन्द्र कथित शास्त्रों का पढना है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।८१।।

भावार्थ—स्वाध्याय करते-करते ध्यान में आना चाहिए। ध्यान में मन न लगे तब स्वाध्याय करना चाहिये। ध्यान और स्वाध्याय की प्राप्ति से ही परमात्मा का स्वभाव प्रकाशमान होता है।

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ।।१४३।।

भावार्थ—ध्याता आत्मा और पर का यथार्थ स्वरूप जान करके श्रद्धान में लावे फिर पर को अकार्यकारी समझ कर छोड दे, अपने को एक ही देखे वा जाने।

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ।।१७१।।

भावार्थ—जैसे पवन रहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक निश्चल रहता है तैसे अपने आत्मा के स्वरूप में लीन योगी एकाग्रता को नहीं त्यागता है।

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितानमलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ।।१७८।।

भावार्थ—जो अहंकार व ममकार भाव को त्याग कर एकाग्र मन से आत्मा का अनुभव करता है, आगामी कर्मों का संवर करता है और पूर्व संचित कर्म मल का क्षय करता है।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।।१९१।।

भावार्थ—आत्मज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता

है उसी भाव से उसी तरह तन्मय हो जाता है। जैसे स्फटिक मणि के साथ जिस प्रकार के रंग की उपाधि होती है उसी से वह तन्मय हो जाती है।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।।१५।।

भावार्थ—राग-द्वेष, मोह-रूप विपरीत अभिप्राय को दूर कर तथा भले प्रकार अपने आत्मीक तत्व का निश्चय करके जो अपने आत्मा में स्थिर होकर उससे चलायमान न होना सो ही मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।२१६।।

भावार्थ—अपने आत्मा का दृढ निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, अपने आत्मा मे स्थिति सो चारित्र है, इनसे बंध कैसे हो सकता है।

(२०) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थ सार में कहते हैं—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ।।८।।

भावार्थ—जो अपने आत्मा के स्वभाव को श्रद्धान करता है, जानता है व अनुभव करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मा ही कहा गया है।

(२१) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश में कहते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९—१।।

भावार्थ—जब सर्व तेजों को मन्द करने वाले आत्मा की ज्योति

का अनुभव जाग्रत होता है तब नयों की या अपेक्षावादों की लक्ष्मी उदय नही होती है। प्रमाण के विकल्प भी अस्त हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, सिवाय आत्मानन्द के कुछ और दूसरा झलकता ही नहीं।

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।१२-१।।

भावार्थ—जब कोई भेद ज्ञानी महात्मा अपने आत्मा से भूत, भावी व वर्तमान कर्मबन्ध व रागादि भावबन्ध को भिन्न करके व बलपूर्वक मोह को दूर करके भीतर देखता है तब उसको साक्षात् अपना आत्मादेव अनुभव में आ जाता है जो प्रगट है, निश्चित है, नित्य ही कर्म कलंक से शून्य है, अविनाशी है तथा जिसकी महिमा आत्मानुभव के द्वारा ही विदित होती है।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०-१।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रत्नों की अपेक्षा तीनपना होने पर भी जो आत्म ज्योति अपने एक स्वभाव से निश्चल है, शुद्ध रूप प्रकाशमान है, अनन्त चैतन्य के चिह्न को रखती है उसे हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योंकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति जो हमारा स्वभाव है वह इस स्वानुभव के बिना हो नही सकती है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।।२२-१।।

भावार्थ—हे जगत के प्राणियो ! अनादि काल से साथ आये हुए इस मोह शत्रु को अब तो छोड़ और आत्मा के रसिक महात्माओं को

जो रसीला हैं, ऐसे प्रकाशित आत्मा के शुद्ध ज्ञान का स्वाद लो क्योंकि यह आत्मा कभी भी कहीं भी अनात्मा के साथ एक भाव को नहीं प्राप्त हो सकता है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥२३-१॥

भावार्थ—अरे भाई ! किसी तरह हो मर करके भी आत्मीकतत्व का प्रेमी हो और दो घडी के लिये शरीरादि सर्व मूर्तीक पदार्थों का तू निकटवर्ती पड़ोसी बन जाय उनको अपने से भिन्न जान और आत्मा का अनुभव कर। तौ तू अपने को प्रकाशमान देखता हुआ मूर्तीक पदार्थ के साथ एकता के मोह को शीघ्र ही त्याग देगा।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥२-२॥

भावार्थ—अरे भाई ! वृथा अन्य कोलाहल से विरक्त हो और स्वय ही निश्चिन्त होकर छः मास तक तो एक आत्म तत्त्व को मनन कर तौ तेरे हृदय रूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजधारी आत्माराम की क्या प्राप्ति न होगी ? अवश्य होगी।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४-६॥

भावार्थ—जो भेद-विज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा की महिमा में रत हो जाते हैं उनको शुद्ध आत्म तत्त्व का लाभ अवश्य होता है। सर्व अन्य पदार्थों से सदा दूरवर्ती रहने वाले महात्माओं को ही स्वानुभव होने पर सर्व कर्मों से मुक्ति प्राप्त होती है जिसका कभी क्षय नहीं है।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्रचैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ।।६—७।।

भावार्थ—हे अन्ध पुरुषो ! अनादि ससार से लेकर हरेक शरीर में ये रागी प्राणी उन्मत्त होते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह तेरा पद नही है ऐसा भले प्रकार समझ ले। इधर आ, इधर आ, तेरा पद यह है जहा चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्य कर्म व भाव कर्म दोनों से शुद्ध अपने आत्मीक रस से पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है।

सिध्दान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितंर्मोक्षार्थिभिः सेव्यता
शुध्दं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदेवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथलक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।६-६।।

भावार्थ—हढ चित्त से चारित्र को पालने वाले मोक्षार्थी महात्माओं को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति हूं और जितने नाना प्रकार के रागादि भाव झलकते हैं, उन रूप मैं नही हूँ क्योकि वे सर्व ही परद्रव्य हैं।

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुध्दनयालम्बी ।
विलीनमोहोरहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलंबे३६-१०

भावार्थ—मैं शुद्ध निश्चयनय के द्वारा तीन काल सम्बन्धी सर्व ही कर्मों को दूर करके मोह रहित होता हुआ निर्विकार चैतन्य मात्र आत्मा का ही आलम्बन लेता हूँ।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन् सोऽवश्यं
समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ।।४७-१०।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप एक यही मोक्ष का मार्ग है। जो कोई रात्रि दिन उसी में ठहरता है, उसी का मनन करता है, उसी

का अनुभव करता है, उसी मे ही निरन्तर विहार करता है, अन्य द्रव्यो को स्पर्श भी नही करता है, वही नित्य उदय रूप शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवश्य प्राप्त कर लेता है।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां

भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।

ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिध्दाः

मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२०—११।।

भावार्थ—जो महात्मा किसी भी तरह मोह को दूर करके इस निश्चल ज्ञान मात्र आत्मीक भाव की भूमि का आश्रय लेते हैं वे मोक्ष के साधन को पाकर सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी इस आत्म भूमि को न पाकर ससार मे भ्रमण करते रहते हैं।

(२२) श्री अमितिगति आचार्य सामायिक पाठ में कहते हैं —

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,

भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।

इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,

स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै।।२४।।

भावार्थ—मेरे आत्मा से बाहर जितने पदार्थ हैं वे मेरे कोई नही हैं और न मैं कभी उनका हूँ, ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थों से मोह छोडकर हे भव्य ! तू सदा अपने ही आत्मा मे लीन हो, इसी से मुक्ति का लाभ होगा।

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमानस्त्वं,

दर्शनज्ञानमयो विशुध्दः ।

एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,

स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ।।२५।।

भावार्थ—हे भद्र ! तू अपने आत्मा मे ही आत्मा को देखता हुआ दर्शन ज्ञानमयी विशुद्ध एकाग्र चित्त होजा, क्योकि जो साधु निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है वही आत्म समाधि को पाता है।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।

विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे।२६।

भावार्थ—संसार वन में भटकाने वाले सर्व ही रागादि विकल्प जालों को दूर करके यदि तू सर्व से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तो तू अवश्य परमात्मतत्व में लीनता को प्राप्त कर लेगा।

(२३) श्री अमितिगति आचार्य तत्व भावना में कहते हैं :—

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम्॥
संतोषामृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परं: ॥२४॥

भावार्थ—जिन महात्माओं का घर बन है, अन्धकार नाशक दीपक चन्द्रमा है, उत्तम भोजन भिक्षा है, शय्या पृथ्वी है, दश दिशाएँ वस्त्र हैं, सन्तोष रूपी अमृत के पान से जिनका शरीर पुष्ट है वे ही धन्य पुरुष कर्मों का क्षय करके दुःख रहित मोक्ष के स्थान को पाते हैं, जो और दीनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ३६।

भावार्थ—जिन महात्माओं ने इन्द्रिय विषय और कषाय रूपी बैरियो के विजय का अभ्यास किया है, जो लौकिक व्यवहार से अलग हैं, जिन्होंने बाहरी भीतरी परिग्रह को त्याग दिया है वे ही ज्ञानी अपने मन को वश करके ससार शरीर भोगों से उत्तम वैराग्य को रखते हुए आत्म समाधि को प्राप्त करके शरीर रहित हो मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वां सर्वथा कल्पनाम्।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ—हे आत्मन्! मैं शूर हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं सबसे अधिक धनवान हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मैं

सब मानवों में मुख्य हूँ। इस तरह की पाप बन्धकारी कल्पना को सर्वथा दूर करके तू निर्मल आत्मीक स्वभाव का ध्यान कर जिसमे निर्वाण की लक्ष्मी प्राप्त हो।

लब्ध्वा दुर्लभमेदयोः सपदि ये देहात्मनोरन्तरं ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयःशुद्धेन कर्मेन्धनं ।।
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा त्रिलोकार्चिताः ।
पंथानं कथयंति सिध्दिवसतेस्ते सन्तु नः सिध्दये ।।६४।।

भावार्थ—जो मुनि शरीर और आत्मा के भेद को जिसका पाना दुर्लभ है, पा करके और शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी इंधन को जला देते हैं वे लोकालोक को देखनेवाले केवलज्ञान नेत्रधारी इस लोक पर लोक से पूज्य हो कर हमारी शुद्धि के लिये मोक्षनगर जाने का मार्ग बताते हैं।

(२४) श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृत में कहते हैं—

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुध्दिर्द्गवग-
मचारित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपं ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति,
विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ।।७६।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेदरूप मोक्षमार्ग की बुद्धि वचनों से रची हुई है। वास्तव में यह रत्नत्रय आत्मा का अपना स्वभाव है। योगी ध्यान दृष्टि के द्वारा इसी चेतनामय स्वभाव का ही अनुभव करते हैं।

(२५) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं—

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ।।१४।।

भावार्थ—शुद्धात्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा में स्थिति सम्यक्चारित्र है, तीनो की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।

एकमेव हि चैतन्यं शुध्दनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि।।१५।।

भावार्थ—अथवा शुद्ध निश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्षमार्ग है। अखड वस्तु आत्मा में भेदो के उठाने की जरूरत नहीं है।

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं पर रमृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ।।६६।।

भावार्थ—उत्तम समताभाव एक करना चाहिये, समता का तत्व उत्कृष्ट है। समताभाव ही सर्व उपदेशो मे सार उपदेश मुक्ति के लिए कहा गया है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शाश्वदानन्वमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षेकसद्मनः ।।६७।।

भावार्थ—समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचनेवाला है, यह अविनाशी आनन्द का मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यही मोक्षमहल की सीढ़ी है।

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहाबावदाहे दावानलायते ।।६८।।

भावार्थ—समताभाव सर्व शास्त्रो का सार है ऐसा विद्वानो ने कहा है। समताभाव ही कर्म रूपी महावृक्ष के जलाने को दावानल के समान है। यह समताभाव आत्मध्यान से ही जागृत होता है।

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगेकलक्षणम् ।।७५।।

भावार्थ—रागादि उपजानेवाले कर्म तथा रागादिभाव उनके कार्य ये सब ही ज्ञानी द्वारा त्यागने योग्य है। मात्र एक उपयोग लक्षणरूप आत्मा की परमज्योति ही ग्रहण करने योग्य है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय में कहते हैं—

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते।
वस्तु मुष्टिबिधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ।।८।।

भावार्थ—आत्मतत्व निश्चय से आत्मा मे ही है। जो कोई उस तत्व को अन्य स्थान मे खोजता है वह ऐसा मूढ है जो अपनी मुट्ठी में धरी वस्तु को वन में ढूँढता है।

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ।।२०।

भावार्थ—शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद का कारण है। अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध पदका कारण है। जैसे सुवर्ण से सुवर्ण के पात्र बनते हैं और लोहे से लोहे के पात्र बनते हैं।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ।।२५।।

भावार्थ—सर्व रागादि की उपाधि से रहित जो एक ज्ञानरूप तत्व है सो ही हमारा है और जरा सा भी कोई हमारा तत्व नही है ऐसा योगी का निश्चय मोक्ष का कारण है।

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ।।३०।।

भावार्थ—परमात्मा के स्वरूप में सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र इन तीनों रत्नों का संचय है। इसलिये योगियों की दृष्टि का विषय एक निज आत्मा ही है।

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः ।
योगिनोऽणुसदृशं,विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरं।३३।।

भावार्थ—योगी के आत्मध्यानरूपी चन्द्रमा के उदय से निर्मल ज्ञान रूपी समुद्र बढ़ जाता है। उस समुद्र में यह चर अचररूप सर्व जगत डूबकर के एक अणुमात्र दिखलाई पड़ता है। शुद्ध ज्ञान में ऐसी शक्ति है जो ऐसे अनन्त लोक हों तौभी दिख जावे।

जल्पितेन वहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिध्दये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितं।।४१।।

भावार्थ—बहुत अधिक कहने से क्या ? ध्यान की सिद्धि के लिये बुद्धिमान को उचित है कि सर्व कर्मजनित रागादि की उपाधि से रहित एक समता भाव को अंगीकार करें।

(२७) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपंचाशत् में कहते है—'

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपं ।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ।।१३।।

भावार्थ—सम्यक् सुख ज्ञान दर्शन ये तीनो ही अखण्ड परमात्मा का स्वभाव है। इसलिए जो कोई परमात्मा मे लीन है वह सच्चे सुख व ज्ञान व दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ।।१६।।

भावार्थ—यदि सम्यक् आत्म ज्ञान न हो तो यह मानव कदापि मोक्ष को नही प्राप्त कर सकता है। चाहे वह हिंसा से रहित एकाकी सर्व उपद्रव को सहता हुआ वन मे वृक्ष के समान खडा रहे।

(२८) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते हैं—

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ।।१९६।।
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ।।१९७।।

भावार्थ—जो परिग्रह आदि से रहित हैं, धीर हैं, रागादि मल से रहित है शान्त हैं इन्द्रियविजयी हैं तपस्वी हैं, मुक्ति प्राप्ति की भावना रखते हैं मन, वचन काय तीनो योगो को वश रखने वाले हैं, चारित्रवान हैं, दयावान हैं, वे ही ध्यानी उत्तम पात्र मुनि हैं।

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतम् ।।२२६।।

भावार्थ—आर्त व रौद्र ध्यान को त्याग कर जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का आश्रय लेता है वही जीव अनन्त सुखमयी अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
यदासौ प्रशमो नास्ति ततस्तीर्थनिरर्थकम् ।।३११।।
शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिण; ।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ।।३१२।।

रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वन्ति दयापराः ।
तेषां निर्मलता योगेर्न च स्नातस्य वारिणा ॥३१३॥
आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥३१४॥

भावार्थ—जब यह आत्मा शांत भाव में तिष्ठता है तब यही महान तीर्थ है। यदि आत्मा में शांति नही है तो तीर्थ यात्रा निरर्थक है। शील व व्रत रूपी जल में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि होती है किन्तु पृथ्वी भर की नदियों में स्नान करने से नही हो सकती है। जो कोई दयावान रागद्वेषादि भावों को छोड़ कर आत्मा के वीतराग भाव में स्नान करते है उन्ही को ध्यान से निर्मलता प्राप्त होती है मात्र जल के स्नान से पवित्रता नही आती है। आत्म ज्ञान रूपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिये, जिससे जन्म-जन्म के पाप धुल जाते हैं।

(२२) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

मोहवह्निमपाकर्त्तुं स्वीकर्त्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं ममत्वमवलम्ब्यताम् ॥१—२४॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! मोह रूपी अग्नि को बुझाने के लिए सयम रूपी लक्ष्मी को स्वीकार करने के लिये तथा राग रूपी वृक्षो के समूह को काटने के लिये समता भाव को धारण करो ।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥३—२४॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू काम भोगो से विरक्त हो, शरीर में राग को छोड़ और समभाव को भज क्योंकि केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का कुल ग्रह सम भाव है। सम भाव से ही अरहन्त पद होता है।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥५—२४॥

भावार्थ—संयमी समता भाव रूपी सूर्य की किरणों से रागादि अन्धकार के समूह को जब नष्ट कर देता है तब वह अपने आत्मा मे ही परमात्मा के स्वरूप को देख लेता है।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥६-२४॥

भावार्थ—भेद विज्ञानी महात्मा समता भाव की सीमा को प्राप्त करके और अपने आत्मा मे आत्मा का निश्चय करके जीव और कर्मों को जो अनादि से मिले हैं, पृथक् कर देता है ।

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरं ।
न यथा द्वेषरागाभ्या गृह्णात्यर्थकदम्बकं ॥८-२४॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा की समता भाव के साथ अति गाढ़ इस तरह भावना कर कि जिससे पदार्थ के समूह को राग द्वेष से देखना बन्द हो जावे ।

आशा: सद्यो: विपद्यन्ते यान्त्यविद्या: क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चितभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११-२४॥

भावार्थ—जो महात्मा समभाव की भावना करता है उसकी आशाएँ शीघ्र नाश हो जाती है, अज्ञान क्षणभर में क्षय हो जाता है, चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है ।

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥१३-२४॥

भावार्थ—सर्वज्ञो ने समताभाव को ही उत्तम ध्यान कहा है, उसी की प्रगटता के लिये सर्व शास्त्रो का विस्तार है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितं ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥१६-२४॥

भावार्थ—जब योगी अपने आत्मा को औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरों से रहित व राग, द्वेष, मोह इन तीनो दोषो से रहित आत्मा ही के द्वारा जानता है तब ही समभाव में स्थिति होती है ।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणं ।
निश्चिनोति यदात्मनं तदा साम्यं प्रसूयते ॥१७-२४॥

भावार्थ—जिस समय यह आत्मा अपने को सर्व परद्रव्यों की पर्यायों व पर द्रव्यो से विलक्षण निश्चय करता है उसी समय समताभाव पैदा होता है ।

सौधोत्संगे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा
पल्यंके कण्ठकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णांके दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्यचित्तं विकल्पैर्नालीढं
सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं ॥२८-२४॥

भावार्थ—जिस महात्मा का चित्त महलो को या स्मशान को देख कर, स्तुति व निन्दा किये जाने पर, कीचड व केशर से छिडके जाने पर, पल्यक शय्या व काँटो पर लिटाए जाने पर, पाषाण और चन्द्र-कान्तमणि के निकट आने पर, चर्म व चीन के रेशमी वस्त्रो के दिये जाने पर, क्षोण शरीर व सुन्दर स्त्री के देखने पर,अपूर्व शान्त भाव के प्रताप से राग द्वेष विकल्पो को स्पर्श नही करता है वही चतुर मुनि समता भाव के आनन्द को अनुभव करता है।

यस्य ध्यानं सुनिष्कंपं समत्वं तस्य निश्चलं ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ॥२—२५॥

भावार्थ—जिसके ध्यान निश्चल हैं उसी के समभाव निश्चल है। ये दोनो परस्पर आधार हैं। ध्यान का आधार समभाव है, समभाव का आधार ध्यान हैं।

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरी भवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥३—२५॥

भावार्थ—प्रशसनीय आत्म ध्यान से केवल समताभाव ही नही स्थिर होता है किन्तु यह शरीर रूपी यन्त्र का स्वामी जीव जो कर्मों के समूह से मलीन है सो शुद्ध हो जाता है .

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६-२५॥

भावार्थ—ससार रूपो अग्नि से उत्पन्न हुए बडे आताप की शान्ति के लिये धीर वीर पुरुषों को ध्यान रूपी समुद्र का स्नान ही श्रेष्ठ है।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३—२७॥

भावार्थ—धर्म ध्यान का ध्याता वही होता है जो सम्यक् ज्ञान और वैराग्य से पूर्ण हो, इन्द्रिय व मन को वश रखने वाला हो, जिसका अभिप्राय स्थिर हो, मोक्ष का इच्छुक हो, उद्यमी हो तथा शान्त भावधारी हो तथा धीर हो।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यापि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ।।३४-२७।।

भावार्थ—जो जो स्थान ध्यान में विघ्न कारक हों उन सबको स्वप्न में भी सेवन न करे। मुनियों को एकान्त ध्यान योग्य स्थान में ही ध्यान करना चाहिये।

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यांति लाघवं ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ।।८-२८।।

भावार्थ—जहां बैठने से रागादि दोष शीघ्र घटते चले जावें वहां ही साधु को बैठना ठीक है। ध्यान के समय में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ।।९-२८।।

भावार्थ—धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के तखते पर, शिला पर, भूमि पर व बालू रेत में भले प्रकार आसन लगावे।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ।।१०—२८।।

भावार्थ—ध्यान के योग्य आसन हैं (१) पर्यंकासन, (पद्मासन), अर्द्ध पर्यंकासन (अर्द्ध पद्मासन), वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कार्योत्सर्ग।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ।।२०-२८।।

भावार्थ—ध्यान की सिद्धि के लिये स्थान और आसन का विधान है। इनमें से एक भी न हो तो मुनि का चित्त क्षोभ रहित न हो।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३-२८॥

भावार्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यान के समय प्रसन्न मन होकर साक्षात् पूर्व दिशा में मुख करके अथवा उत्तर दिशा में भी मुख करके ध्यान करे तो प्रशंसनीय है।*

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०-२८॥

भावार्थ—इन्द्रियों को जीतने वाला महात्मा योगी आसन को भी वश करे। जिसका आसन ध्यान में स्थिर होता है वह कुछ भी खेद नहीं पाता है।

नेत्रद्वंद्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रू युगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयं ॥१३-३०॥

भावार्थ—शुद्ध मतिधारी आचार्यों ने दश स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये कहे हैं—(१) नेत्र युगल, (२) कर्ण युगल, (३) नाक का अग्र भाग, (४) ललाट, (५) मुख, (६) नाभि, (७) मस्तक, (८) हृदय, (९) तालु, (१०) दोनों भोंहों का मध्य भाग। इनमें से किसी एक स्थान में मन को विषयों से रहित करके ठहराना उचित है। उन्हीं में कहीं पर ॐ या ह्रं मन्त्र को स्थापित कर ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८-३१॥

भावार्थ—जहां आत्मा परमात्मा में एकतानता से लीन हो जावे वही समरसीभाव है, वही एकीकरण है, वही आत्म ध्यान है।

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥३२-३२॥

भावार्थ—ध्याता विचारे कि मैं अपने को ज्ञान ज्योतिमय देखता हूं। इसी से मेरे रागादिक क्षय हो गये हैं। इस कारण न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ।।४१-३२।।

भावार्थ—यह आत्मा आत्मा में ही आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इससे छोडकर अन्य स्थान में आत्मा के जानने का जो खेद है सो निष्फल है ।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ।।४२-३२।।

भावार्थ—वही मैं परमात्मा हूँ, वही मैं परमात्मा हूँ, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासना को दृढ़ करता हुआ आत्मा मे स्थिरता को पाता है, आत्म ध्यान जग उठता है ।

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ।।८५-३२।।

भावार्थ—शरीर से आत्मा भिन्न है ऐसा सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जब तक दोनो भेद का अभ्यास पक्का नही होता है तब तक देह से ममत्व नही छूटता है ।

अतीन्द्रियनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानंदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।९९-३२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आप ही से ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनों से कहने योग्य नही हूँ, अमूर्तीक हूँ, मन की कल्पना से रहित हूँ तथा चिदानन्दमयी हूँ ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।।३१-३७।।

भावार्थ—इस तरह पिण्डस्थ ध्यान में जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि ध्यान से साध्य जो मोक्ष का सुख उसको शीघ्र ही पाता है ।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ।।११४-३८।।

भावार्थ—जो मुनि वीतराग हैं उनके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है परन्तु रागी के लिये ध्यान करना दुःख रूप ही है ।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥३२-३६॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ देवकी शरण रख कर अन्य की शरण न रखता हुआ उसी के स्वरूप में मन को लीन कर देता है वह ध्यानी मुनि उसी में तन्मयता को पाकर उसी स्वरूप हो जाता है ।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३-३६॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो सर्वज्ञ देव हैं उसी स्वरूपपने को मैं प्राप्त हुआ हूँ । इस कारण वही सर्व का देखने वाला मैं हूँ । अन्य मैं नहीं हूँ ऐसा मानता है ।

त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठे
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ।४६-३६।

भावार्थ—हे मुने ! तू वीतराग देव का ही ध्यान कर । जो देव तीन लोक को आनन्द के कारण हैं, संसार समुद्र से पार करने को जहाज हैं, पवित्र हैं, लोकालोक प्रकाशक हैं, करोड़ों चन्द्रमा के प्रभा से भी अधिक प्रभावान हैं, किसी मुख्य कोटि में सर्व जगत का उल्लंघन करके प्रतिष्ठा प्राप्त हैं, जगत के एक नाथ हैं, आनन्द स्वरूप हैं, अजन्मा व पाप रहित हैं ।

इतिविगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥३१-४०॥

भावार्थ—हे मुनि ! इस प्रकार विकल्प रहित, रागादि दोष-रहित, सर्वज्ञायक ज्ञाता, सर्व प्रपंच से शून्य, आनन्द रूप, जन्म-मरण रहित, कर्म रहित, जगत के एक अद्वितीय स्वामी परम पुरुष परमात्मा को भाव को शुद्ध करके भजन कर ।

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः।
धर्म्यध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखांभोरुहं।।२-४२।।

भावार्थ—हे आत्मन्। तू अपने आत्मा के अर्थ का ही आश्रय कर, मोह रूपी वन को छोड़, भेद-विज्ञान को मित्र बना, वैराग्य को भज, निश्चय से शरीर और आत्मा के भेद की भावना कर। इस तरह धर्म ध्यान रूपी अमृत के समुद्र के मध्य में अवगाहन करके अनन्त सुख से पूर्ण मुक्ति के मुख कमल को देख।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं—

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि,
क्व यान्ति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः।
क्व यान्ति रागादय एव शुद्धचिद्रूप-
कोहं स्मरणे न विद्मः।।८-२।।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा स्मरण करते ही न जाने कहां शुभ व अशुभ कार्य चले जाते हैं, न जाने कहां चेतन व अचेतन परिग्रह चले जाते हैं तथा न जाने कहा रागादि बिला जाते हैं।

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेन्द्रो महान्।
भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः।।९-२।।

भावार्थ—जैसे पर्वतों में मेरु श्रेष्ठ है, वृक्षों में कल्पवृक्ष बड़ा है, धातुओं में सुवर्ण उत्तम है, पीने योग्य पदार्थों में अमृत सुन्दर है, रत्नों में उत्तम चिन्तामणि रत्न है, ज्ञानों में श्रेष्ठ केवलज्ञान है, चारित्रों में श्रेष्ठ समताभाव है, आत्माओं में तीर्थ कर बड़े हैं, गायों में प्रशंसनीय कामधेनु है, मानवों में महान् चक्रवर्ती है, तथा देवो में इन्द्र महान् व उत्तम है उसी तरह सर्व ध्यान में शुद्ध चिद्रूप का ध्यान सर्वोत्तम है।

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ।।१३—२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू चैतन्य स्वरूप शुद्ध अपने आत्मा का प्रति क्षण स्मरण कर जिसके स्मरण मात्र से शीघ्र ही कर्म क्षय हो जाते हैं।

संगं विमुच्य विजने वसन्ति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः।।५—३।।

भावार्थ—ज्ञानी अन्य सर्व इच्छाओं को त्याग कर, परिग्रह से अलग होकर शुद्ध चैतन्य-रूप के ध्यान के लिए एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओं में वास करते हैं।

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना ।
शुध्दचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ।।११-३।।

भावार्थ—सर्व कर्मों से, शरीर से व सर्व परिग्रह से निर्ममता रूपी माता के बिना शुद्ध चैतन्य रूप सत्य ध्यान रूपी पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुध्दचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०-४।।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप के सिवाय न तो और मैं कुछ हूं, न कुछ और मेरा है। इसलिये दूसरे की चिन्ता करना वृथा है, ऐसा जानकर मैं एक शुद्ध चिद्रूप में ही लय होता हूं।

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ।।१०-६।।

भावार्थ—अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप को जानकर उसी में तिष्ठो और निराकुल रहो। दूसरे भले बुरे किसी पदार्थ में रागद्वेषादि भाव न करना उचित है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ।।११-६।।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्यरूप हूँ इसलिये मैं उसी को देखता हूँ और सुखी होता हूँ। उसी से संसार का नाश और मुक्ति का लाभ होता है, यही जैनागम का सार है।

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत्।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥४-८॥

भावार्थ—जिस तरह प्यास के दुःख को दूर करने के लिये बुद्धिमान् संवाल को हटाकर जल को पीता है उसी तरह ज्ञानी सर्व संकल्प विकल्पों को छोडकर एक निर्मल आत्म ध्यान रूपी अमृत का ही पान करते हैं।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५-८॥

भावार्थ—आत्मध्यान से बढकर कही कभी सुख नही है, न आत्म ध्यान से बढकर कही कभी कोई तप है, न आत्मध्यान से बढकर कही कभी कोई मोक्ष मार्ग है।

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥१७-८॥

भावार्थ—यह भेद विज्ञान शुद्ध चिद्रूप के दर्शन के लिये तथा अनादि काल के महा मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के छेदन के लिये दीपक है।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं।
तस्माद् बंधस्ततो दुःख मोह एव ततो रिपुः ॥२१—६॥

भावार्थ—शुद्ध चिद्रूप के ध्यान के सिवाय जितने कार्य हैं वे सब मोह से होते हैं। उस मोह से कर्म बन्ध होता है, बन्ध से दुःख होता है, इससे जीव का बैरी मोह ही है।

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१४—१०॥

भावार्थ—सबसे ममता का त्याग ही परम तत्व है, ध्यान है, व्रत है व परम सुख है, शील है व इन्द्रिय निरोध है। इसलिये निर्ममत्वभाव को सदा विचार करे।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिन जायते ।
यर्थाद्धस्तपसः पुत्री पितुर्वृ ष्टिर्बलाहकात् ।।३—१२।।

भावार्थ—जिस तरह तप के बिना शुद्धि नहीं होती, पिता के बिना पुत्री नही होती, मेघ बिना वृष्टि नही होती वैसे रत्नत्रय के बिना चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ।।४—१२।।

भावार्थ—जहाँ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अपने ही आत्मा की प्रवृत्ति एक साथ होती है इसीको जिनेन्द्रों ने रत्नत्रय धर्म कहा है ।

यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुध्दचिद्रूपचिंतनात् ।।१०—१४।।

भावार्थ—जैसे मेघों की वृष्टि से हरे अंकुर फूटते हैं वैसे शुद्ध चैतन्य रूप के चिन्तवन से मोक्षदायक धर्म की वृद्धि होती है ।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं,
च तत्त्वज्ञान सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां,
मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ।।८—१६।।

भावार्थ—इन नीचे लिखे कारणो से मुनियों को ध्यान की सिद्धि मुक्ति के लिये होती है । ये ही मोक्ष के कारण हैं (१) परिग्रह त्याग कर असग भाव, (२) निर्जन एकान्त स्थान, (३) तत्व ज्ञान, (४) सर्व चिन्ता से छुट्टी, (५) बाधारहितपना, (६) तथा मन, वचन, काय योगो को वश करना ।

(३२) पं० बनारसीदास जी बनारसी विलास में कहते हैं—

सवैया ३१

पूरब करम दहै, सरवज्ञ पद लहै,
गहै पुण्य पंथ फिर पाप में न आवना ।
करुना की कला जागे कठिन कषाय भागे,
लागे दानशील तप सफल सुहावना ।।

पावै भवसिन्धु तट खोलै मोक्ष द्वार प्रट,
शर्म साथ धर्म की धरा में करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ॥८६॥
प्रशम के पोषवे को अमृत की धारासम,
ज्ञान वन सींचवे को नदी नीर भरी है।
चंचल करण मृग बांधवे को वागुरासी,
काम दावानल नासवे को मेघ झरी है॥
प्रबल कषायगिरि भंजवे को वज्र गदा,
भौ समुद्र तारवे को पौढी महा तरी है।
मोक्ष पन्थ गाहवेकों वेशरी विलायत की,
ऐसी शुद्ध भावना अखण्ड धार ढरी है ॥८७॥

कवित्त।

आलश त्याग जाग नर चेतन, बल सँभार मत करहु विलम्ब।
इहाँ न सुख लवलेश जगत महिं, निम्ब विरष मैं लगे न अम्ब॥
तातै तू अन्तर विपक्ष हर, कर विलक्ष निज अक्ष कदम्ब।
गह गुन ज्ञान बैठ चारितरथ, देहु मोष मग सन्मुख बम्ब॥ ३ ॥

सवैया—२३

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महारुचि मासी।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा, मति पुत्रवधू समता अतिभासी॥
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यो मुनिको कहिये गृहवासी॥ ७ ॥

(३३) पं० बनारसीदास नाटक समयसार में कहते हैं—

सवैया—३१

जैसे रवि मण्डल के उदै महि मण्डल में
आतम अटल तम पटल विलातु है।
तैसे परमातम को अनुभौ रहत जोलौं,
तो लौं कहूँ दुविधान कहुँ पक्षपात है॥
नय को न लेस परमाण को न परवेस,
निक्षेपके वंश को विध्वंस होत जातु है।
जेजे वस्तु साधक है तेऊ तहाँ बाधक है,
बाकी रागद्वेषकी दशाकी कौनबातु है॥ १० ॥

कवित्त

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को मेल ॥
पुद्गल पिंड भावरागादि, इन सो नही तिहारो मेल।
ये जड प्रगट गुपत तुम चतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥ १२ ।

सवैया २३

शुद्ध नयातम आतम की, अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेव कहावत दोई ॥
यों सरवग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई।
मेटि अशुद्ध विभाव दशा तब, सिद्ध स्वरूप की प्रापति होई ॥ १४ ॥

सवैया ३१

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भाति [illegible] के ऐसो काज कीजिये।
एकहू मुहूरत मिथ्यात्व को विध्वस होइ,
ज्ञान को जगाय अस हस खोज लीजिये ॥
वाही को विचार वाको ध्यान यह कौतूहल,
यो ही भर जन्म परम रस पीजिये ॥
तजिये भववास को विलास सविकार रूप,
अन्त कर मोह कों अनन्त काल जीजिये ॥ २४ ॥

भैया जगवासी तू उदासी व्हैके जगत सो,
एक छ महीना उपदेश मेरो मान रे।
और सकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिके एकन्त मन एक ठौर आन रे॥
तेरो घट सरिता मे तू ही व्है कमल वाको,
तू ही मधुकर व्है सुवास पहिचान रे।
प्रापति न व्है हे कछु ऐसो तू विचारत है,
सही व्है है प्रापति सरूप योहो जान रे॥ ३ ॥

भद ज्ञान आरा सो दुफारा करे ज्ञानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचे।
अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे,
करम भरम को खजानो खोलि खरचे ॥

यो ही मोक्ष मग धावे केवल निकट आवे,
पूरण समाधि लहे परम को परचे।
भयो निरदोर याहि करनो न कछु और,
ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे ॥ २ ॥

जामें लोक वेद नाहि थापना अछेद नांहि,
पाप पुण्य खेद नांहि क्रिया नांहि करनी।
जामें राग द्वेष नाहि जामें बन्ध मोक्ष नांहि,
जामें प्रभु दास न आकाश नांहि धरनी ॥
जामें कुल रीति नांहि, जामें हार जीत नांहि,
जामें गुरु शिष्य नांहि विषयनांहि भरनी।
आश्रम वरण नांहि काहूका सरण नांहि,
ऐसी शुद्ध सत्ता की समाधि भूमि वरनी ॥२३॥

सवैया २३

जो कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे।
सम्यक् धार प्रवाह वहे गुण, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावे ॥
तो अभिअन्तर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे ॥
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञानकला जिनि पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसो जु पराई ॥
उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ॥ ५ ॥

सवैया ३२

जिन्ह के सुहृष्टी में अनिष्ट इष्ट दोउ सम,
जिन्ह को आचार सुविचार शुभ ध्यानहै।
स्वारथको त्यागि जे लगे हैं परमारथ को,
जिन्ह के बनिज में नफा है न ज्यान हैं ॥
जिन्ह के समझ में शरीर ऐसो मानीयत,
धानकीसो छीलक कृपाणको सो म्यान है।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीका यथारथ ज्ञान है ॥४५॥

सवैया—२३

काज बिना न करे जिय उद्यम, लाज बिना रण मांहि न जूझे।
डील बिना न सधै परमारथ, सील बिना सतसों न अरूझे ॥

नेम बिना न लहे निहचे पद, प्रेम बिना रस रीति न बूझे।
ध्यान बिना न थमै मनकी गति, ज्ञान बिना शिवपंथ न सूझे ॥२३॥
ज्ञान उदै जिह के घट अन्तर, ज्योति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतम ध्यानकला विधि फैली ॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखें, सुविवेक लिये परखें गुण थैली।
ते जग में परमाथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम सैली ॥२४॥

सवैया ३१

आचारज कहे जिन वचन को विसतार,
अगम अपार है कहेंगे हम कितनो।
बहुत बोलवे सों न मकसूद चुप्प भलो,
बोलिये सों वचन प्रयोजन है जितनो ॥
नाना रूप जल्पन सो नाना विकलप उठे,
ताते जेतो कारिज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमात्मा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
ये ही मोक्ष पन्थ परमारथ है इतनो ॥१२४॥
जे जीव दरव रूप तथा परयाय रूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है।
जे अशुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा,
विषैसों विमुख ह्वै विरागता चहत है ॥
जे-जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ॥३५॥

(३४) पं० द्यानतरायजी द्यानत विलास में कहते हैं :—

सवैया २३

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सों फल मोहि भयो दुःख दाता ॥
सो जड रूप स्वरूप नहीं मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नास करौं पल मैं सबकौं अब, जाय बसौ सिव खेत विख्याता ॥६५॥
सिद्ध हुए अब होइ जु होइगे, ते सब ही अनुभौ गुनसेती।
ताविन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ॥
ज्यौं तुषमांहि नहीं कनलाभ, किये नित उद्यमकी विधि जेती।
यौं लखि आदरियें निजभाव, विभाव विनास कला सुभ ऐती ॥६६॥

सवैया ३१

जगत के निवासी जगही में रति मानत हैं,
मोख के निवासी मोख ही में ठहराये हैं।
जगके निवासी काल पाय मोख पावत है,
मोख के निवासी कभी जग में न आये हैं ।।
एतौ जगवासी दुखवासी सुखरासी नाहिं,
वे तौ सुखरासी जिनवानी में बताये हैं।
ताते जगतवास तें उदास होइ चिदानन्द,
रत्नत्रय पन्थ चलें तेई सुखी गाये हैं ।।७३।।

याही जगमाहिं चिदानन्द आप डोलत है,
भरम भाव धरें हरें आतम सकत कौं।
अष्ट कर्म रूप जे-जे पुद्गल के परिनाम,
तिन को सरूप मानि मानत सुमत कौं ।।
जाहीसमें मिथ्या मोह अन्धकार नासि गयौ,
भयौ परगास भान चेतन के ततकौ।
ताहीसमें जानौ आप आप पर पर रूप,
भानि भव-भावरि निवास मोख गतकौ ।।७४।।

राग द्वेष मोह भाव जीवकौ सुभाव नाहिं,
जीवकौ सुभाव सुद्ध चेतन वखानियें।
दर्व कर्म रूप ते तो भिन्न ही विराजत हैं,
तिनकौ मिलाप कहो कैसें करि मानियें ।।
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदै प्रगट भयौ,
अमल अबाधित अखण्ड परमानियें।
सोई सु विचच्छन मुकत भयौ तिहुँकाल,
जानी निज चाल पर चाल भूलि भानियें ।।७५।।

अशोक छन्द

राग भाव टारिकें सु दोषकौं विडारिकें,
सु मोह भाव गारिकें निहारि चेतनामयी।
कर्मकौं प्रहारिकें सु भर्म भाव डारिकें,
सु चर्म दृष्टि दारिकें विचार सुद्धता लयी ।।
ज्ञान भाव धारिकें सु दृष्टिकौं पसारिकें,
लखौ सरूप तारिकें, अपार सुद्धता लई।

मत्त भाव मारिकैं सु मार भाव छारिकैं,
सु मोखकौं निहारिकैं बिहारिकौं बिदा दई ॥७६॥
सुद्ध आतमा निहारि राग दोष मोह टारि,
क्रोध मान वक गारि लोभ भाव भानुरे।
पाप पुन्यकौं विडारि सुद्ध भावकौ सम्भारि,
भर्म भावकौं विसारि पर्म भाव आनुरे॥
चर्म दृष्टि ताहि जारि सुद्ध दृष्टिकौं पसारि,
देह नेहकौं निवारि सेत ध्यान ठानुरे।
जागि जागि सैन छार भव्य मोखकौं विहार,
एक बार के कहे हजार बार जानुरे॥८२॥

छप्पं

जपत सुद्ध पद एक, एक नहिं लखत जीव तन।
तनक परिग्रह नाहि, नाहि जहं राग दोष मन॥
मन बच तन थिर भयौ, भयौ वैराग अखण्डित।
खण्डित आस्रव द्वार, द्वार सवर प्रभु मण्डित॥
मडित समाधिसुख सहित जब, जब कषाय अरिगन खपत।
खप तनममत्त निरमत्त नित, नित तिनके गुण भवि जपत॥६१॥

सवैया २३

जिनके घटमैं प्रगट्यो परमारथ, राग विरोध हिये न विथारे।
करकैं अनुभौ निज आतमकौ, विषया सुखसौं हित मूल निवारे॥
हरिकैं ममता धरिकैं समता, अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारे।
जिनकी यह है करतूति सुजान, सुआप तिरे पर जीवन तारे॥६२॥

सवैया ३१

मिथ्या भाव मिथ्या लखौ ग्यान भाव ग्यान लखौ,
काम भोग भावनसौं काम जोर जारिकै।
परकौ मिलाप तजौ आपनपौ आप भजौ,
पाप पुण्य भेद छेद एकता विचारिकै॥
आतम अकाज करै आतम सुकाज करै,
पावै भव पार मोख एतौ भेद धारिकै।
या तै हूं कहत हेर चेतन चेतौ सबेर,
मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकै॥६४॥

छप्पै

मिथ्या दृष्टी जीव, आपकों रागी मानै ।
मिथ्या दृष्टी जीव, आपकौ दोषी जानै ॥
मिथ्या दृष्टी जीव, आपकों रोगी देखे ।
मिथ्या दृष्टी जीव, आपको भोगी पेखै ॥
जो मिथ्या दृष्टी जीव सो, सुद्धातम नाही लहै ।
सोई ज्ञाता जो आपकों, जैसाका तैसा गहै ॥ १०६ ॥

सवैया—३१

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निज भाव दूजो परउतपात है ।
तातें एक भाव गहौ दूजो भाव मूल दहौ,
जातें सिवपद लहौ यही ठीक बात है ॥
भाव को दुखाया जीव भाव ही सौं सुखी होय,
भाव ही कौ फरि फरै मोखपुर जात है ।
यह तौ नीकौ प्रसग लोक कहैं सरवग,
आगहीको दाधौ अग आग ही सिरात है ॥१०७॥

बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झगमैं ।
आतमासेती विमुख गहै राग दोष रूप,
पच इन्द्रीविष सुख लीन पग पग मैं ॥
पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भमै सिष्टमग मैं ।
जागि जगवासी तू उदासी ह्वैक विपय सौं,
लागि सुद्ध अनुभौ ज्यौं आवै नाहिं जगमैं ॥११७॥

(३५) प० भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते हैं—

सवैया—३१

कर्म को करैया सो तौ जानै नाहिं कैसे कर्म,
भरम मे अनादिही को करमैं करतु है ।
कर्म को जनैया भैया सो तौ कर्म करै नाहि,
धर्म माहि तिहूं काल धर मे धरतु है ॥

दुहूंन की जाति पाति लच्छन स्वभाव भिन्न,
कबहूँ न एकमेक होइ विचरतु है।
जा दिनातें ऐसी दृष्टि अन्तर दिखाई दई,
ता दिनातें आपु लखि आपु ही तरतु है ।। २२ ।

सवैया २३

जब तें अपनो जिउ आपु लख्यो, तबतें जु मिटी दुविधा मनकी।
यों सीतल चित्त भयो तब ही सब, छांड़ दई ममता तन की ।।
चिंतामणि जब प्रगटयो घर में, तब कौन जु चाहि करै धनकी।
जो सिद्ध में आपु में फेर न जानै सो, क्यों परवाहकरै जनकी ।।३५।।

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै ।
अन्तरदृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही में अपनो पद छाजै ।।
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, काहेको खेद करै किहूँ काजै ।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ।।३६।।

जब लो रागद्वेष नहिं जीतय, तबलो मुकति न पावै कोइ ।
जबलों क्रोध मान मन धारत, तबलों सुगति कहांतें होइ ।।
जबलो माया लोभ बसे उर, तबलो सुख सुपनै नहिं कोइ ।
ए अरि जीत भयो जो निर्मल, शिवसम्पति विलसतु है सोइ ।। ४५ ।

सवैया—३१

पंचनसो भिन्न रहै कंचन ज्यों काई तजै,
रंच न मलीन होय जाकी गति न्यारी है।
कजनके कुल ज्यों स्वभाव कीच छुये नांहि,
बसै जलमांहि पै न ऊर्धता विसारी है ।।
अंजनके अंश जाके वंश में न कहूँ दीखै,
शुद्धता स्वभाव सिद्धरूप सुखकारी है।
ज्ञान को समूह ज्ञान ध्यान में विराजि रह्यो,
ज्ञानदृष्टि देखो 'भैया' ऐसो ब्रह्मचारी है ।। ५५ ।।

चिदानन्द 'भैया' विराजत है घटमांहि,
ताके रूप लखिबे को उपाय कछू करिये ।
अष्ट कर्म जाल की प्रकृति एक चार आठ,
तामें कछु तेरी नाहि अपनी न धरिये ।।

पूरब के बन्ध तेरे तेई आइ उदै होंहि,
निज गुण शकतिसों निन्है त्याग तरिये।
सिद्ध सम चेतन स्वभाव में विराजत है,
वाको ध्यान धरु और काहुसों न डरिये ॥ ५६ ॥
एक सीख मेरी मानि आप ही तू पहिचानि,
ज्ञान दृग चर्ण आन वास वाके थरको।
अनन्त बलधारी है जु हलको न भारी है,
महाब्रह्मचारी है जु साथी नाहिं जरको ॥
आप महा तेजवन्त गुण को न ओर अन्त,
जाकी महिमा अनन्त दूजो नाहि वरको।
चेतना के रस भरे चेतन प्रदेश धरे,
चेतना के चिह्न करे सिद्ध प्रटतर को ॥ ५७ ॥

रेखता

अवे भरम के त्योरसों देख क्या भूलता,
देखि तु आपमें जिन आपने बताया है।
अन्तर की दृष्टि खोलि चिदानन्द पाइयेगा,
बाहिर की दृष्टि सो पौद्गलीक छाया है ॥
गनीमन के भाव सब जुदे करि देखि तू,
आगे जिन ढूँढ़ा तिन इसी भांति पाया है।
बे ऐब साहिब विराजता है दिल बीच,
सच्चा जिसका दिल है तिसी के दिल आया है ॥ ६० ॥

सवैया ३१

देव एक देहरे में सुन्दर सुरूप बन्यों,
ज्ञान को विलास जाको सिद्धसम देखिये।
सिद्ध की सी रीति लिये काहूसो न प्रीति किये,
पूरब के बन्ध तेई आइ उदै पेखिये ॥
वर्ण गन्ध रस फास जामें कछु नाहि भैया,
सदा को अबन्ध याहि ऐसो करि लेखिये।
अजरा अमर ऐसो चिदानन्द जीव नाव,
अहो मन मूढ़ ताहि मर्ण क्यों विशेखिये ॥ ६१ ॥

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहि फेरिकैं।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकैं ॥
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महा मोह जेरिकैं।
अनुभौ अभ्यास करो थिरतामें वास करो,
मोक्ष सुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकैं ॥ ६४ ॥

सातवां अध्याय

सम्यग्दर्शन और उसका महात्म्य ।

यह बात कही जा चुकी है कि यह ससार असार है, देह अपवित्र और क्षणिक है। इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारक तथा नाशवन्त हैं। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, तथा इस सहज सुख का साधन एक आत्म ध्यान है। इसको रत्नत्रय धर्म भी कहते हैं। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी का विशेष वर्णन उपयोगी जानकर किया जाता है, क्योंकि आत्म ज्ञान का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, सम्यग्दर्शन के बिना सर्व साधन मिथ्या हैं। जैसे वृक्ष मूल बिना नही होता, नीव बिना मकान नही बनता, एक के अंक बिना शून्यों का कोई मूल्य नही होता वैसे सम्यक्त के बिना किसी भी धर्म क्रिया को यथार्थ नहीं कहा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन वास्तव में आत्मा का एक गुण है, यह आत्मा में सदा काल ही रहता है। संसारी आत्मा के साथ कर्मों का संयोग भी प्रवाह की अपेक्षा अनादिकाल से है। इन्हीं कर्मों में एक मोहनीय कर्म हैं। उसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म और सम्यक्त मोहनीय कर्म। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन हो, मिथ्यादर्शन रूप हो, जिससे आत्मा व अनात्मा का भेद विज्ञान न उत्पन्न हो सके सो मिथ्यात्व कर्म है। जिसके उदय से सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शन के मिले हुए मिश्रित परिणाम हो उस कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन मलीन रहे, कुछ दोष या मल या अतीचार लगे उसको सम्यक्त मोहनीय कहते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म में चार अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म हैं, जिनके उदय से दीर्घकाल स्थायी कठिनता से मिटने वाली कषाय होती है। जैसे पत्थर की लकीरें कठिनता से मिटती हैं। अनादि मिथ्या दृष्टी जीव को जिसको अब तक सम्यक्त नही हुआ है, मिथ्यात्व कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषायो ने सम्यग्दर्शन गुण को ढक रखा है। जब तक यह उदय से न हटें तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नही हो सकता है। इन कर्मो के आक्रमण को हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का सेवन जरूरी हैं। जैसे औषधि खाने से रोग जाता है वैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन के सेवन से निश्चय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है व मिथ्यात्व रोग जाता है।

जैसे रोगी को इस बात के जानने की जरूरत है कि मैं मूल में कैसा हूँ, रोग किस कारण से हुआ है व रोग के दूर करने का क्या उपाय है। इसी तरह इस ससारी जीव को इस बात के जानने की जरूरत है कि वह मूल में कैसा है, क्यों यह अशुद्ध हो रहा है व इसके शुद्ध होने का क्या उपाय है। जैसे नौका में पानी आ रहा हो तब इस बात के जानने की जरूरत है कि क्यों नौका में पानी भर रहा है व किस तरह इस नौका को छिद्र रहित व पानी से रहित किया जावे, जिससे यह समुद्र को पार कर सके, इसी तरह इस संसारी जीव को इस बात के जानने की जरूरत है कि उसके पुण्य पाप कर्म का बन्ध कैसे होता है। नये बन्ध को रोकने का व पुरातन बन्ध के काटने का क्या उपाय है, जिससे यह कर्म रहित हो

आवे। जैसे मैला कपड़ा उस समय तक शुद्ध नहीं किया जा सकता जिस समय तक यह ज्ञान न हो कि यह कपड़ा किस कारण से मैला है व इस मैल के धोने के लिए किस मसाले की जरूरत है। उसी तरह यह अशुद्ध आत्मा उस समय तक शुद्ध नहीं हो सकता जब तक इसको अशुद्ध होने के कारण का व शुद्ध होने के उपाय का ज्ञान न हो। इसी प्रयोजनभूत बात को या तत्व को समझाने के लिए जैनाचार्यों ने सात तत्व बताये हैं व इनके श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। वे सात तत्व इस प्रकार हैं—

(१) **जीव तत्व**—चेतना लक्षण जीव है, संसारावस्था में अशुद्ध है।

(२) **अजीव तत्व**—जीव को विकार का कारण पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश और काल ये पांच चेतनारहित अजीव द्रव्य इस जगत में हैं।

(३) **आस्रव तत्व**—कर्मों के आने के कारण को व कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं।

(४) **बन्ध तत्व**—कर्मों के आत्मा के साथ बंधने के कारण को व कर्मों के बन्ध को बन्ध कहते हैं।

(५) **संवर तत्व**—कर्मों के आने के रोकने के कारण को व कर्मों के रुक जाने को संवर कहते हैं।

(६) **निर्जरा तत्व**—कर्मों के झड़ने के कारण को व कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं।

(७) **मोक्ष तत्व**—सर्व कर्मों से छूट जाने के कारण को व कर्मों से पृथक् होने को मोक्ष कहते हैं।

यह विश्व जीव और अजीव का अर्थात् छः द्रव्यों का—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनका समुदाय है। पुद्गलों में सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्मवर्गणा हैं या कर्मस्कन्ध हैं। उन्हीं के संयोग से आत्मा अशुद्ध होता है। आस्रव व बन्धतत्व अशुद्धता के कारण को बताते हैं। संवर अशुद्धता के रोकने का व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का उपाय बताते हैं, मोक्ष बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बताता है। ये सात

तत्व बड़े उपयोगी है, इनको ठीक ठीक जाने बिना आत्मा के कर्म की बीमारी मिट नहीं सकती है। इन्हींका सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, इन्हीं के मनन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए ये निश्चय सम्यक्त के होने में बाहरी निमित्त कारण हैं। अन्तरंग निमित्त कारण अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना या दबना है।

जीव और अजीव तत्व

जीव और अजीव तत्वों में गर्भित छः द्रव्य सत्‌रूप हैं, सदा से हैं व सदा रहेंगे, इनको किसी ने न बनाया है, न इनका कभी नाश होगा। सो यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रगट जानने योग्य पुद्गल द्रव्य है। इसकी परीक्षा की जायगी तो सिद्ध होगा कि यह सत् है, अविनाशी है, कभी नाश नहीं हो सकता है। एक कागज को लिया जाय, यह पुद्गल स्कन्ध है। इसको जला दिया जाय राख हो जायगा, राख को कहीं डाल दिया जाय दूसरी राख में मिल जायगी। इस राख को कोई शून्य नहीं कर सकता है। एक सुवर्ण की अंगूठी को लिया जाय, इसको तोड़ कर बाली बनाई जाय, बाली तोड़ कर कण्ठी बनाई जाय, कण्ठी तोड़ कर नथ बनाई जावे, नथ तोड़ कर कड़ा बनाया जावे। कितनी भी दशा पलटाई जावें तौ भी सुवर्ण पुद्गल का कभी नाश नहीं होगा। मिट्टी का एक घडा है, घड़े को तोड़ा जावे बड़े ठीकरे बन जायेंगे, ठीकरों को तोड़ेंगे छोटे टुकड़े हो जायेंगे, उनको पीस डालेंगे राख हो जायगी। राख को डाल देंगे राख में मिल जायगी। मिट्टी की कितनी भी अवस्थाएँ पलटे मिट्टी पुद्गल स्कन्ध का नाश नहीं होगा। जगत में पुद्गलों को एकत्र कर मकान बनाते हैं। जब मकान को तोड़ते हैं तब पुद्गल ईंट, चूना, लकड़ी, लोहा अलग होता है। यह देखने में आयगा व प्रत्यक्ष अनुभव में आयगा कि जगत में जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे पुद्गलों के मेल से बने हैं। जब वे बिगड़ते हैं तब पुद्गल के स्कन्ध बिखर जाते हैं। एक परमाणु का भी लोप नहीं हो जाता है। मकान, बर्तन, कपड़ा, कुरसी, मेज, कलम, दवात, कागज, पुस्तक, चौकी, पलंग, पालकी, गाड़ी, मोटर, रेलगाड़ी, पंखा, दरी, लालटेन, जंजीर, आभूषण आदि पुद्गल की रचना है, ये टूटते हैं तो अन्य दशा में हो जाते हैं। हमारा यह शरीर भी पुद्गल है, पुद्गलों के स्कन्धों के मेल से बना है।

जब मृतक हो जाता है तब पुद्‌गल के स्कन्ध शिथिल पड़ जाते हैं, बिखर जाते हैं, जलाए जाने पर कुछ पवन में उड़ जाते हैं। कुछ पड़े रह जाते हैं। पुद्‌गलों में यह देखने में आता है कि वे अवस्थाओं को पलटते हुए भी मूल में बने रहते हैं। इसीलिए सत का लक्षण यह है कि जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन स्वभाव एक ही समय में पाये जावें। हरएक पदार्थ की अवस्था समय-समय पलटती है। स्थूल बुद्धि में देर से पलटी मालूम होती है। एक नया मकान बनाया गया है वह उसी क्षण से पुराना पड़ता जाता है। जब वर्ष दो वर्ष बीत जाते हैं तब स्थूल बुद्धि को पुराना मालूम पड़ता है। वास्तव में उसका पलटना हर समय ही हो रहा है। एक मिठाई ताजी बनी है, एक दिन पीछे वासी खाये जाने पर स्वाद ताजी की अपेक्षा बदला हुआ मालूम होता है। यह एकदम नहीं बदला, बनने के समय से ही बदलता हुआ चला आ रहा है। एक बालक जन्मते समय छोटा होता है। चार वर्ष पीछे बड़ा हो जाता है वह एकदम से बड़ा नहीं हुआ। उसकी दशा का पलटना बराबर होता रहा है, वह बालक हर समय बढ़ता चला आ रहा है। पुरानी अवस्था का नाश होकर नई अवस्था के जन्म को ही पलटना या परिवर्तन कहते हैं। श्वेत कपड़े को जिस समय रंग में भिजोया उसी समय श्वेतपना पलट कर रंगीनपना हुआ है। श्वेतपने का व्यय व रंगीनपने का उत्पाद हुआ है। चने के दाने को हथेली में मसला जाता है तब चने की दशा नाश होकर चूरे की दशा बन जाती है। क्योंकि अवस्था की पलटन होते हुए भी जिसकी अवस्था पलटती है वह बना रहता है। इसीलिए उत्पाद व्यय ध्रौव्य सत् का लक्षण किया गया है। पर्याय पलटने की अपेक्षा उत्पाद व्ययपना व मूल द्रव्य के बने रहने की अपेक्षा ध्रुवपना सिद्ध है। इसीलिये द्रव्य को नित्य अनित्य रूप उभय रूप कहते हैं। द्रव्य स्वभाव से नित्य है, दशा पलटने की अपेक्षा अनित्य है। यदि द्रव्य में उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना न हो या नित्य अनित्यपना न हो तो कोई द्रव्य कुछ भी काम नहीं दे सकता। यदि कोई द्रव्य सर्वथा नित्य ही हो तो वह जैसा का तैसा बना रहेगा। यदि सर्वथा अनित्य हो तो क्षण भर में नाश हो जायगा। जब वह ठहरेहीगा नहीं तब उससे कुछ काम नहीं निकलेगा। यदि सुवर्ण एकसा ही बना रहे, उससे कड़े, वाली, कण्ठी, अँगूठी न बने तो वह व्यर्थ ही ठहरे उसे कोई भी न खरीदे। यदि सुवर्ण अनित्य हो, ठहरे ही नहीं तो भी उसे कोई

नहीं खरीदे। उसमें बने रहने की तथा बदलने की शक्ति एक ही साथ है अथवा वह एक ही समय नित्य व अनित्य उभय रूप है, तब ही वह कार्यकारी हो सकता है।

यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत् का लक्षण सर्व ही द्रव्यों में पाया जाता है। जीवों में भी है। कोई क्रोधी हो रहा है, जब क्रोध का नाश होता है तब क्षमा या शान्त भाव का जन्म होता है तथा आत्मा ध्रौव्य रूप है ही। किसी आत्मा को गणित में जोड़ निकालने का ज्ञान नहीं था। अर्थात् जोड़ के कायदे का अज्ञान था, जब जोड़ निकालने के कायदे का ज्ञान हुआ तब अज्ञान का नाश हुआ और ज्ञान का जन्म हुआ, इस अवस्था को पलटते हुए भी आत्मा वही बना रहा। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मा में भी सिद्ध है। एक आत्मा ध्यान में मग्न है, जिस क्षण ध्यान हटा तब ध्यान की दशा का नाश हुआ और ध्यान रहित विकल्प दशा का जन्म हुआ और जीव वही बना है। अशुद्ध जीवों में तथा पुद्गलों में अवस्थाओं का पलटना अनुभव में आता है। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण की सिद्धि होती है परन्तु शुद्ध जीवों में व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल में किस तरह इस लक्षण की सिद्धि की जावे। वस्तु का स्वभाव जब अशुद्ध जीव व पुद्गल में सिद्ध हो गया है तब वही स्वभाव उनमे भी जानना चाहिए। शुद्ध द्रव्यो में किसी पर द्रव्य का ऐसा निमित्त नही है जो द्रव्य को मलीन कर सके। इसलिए उनमें विभाव या अशुद्ध पर्यायें नही होतीं हैं। शुद्ध सदृश पर्यायें स्वाभाविक होती हैं; जैसे—निर्मल जल में तरंगें निर्मल ही होंगी वैसे शुद्ध द्रव्यों में पर्यायें निर्मल ही होंगी।

द्रव्यों के छः सामान्य गुण—सर्व छहों द्रव्यों में छः गुण सामान्य हैं। सबमें पाये जाते हैं—(१) **अस्तित्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्वगुण कहते हैं। (२) **वस्तुत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से वस्तु कुछ कार्य करे व्यर्थ न हो उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं, जैसे पुद्गल में शरीरादि बनाने की अर्थ क्रिया है। (३) **द्रव्यत्वगुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ध्रुव रहते हुए भी पलटता रहे। उसमें

पर्यायें होती रहें, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं, जैसे पुद्गल मिट्टी से घड़ा बनना। (४) प्रमेयत्व गुण—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी के ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। (५) अगुरुलघुत्व गुण—जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो, एक गुण दूसरे गुण रूप न हो व एक द्रव्य में जितने गुण हों उतने ही रहें, न कोई कम हो न कोई अधिक हो, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। (६) प्रदेशत्व गुण—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। आकार बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती है। आकाश में जो वस्तु रहती है वह जितना क्षेत्र घेरती है वही उसका आकार है। छहों द्रव्यों में अपना अपना आकार है। पुद्गल मूर्तीक है, उसका आकार भी मूर्तीक है। स्पर्श, रस, गन्ध वर्णमय है। शेष पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं, उनका आकार भी अमूर्तीक है।

छः द्रव्यों के विशेष गुण—जो गुण उस एक द्रव्य ही में पाये जावें, उनको विशेष गुण कहते हैं। जीव के विशेष गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि। पुद्गल के विशेष गुण हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। धर्मद्रव्य का विशेष गुण—गमन करते हुए जीव पुद्गलों को उदासीन रूप से गमन में सहकारी होना है। अधर्मद्रव्य का विशेष गुण—ठहरते हुए जीव पुद्गलों को ठहरने में उदासीनपने सहाय करना है। आकाश द्रव्य का विशेष गुण—सर्व द्रव्यों को आकाश या जगह देना है। काल द्रव्य का विशेष गुण—सर्व द्रव्यों की अवस्था पलटने में सहायकारी होना है।

छः द्रव्यों के आकार—जीव का मूल आकार लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। आकाश एक अखण्ड द्रव्य अनन्त है। उसके मध्य में जहां जीवादि द्रव्य पाए जाते हैं उस भाग को लोकाकाश कहते हैं। इसको यदि प्रदेश रूपी गज से मापा जावे तो यह लोक असंख्यात प्रदेशी है। इतना ही बड़ा मूल में जीव है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। तथापि यह जीव जिस शरीर में रहता है उतने बड़े शरीर को माप कर रहता है। नाम कर्म के उदय से इसमें संकोच विस्तार शक्ति काम करती है, जिससे शरीर प्रमाण संकुचित व विस्तृत हो जाता है। पुद्गल के स्कन्ध अनेक

आकार के गोल, चौखूंटे, तिखूंटे बड़े छोटे बनते हैं। एक परमाणु का एक प्रदेश मात्र आकार है। धर्म व अधर्म द्रव्य दोनों लोकाकाश प्रमाण व्यापक हैं। आकाश का अनन्त आकार है। कालाणु असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों में एक एक अलग-अलग है—कभी मिलते नहीं हैं, इसलिये एक प्रदेश मात्र हरएक कालाणु का आकार है।

छः द्रव्यों की संख्या—धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं, कालाणु असंख्यात हैं, जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्त हैं।

पांच अस्तिकाय—जो द्रव्य एक से अधिक प्रदेश रखते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। काल का एक ही प्रदेश होता है। काल को छोड़ कर शेष पांच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय हैं।

जीव द्रव्य के नौ विशेषण—(१) जीने वाला है, (२) उपयोगवान है, (३) अमूर्तीक है, (४) कर्ता है, (५) भोक्ता है, (६) शरीर प्रमाण आकार धारी है, (७) संसारी है, (८) सिद्ध भी हो जाता है, (९) स्वभाव से अग्नि की शिखा के समान ऊपर जाने वाला है। इनका विशेष नीचे प्रकार है—

इनका कथन करते हुए निश्चयनय तथा व्यवहारनय को ध्यान में रखना चाहिए। जिस अपेक्षा से वस्तु का मूल निज स्वभाव जाना जावे वह निश्चयनय है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध स्वभाव को व अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध स्वभाव को बताने वाला है। व्यवहारनय वह है जो परपदार्थ को किसी में आरोपण करके उसको पररूप कहे, जैसे जीव को गोरा कहना। गोरा तो शरीर है। यहां शरीर का आरोप जीव में करके संयोग को बताने वाला व्यवहारनय है। कभी व कहीं अशुद्ध निश्चयनय को भी व्यवहारनय कह देते हैं। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध मूल स्वभाव को ही बताता है।

(१) **जीवत्व**—निश्चयनय से जीव के अमिट प्राण, सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध हैं। अर्थात् स्वाभाविक आनन्द, सत्पना, स्वानुभूति तथा ज्ञान हैं। व्यवहारनय से जीवों के दश प्राण होते हैं जिनके द्वारा एक शरीर में प्राणी जीवित रहता है व जिनके बिगड़ने से वह शरीर को छोड़ देता है। वे प्राण हैं पांच स्पर्शनादि इन्द्रियां—मनबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

(१) एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोछ्वास। (२) लट आदि द्वेन्द्रियो के छ प्राण होते हैं— रसना इन्द्रिय, और वचनबल अधिक हो जाता है। (३) चीटी आदि तेन्द्रियो के नाक अधिक होती है, सात प्राण होते हैं। (४) मक्खी आदि चौंद्रिय के आख अधिक करके आठ प्राण होते हैं। (५) मन रहित पचेन्द्रिय समुद्र के कोई सर्पादि के कर्ण सहित नौ प्राण होते हैं। (६) मन सहित पचेन्द्रियो के—देव, नारकी, मानव, गाय, भैसादि पशु, मछली, मयूरादि के दशो प्राण होते हैं।

(२) **उपयोगवान**—जिसके द्वारा जाना जाय उसे उपयोग कहते हैं। उसके आठ भेद हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन। ये बारह उपयोग व्यवहारनय से भेदरूप कहे जाते हैं। इनका विशेष स्वरूप आगे कहेगे। इन्ही से ससारी जीवो की पहचान होती है। आत्मा अमूर्तीक पदार्थ है। शरीर मे है कि नही इसका ज्ञान इसी बात को देख कर किया जाता है कि कोई प्राणी स्पर्श का ज्ञान रखता है या नही, रस को रसना से, गन्ध को नाक से, वर्ण को आख से, शब्द को कर्ण से जानता है कि नही या मन से विचार करता है या नही। मृतक शरीर मे इन बारह उपयोगो मे से कोई भी उपयोग नही पाया जाता है। क्योकि वहा उपयोग का धारी आत्मा नही रहा है। निश्चयनय से वास्तव में न ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं न दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग एक एक ही हैं, आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण हैं। कर्म के सम्बन्ध से बारह भेद हो जाते हैं, इसलिये निश्चय से आत्मा के उपयोग शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन हैं।

(३) **अमूर्तीक**—जीव में निश्चयनय से असल में न कोई स्पर्श रूखा, चिकना, हलका, भारी, ठण्डा, गरम, नरम, कठोर है, न कोई रस खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कसायला है, न कोई गन्ध, सुगन्ध या दुर्गन्ध है, न कोई वर्ण सफेद, लाल, पीला, नीला, काला है। इसलिये मूर्तीक पुद्गल से भिन्न अमूर्तीक चिदाकार है। व्यवहारनय से इस जीव को मूर्तीक कहते हैं क्योकि ससारी जीव के साथ मूर्तीक कर्म पुद्गलो का मेल दूध और जल के समान एक क्षेत्रावगाह रूप है। कोई भी प्रदेश जीव का शुद्ध नही है, सर्वांग पुद्गल से एकमेक है, इसलिये इसे मूर्तीक कहते हैं। जैसे दूध से

मिले जल को दूध, रंग से मिले पानी को रंग कहते हैं।

(४) कर्ता है—यह आत्मा निश्चयनय से अपने ही ज्ञानदर्शनादि गुणों के परिणाम को ही करता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का ही कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्मों का कर्ता कहा जाता है। शुद्ध निश्चयनय से या स्वभाव से यह आत्मा रागादि भावों का करनेवाला नहीं है। क्योंकि ये इसके स्वाभाविक भाव नहीं हैं, ये औपाधिक भाव हैं। जब कर्मों का उदय होता है, मोहनीय कर्म का विपाक होता है तब क्रोध के उदय से क्रोधभाव, मान के उदय से मान भाव, माया के उदय से माया भाव, लोभ के उदय से लोभ भाव, काम या वेद के उदय से काम भाव उसी तरह हो जाता है जिस तरह स्फटिकमणि के नीचे लाल, पीला, काला डाक लगाने से स्फटिक लाल, पीला, काला झलकता है। उस समय स्फटिक का स्वच्छ सफेद रंग ढक जाता है। आत्मा स्वयं स्वभाव से इन विभावों का कर्ता नहीं है, ये नैमित्तिक भाव हैं—होते हैं, मिटते हैं, फिर होते हैं, क्योंकि ये सयोग से होते हैं। इसलिये इनको आत्मा के भाव अशुद्ध निश्चय से कहे जाते हैं या यह कहा जाता है कि आत्मा अशुद्ध निश्चय से इनका कर्ता है। इन भावों के होने से आत्मा का भाव अपवित्र, आकुलित, दुःखमय हो जाता है। आत्मा का पवित्र, निराकुल, सुखमय स्वभाव विपरीत हो जाता है। इसलिये इनका होना इष्ट नहीं है। इनका न होना ही आत्मा का हित है जैसे मिट्टी स्वयं मैली, विरस स्वभावी है इसलिए इस मिट्टी के संयोग से पानी भी मैला व विरस स्वभाव हो जाता है, वैसे मोहनीय कर्म का रस या अनुभाग मलीन, कलुषरूप, व आकुलता रूप है, इसलिए उसके संयोग से आत्मा का उपयोग भी मलीन व कलुषित व आकुलित हो जाता है। इन्हीं भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणारूप सूक्ष्म पुद्गल जो लोक में सर्वत्र भरे है, खिंच कर स्वयं आकर बंध जाते हैं। ज्ञानावरणादि रूप होकर कर्म नाम पाते हैं, जैसे गर्मी का निमित्त पाकर पानी स्वयं भाप रूप बदल जाता वैसे कर्मवर्गणा स्वयं पुण्य या पाप कर्म रूप बंध जाती है। यह बंध भी पूर्व विद्यमान कार्माण शरीर से होता है। वास्तव में आत्मा से नहीं होता है। आत्मा उस कर्म के शरीर के साथ उसी तरह रहता है जैसे आकाश में धुआं या रज फैल जाय तब आकाश के साथ मात्र संयोग होता है। या एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है। आत्मा ने कर्म नहीं बांधे हैं, वे स्वयं बंधे हैं। आत्मा का अशुद्ध भाव केवल निमित्त है तो भी व्यवहार

नय से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्ता या बाधने वाला कहते हैं। उसी तरह जैसे कुम्हार को घडे का बनाने वाला, सुनार को कडे का बनाने वाला, स्त्री को रसोई बनाने वाली, लेखक को पत्र लिखने वाला, दरजी को कपडा सीने वाला, कारीगर को मकान बनानेवाला कहते हैं। निश्चय से घडे को बनाने वाली मिट्टी है, कडे को बनाने वाला सोना है, रसोई को बनाने वाली अन्नपानादि सामग्री है, पत्र को लिखने वाली स्याही है, कपडे को सीने वाला तागा है— कुम्हारादि केवल निमित्त मात्र हैं। जो वस्तु स्वय कार्य रूप होती है उसी को उसका कर्ता कहते हैं। कर्ता कर्म एक ही वस्तु होते हैं। दूध ही मलाई रूप परिणमा है इससे मलाई का कर्ता दूध है। सुवर्ण ही कडे रूप परिणमा है इससे कडे का कर्ता सुवर्ण है। मिट्टी ही घडे रूप परिणमी है इससे घडे को कर्ता मिट्टी है। कर्ता के गुण स्वभाव उससे बने हुए काय मे पाये जाते हैं। जैसी मिट्टी वैसा घडा, जैसा सोना वैसा कडा, जैसा दूध वैसी मलाई, जैसा तागा वैसा उसका बना कपडा। निमित्त कर्ता किन्हीं कार्यों के अचेतन ही होते हैं, किन्हीं कार्यों के चतन व चेतन अचेतन दोनों होते हैं। गरमी से पानी भाप रूप हो जाता है, भाप से मेघ बनते हैं, मेघ स्वय पानी रूप हो जाते हैं, उन सब कार्यों मे निमित्त कर्ता अचेतन ही है। हवा श्वास रूप हो जाती है इसमे निमित्तकर्ता चेतन का योग और उपयोग है। या कर्मवर्गणा कर्म रूप हो जाती है उनमे निमित्त कर्ता चेतन का योग और उपयोग है। मिट्टी का घडा बनता है उसमे निमित्तकर्ता कुम्हार का योग उपयोग है तथा चाक आदि अचेतन भी है। रसोई बनती है, निमित्त कर्ता स्त्री के योग उपयोग हैं तथा चूल्हा, बर्तन आदि अचेतन भी है। जहाँ चेतन निमित्तकर्ता घट, पट, बर्तन, भोजनादि बनाने में होता है वहाँ व्यवहार नय से उसको घट, पट, बर्तन व भोजनादि का कर्ता कह देते हैं।

यदि निश्चय से विचार किया जावे तो शुद्धात्मा किसी भी कार्य का निमित्त कर्ता भी नही है। जब तक ससारी आत्मा के साथ कर्मों का सयोग है व कर्मों का उदय हो रहा है तब तक आत्मा के मन, वचन, काय योग चलते रहते हैं व ज्ञानोपयोग अशुद्ध होता है। राग द्वेष सहित या कषाय सहित होता है। ये ही योग और उपयोग निमित्त कर्ता हैं। इन्ही से कर्म बधते हैं, उन्ही से घटादि बनते हैं। कुम्हार ने घड़ा बनाया, घट बनाने में मन का सकल्प किया, शरीर को हिलाया व राग सहित उपयोग किया। कुम्हार के योग उपयोग ही घट के निमित्त कर्ता हैं,

आत्मा नहीं। स्त्री के मन ने रसोई बनाने का संकल्प किया, वचन से किसी को कुछ रखने उठाने को कहा, काय से रक्खा उठाया, राग सहित ज्ञान भाव किया। योग व उपयोग ही रसोई के निमित्त कर्ता हैं, स्त्री का शुद्ध आत्मा नहीं। योग और उपयोग आत्मा के विभाव हैं इसलिये अशुद्ध निश्चय से उनका कर्ता आत्मा को कहते हैं। शुद्ध निश्चय से आत्मा मन वचन काय योग का तथा अशुद्ध उपयोग का कर्ता नहीं है। यद्यपि योग शक्ति—कर्म आकर्षण शक्ति आत्मा की है परन्तु वह कर्मों के उदय से ही मन, वचन, काय द्वारा काम करती है। कर्म का उदय न हो तो कुछ भी हलनचलन काम हो। अशुद्ध सराग उपयोग भी कषाय के उदय से होता है, आत्मा का स्वाभाविक उपयोग नहीं। निश्चयनय से आत्मा में न योग का कार्य है न राग द्वेष रूप उपयोग का कार्य है। इसलिये शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा केवल अपने शुद्ध भावों का ही कर्ता है। परभावों का न उपादान या मूल कर्ता है न निमित्त कर्ता है। स्वभाव के परिणमन से जो परिणाम या कर्म हो उस परिणाम या कर्म का उपादान कर्ता उसको कहा जाता है। ज्ञान स्वरूपी आत्मा है इसलिये शुद्ध ज्ञानोपयोग का ही वह उपादान कर्ता है। अज्ञानी जीव भूल से आत्मा को रागादि का कर्ता व अच्छे बुरे कामों का कर्ता व घटपट आदि का कर्ता मान कर अहंकार करके दुःखी होता है। मैं कर्ता मैं कर्ता इस बुद्धि से जो अपने स्वाभाविक कर्म नहीं हैं उनको अपना हो कर्म मान कर राग द्वेष करके कष्ट पाता है।

ज्ञानी जीव केवल शुद्ध ज्ञान परिणतिका ही अपने को कर्त्ता मानता है। इसलिये सर्व ही परभावों का व परकार्यों का मैं कर्त्ता हूँ, इस अहंकार को नहो करता है। यदि शुभ राग होता है तो उसे भी मन्द कषाय का उदय जानता है। यदि अशुभ राग होता है तो उसे भी तीव्र कषाय का उदय जानता है। अपना स्वभाव नहीं जानता है, विभाव जानता है। विभाव को रोग, विकार व उपाधि मानता है व ऐसो भावना रखता है कि ये विभाव न हो तो ठीक है। वीतराग भाव में ही परिणमन हो तो ठीक है। जैसे बालक खेलने का ही प्रेमी है, उसे माता पिता व गुरु के डर से पढ़ने का काम करना पड़ता है। वह पढ़ता है परन्तु उधर प्रेमी नहीं है, प्रेमी खेल का ही है। इसी तरह ज्ञानी जीव वीतराग आत्मीक शुद्ध भाव का प्रेमी है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जो भाव होता है तदनुकूल मन, वचन, काय वर्तते हैं। इनको वह पसन्द नहीं करता है। कर्म का विकार या नाटक समझता है व भीतर से वैरागो है। जैसे बालक पढ़ने

से बैरागी है। ज्ञानी आत्मा बिना आसक्ति के परोपकार करता हुआ अपने को कर्त्ता नहीं मानता है—मन, वचन, काय का कार्य मात्र जानता है। यदि वह गृहस्थ है, कुटुम्ब को पालता है तथापि वह पालने का अहकार नही करता है। ज्ञानी सर्व विभावो को कर्मकृत जानकर उनसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी एक अपने ही आत्मीक वीतराग भावो का ही अपने को कर्त्ता मानता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। जो कोई ज्ञानी आत्मा को पर भावो का अकर्ता समझेगा वही एकदिन साक्षात् अकर्ता हो जायगा। उसके योग और उपयोग की चचलता जब मिट जायगी तब वह सिद्ध परमात्मा हो जायगा। इस तत्व का यह मतलब लेना योग्य नही है कि ज्ञानी सराग कार्यो को उत्तम प्रकार से नही करता है, बिगाड रूप से करता होगा, सो नही है। ज्ञानी मन, वचन, काय से सर्व कार्य यथायोग्य ठीक-ठीक करता हुआ भी मैं कर्ता इस मिथ्या अह बुद्धि को नही करता है। इस सर्व लौकिक प्रपच को कर्म का विकार जानता है, अपना स्वभाव नही मानता है। कदाचित् अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी कुटुम्ब का पालन, जप, तप, पूजा, पाठ, विषयभोग आदि मन, वचन, काय के शुभ, अशुभ कार्य उत्तम प्रकार से करता है—प्रमाद व आलस्य से नही करता है, तौ भी मैं कर्ता हूँ इस मिथ्यात्व से अलग रहता है। जैसे नाटक में पात्र नाटक खेलते हुए भी उस नाटक के खेल को खेल ही समझते हैं, उस खेल मे किए हुए कार्यों को अपने मूल स्वभाव में नही लगाते हैं। नाटक का पात्र खेल दिखलाते वक्त ही अपने को राजा कहता है। उस समय भी वह अपनी असल प्रकृति को नही भूलता है व खेल के पीछे तो अपने असल रूप ही वर्तन करता है। ब्राह्मण का पुत्र अपने को ब्राह्मण मानते हुए भी खेल मे राजा का पार्ट बडी ही उत्तमता से दिखाता है तथापि मैं राजा हो गया ऐसा नही मानता है। ससार को नाटक समझकर व्यवहार करना ज्ञानी का स्वभाव है।

ससार को अपना ही कार्य समझना, व्यवहार करना अज्ञानी का स्वभाव है। इसलिये अज्ञानी ससार का कर्ता है, ज्ञानी संसार का कर्ता नही। अज्ञानी ससार में भ्रमेगा, ज्ञानी ससार से शीघ्र ही छूट जायगा। वह श्रद्धा मे व ज्ञान में ससार कार्य को आत्मा का कर्तव्य नहीं मानता है। कषाय के उदयवश लाचारी का कार्य जानता है।

(५) भोक्ता है—जिस तरह निश्चयनय से यह जीव अपने स्वाभाविक भावों का कर्ता है उसी तरह यह अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द या सहज सुख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से मैं सुखी, मैं दुःखी इस राग द्वेष रूप विभाव का भोक्ता है, व्यवहार नय से पुण्य पाप कर्मों के फल को भोगता है। मैं सुखी मैं दुःखी यह भाव मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। रति कषाय के उदय से सांसारिक सुख में प्रीति भाव व अरति कषाय के उदय से सांसारिक दुःख में अप्रीति भाव होता है। यह अशुद्ध भाव कर्म जनित है इसलिये स्वभाव नहीं विभाव है। आत्मा में कर्म संयोग से यह भाव होता है तब आत्मानन्द के सुखानुभव का भाव छिप जाता है इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अशुद्ध निश्चयनय से यह सुख दुःख का भोक्ता है। भोजन, वस्त्र, गाना, बजाना, सुगन्ध, पलग आदि बाहरी वस्तुओं का भोग तथा सातावेदनीय असातावेदनीय कर्म का भोग वास्तव में पुद्गल के द्वारा पुद्गल का होता है। जीवमात्र उनमें राग भाव करता है इससे भोक्ता कहलाता है, यहा भी मन वचन काय द्वारा योग तथा अशुद्ध उपयोग ही पर पदार्थ के भोगे में निमित्त हैं। जैसे एक लड्डू खाया गया। लड्डू पुद्गल को मुख रूपी पुद्गल ने चबा कर खाया। जिह्वा के पुद्गलो के द्वारा रस का ज्ञान हुआ। लड्डू का भोग शरीर रूपी पुद्गल ने किया। उदर में पवन द्वारा पहुँचा। जीव ने अपने अशुद्ध भाव इन्द्रिय रूपी उपयोग से जाना तथा खाने की क्रिया में योग को काम में लिया लिया।

यदि वैराग्य से जाने तो खाने का सुख न माने। जब वह राग सहित खाता है तब सुख मान लेता है। इसलिये लड्डू का भोग इस जीव ने किया यह मात्र व्यवहार नय का वचन है। जीव ने केवल मात्र खाने के भाव किये व योगों को व्यवहार किया, योग शक्ति को प्रेरित किया। इस तरह सुन्दर वस्त्रों ने शरीर को शोभित किया, आत्मा को नही, तब यह जीव अपने राग भाव से मैं सुखी हुआ ऐसा मान लेता हैं। एक उदास मुखो, पति के परदेश गमन से दुःखी स्त्री को सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाए जावें, शरीर तो शोभित हो जायगा परन्तु वह राग रहित है, उसका राग भाव उन वस्त्राभूषणों में नहीं है इसलिये उसे उस सुख का अनुभव नही होगा। इसीलिये यह बात ज्ञानियों ने स्वानुभव से कही है कि संसार के पदार्थों में सुख व दुःख मोह राग द्वेष से होता है। पदार्थ तो अपने स्वभाव में होते हैं। एक जगह पानी बरस रहा है, किसान उस वर्षा को देखकर

सुखी हो रहा है। उसी समय मार्ग में बिना छतरी के चलने वाला एक सुन्दर वस्त्र पहने हुए मानव दुःखी हो रहा है। नगर में रोगों की वृद्धि पर रोगी दुःखी होते हैं, अज्ञानी लोभी वैद्य डाक्टर सुखी होते हैं। एक ही रसोई में जीमने वाले दो पुरुष हैं। जिसकी इच्छानुकूल रसोई मिली है वह सुखी हो रहा है, जिसकी इच्छा के विरुद्ध है वह दुःखी हो रहा है। जैसे पुद्गल का कर्ता पुद्गल है वैसे पुद्गल का उपभोग कर्ता पुद्गल है। निमित्त कारण जीव के योग और उपयोग हैं। शरीर में सरदी लगी, सरदी का उपभोग पुद्गल को हुआ, पुद्गल की दशा पलटी। जीव का शरीर से ममत्व है, राग है, उसने सरदी की वेदना का दुःख मान लिया। जब गर्म कपडा शरीर पर डाला गया, शरीर ने गर्म कपड़े का उपयोग किया, शरीर की दशा पलटी, रागी जीव ने सुख मान लिया। स्त्री का उपभोग पुरुष का अंग, पुरुष का उपभोग स्त्री का अग- करता है, पुद्गल ही पुद्गल की दशा को पलटता है। राग भाव से रागी स्त्री पुरुष सुख मान लेते हैं। जितना अधिक राग उतना अधिक सुख व उतना ही अधिक दुःख होता है। एक मानव का पुत्र पर बहुत अधिक राग है; वह पुत्र को देखकर अधिक सुख मानता है। उसी पुत्र का वियोग हो जाता है तब उतना ही अधिक दुःख मानता है। जो ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं वास्तव में शुद्ध आत्मा द्रव्य हूँ, मेरा निज सुख मेरा स्वभाव है, मैं उसी ही सच्चे सुख को सुख समझता हूँ, उसी का भोग मुझे हितकारी है, वह संसार से वैरागी होता हुआ जितना अंश कषाय का उदय है उतना अंश बाहरी पदार्थों के सयोग वियोग में सुख दुःख मानेगा, जो अज्ञानी की अपेक्षा कोटिगुणा कम होगा। भोजन को भले प्रकार रसना इन्द्रिय से खाते हुए भी रसके स्वाद को तो जानेगा व तृप्ति भी मानेगा परन्तु रसना इन्द्रिय जनित सुख को अल्प राग के कारण अल्प ही मानेगा। इसी तरह इच्छित पदार्थ खाने में न मिलने पर अल्प राग के कारण अल्प दुःख ही मानेगा। वस्तु स्वभाव यह है कि जीव स्वभाव से सहज सुख का ही भोक्ता है। विभाव भावों के कारण जो कषाय के उदय से होते हैं, यह अपनी अधिक या कम कषाय के प्रमाण में अपने को सुख या दुःख का भोक्ता मान लेता है। मैं भोक्ता हूँ यह वचन शुद्ध निश्चयनय से असत्य है। कषाय के उदय से राग भाव भोक्ता है। आत्मा भोक्ता नहीं है। आत्मा राग भाव का भोक्ता अशुद्ध निश्चय से कहलाता है यह मानना सम्यग्ज्ञान है। पर वस्तु का व कर्मों का भोक्ता कहना बिलकुल व्यवहार

नय से है। जैसे घट पटादि का कर्ता कहना व्यवहार नय से है।

कर्मों का उदय जब आता है तब कर्म का अनुभाग या रस प्रगट होता है। यही कर्म का उपभोग है। उसी कर्म के उदय को अपना मानकर जीव अपने को सुखी दुःखी मान लेता है। साता वेदनीय का उदय होने पर साताकारी पदार्थ का सम्बन्ध होता है। रति नोकषाय से यह रागी जीव साता का अनुभव करता है। अर्थात् राग सहित ज्ञानोपयोग सुख मान लेता है। असाता वेदनीय के उदय से असाताकारी सम्बन्ध होता है। जैसे शरीर में चोट लग जाती है उसी समय अरति कषाय के उदय सहित जीव द्वेष भाव के कारण अपने को दुःखी मान लेता है। वास्तव में कर्म पुद्गल है तब कर्म का उदय व रस या विपाक भी पुद्गल है। घातीय कर्मों का उदय जीव के गुणों के साथ विकारक होकर झलकता है, अघातीय कर्मों का रस जीव से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों पर होता है।

जैसे ज्ञानावरण के विपाक से ज्ञान का कम होना, दर्शनावरण के उदय से दर्शन का कम होना, मोहनीय के उदय से विपरीत श्रद्धान होना व क्रोधादि कषाय का होना, अन्तराय के उदय से आत्मबल का कम होना, आयु के उदय से शरीर का बना रहना, नाम के उदय से शरीर की रचना होना, गोत्र कर्म के उदय से ऊँची व नीची लोकमान्य व लोक-निन्द्य दशा होनी। वेदनीय के उदय से साताकारी व असाताकारी पदार्थों का संयोग होना। जीव अपने स्वभाव से अपने सहज सुख का भोक्ता है। पर का भोक्ता अशुद्धनय या व्यवहारनय से ही कहा जाता है।

(६) **शरीर प्रमाण आकारधारी हैं**—निश्चयनय से जीव का आकार लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है उससे कभी कम या अधिक नहीं होता है। जीव अमूर्तीक पदार्थ है इससे इसके न तो टुकड़े हो सकते हैं और न यह किन्हीं से जुड़ करके बड़ा हो सकता है। तथापि जैसे जीव में कर्म को आकर्षण करने वाली योग शक्ति है वैसे इसमें संकोच विस्तार रूप होने की शक्ति है। जैसे योग शक्ति शरीर नाम कर्म के उदय से काम करती है वैसे संकोच विस्तार शक्ति भी शरीर नाम कर्म के उदय से काम करती है। जब तक नाम कर्म का उदय रहता है तब तक ही आत्मा के प्रदेश संकुचित होते हैं व फैलते हैं। जब नाम कर्म नाश हो जाता है तब आत्मा अन्तिम शरीर में जैसा होता है वैसा ही रह जाता है। उसका संकोच

विस्तार बन्द हो जाता है।

एक मनुष्य जब मरता है तब तुर्त ही दूसरे उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है,बीच में जाते हुए एक समय, दो समय या तीन समय लगते हैं तब तक पूर्व शरीर के समान आत्मा का आकार बना रहता है। जब उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है तब वहां जैसा पुद्गल ग्रहण करता है उसके समान आकार छोटा या बड़ा हो जाता है। फिर जैसे-जैसे शरीर बढ़ता है वैसे-वैसे आकार फैलता जाता है। शरीर में ही आत्मा फैला है बाहर नहीं हैं, इस बात का अनुभव विचारवान को हो सकता है। हमें दुःख या सुख का अनुभव शरीर भर में होता है, शरीर से बाहर नहीं। यदि किसी मानव के शरीर भर में आग लग जावे व शरीर से बाहर भी आग हो तो उस मानव को शरीर भर के आग की वेदना का दुःख होगा, शरीर के बाहर की आग की वेदना न होगी। यदि आत्मा शरीर के किसी स्थान पर होता, सर्व स्थान पर व्यापक न होता तो जिस स्थान पर जीव होता वही पर सुख दुःख का अनुभव होता—सर्वांग नही होता। परन्तु होता सर्वांग है इसलिये जीव शरीर प्रमाण आकार धारी है। किसी भी इन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ पदार्थ का राग सहित भोग किया जाता है तो सर्वांग सुख का अनुभव होता है। शरीर प्रमाण रहते हुए भी नीचे लिखे सात प्रकार के कारण हैं जिनके होने पर आत्मा फैल कर शरीर से बाहर जाता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है। इस अवस्था को समुद्घात कहते हैं।

(१) **वेदना**—शरीर में दुःख के निमित्त से प्रदेश कुछ बाहर निकलते हैं।

(२) **कषाय**—क्रोधादि कषाय के निमित्त से प्रदेश बाहर निकलते हैं।

(३) **मारणान्तिक**—मरण के कुछ देर पहले किसी जीव के प्रदेश फैल कर जहां पर जन्म लेना हो वहां तक जाते हैं, स्पर्श कर लौट आते हैं, फिर मरण होता है।

(४) **वैक्रियिक**—वैक्रियिक शरीर धारी अपने शरीर से दूसरा शरीर बनाते हैं, उसमें आत्मा को फैला कर उससे काम लेते हैं।

(५) **तैजस**—१-शुभ तैजस—किसी तपस्वी मुनि को कहीं पर दुर्भिक्ष

या रोग संचार देख कर दया आ जावे तब उसके दाहिने स्कन्ध से तैजस शरीर के साथ आत्मा फैल कर निकलता है। इससे कष्ट दूर हो जाता है। २—अशुभ तैजस—किसी तपस्वी को उपसर्ग पड़ने पर क्रोध आजावे तब उसके बाएं स्कन्ध से अशुभ तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलता है और वह शरीर कोप के पात्र को भस्म कर देता है तथा वह तपस्वी भी भस्म होता है।

(६) आहारक—किसी ऋद्धिधारी मुनि के मस्तक से आहारक शरीर बहुत सुन्दर पुरुषाकार निकलता है, उसी के साथ आत्मा फैलकर जहां केवली या श्रुत केवली होते हैं वहा तक जाता है, दर्शन करके लौट आता है, मुनि का संशय मिट जाता है।

(७) केवल—किसी अरहंत केवली की आयु अल्प होती है और अन्य कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब आयु के बराबर सब कर्मों की स्थिति करने के लिये आत्मा के प्रदेश लोक व्यापी हो जाते हैं।

(७) संसारी है—सामान्य से ससारी जीवो के दो भेद हैं—स्थावर, त्रस। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय के धारी प्राणियों को स्थावर कहते हैं तथा द्वेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यंत प्राणियों को त्रस कहते हैं। विशेष में चौदह भेद प्रसिद्ध हैं जिनको जीव समास कहते हैं। जीवों के समान जातीय समूह को समास कहते हैं।

चौदह जीव समास—१—एकेन्द्रिय सूक्ष्म (ऐसे प्राणी जो लोकभर में हैं किसी को बाधक नहीं, न किसी से बाधा पाते स्वय मरते हैं), २—एकेन्द्रिय बादर (जो बाधा पाते हैं व बाधक हैं), ३—द्वेंद्रिय, ४—तेंद्रिय, ५—चौन्द्रिय, ६—पंचेंद्रिय असेनी (बिना मन के), ७—पंचेंद्रिय सैनी। ये सात समूह या समास पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। इस तरह चौदह जीव समास हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त—जब यह जीव किसी योनि में पहुँचता है तब वहां जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है उनमें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन बनने की शक्ति अन्तर्मुहूर्त में (४८ मिनिट के भीतर-भीतर) हो जाती है उसको पर्याप्त कहते हैं। जिसके शक्ति की पूर्णता होगी अवश्य परन्तु जब तक शरीर बनने की शक्ति नहीं पूर्ण हुई तब तक उसको निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। जो छहों में से कोई पर्याप्ति पूर्ण

नहीं कर सकते और एक श्वास (नाड़ी फड़कन) के अठारहवें भाग में मर जाते हैं उनको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। छः पर्याप्तियों में से एकेन्द्रियों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास चार होती हैं, द्वेन्द्रिय से असैंनी पंचेन्द्रिय तक के भाषा सहित पांच होती हैं, सैंनी पंचेन्द्रिय के सब छहों होती हैं। पुद्गलों को खल (मोटा भाग) व रस रूप करने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

संसारी जीवों की ऐसी अवस्थाएँ जहां उनको ढूंढ़ने से वे मिल सकें, चौदह होती हैं जिनको मार्गणा कहते हैं।

चौदह मार्गणायें—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त, सैनी, आहार। इनके विशेष भेद इस भांति हैं—

१—**गति चार**—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

२—**इन्द्रिय पांच**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र।

३—**काय छः**—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय, त्रस काय।

४—**योग तीन**—मन, वचन, काय अथवा पन्द्रह योग—सत्य मन, असत्य मन, उभय मन, अनुभय मन, सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्माण। जिस विचार या वचन को सत्य या असत्य कुछ भी न कह सकें उसको अनुभय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचों के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में औदारिक मिश्र योग कहते हैं, पर्याप्त अवस्था में औदारिक योग होता है। देव व नारकियों के स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक योग होता है। आहारक समुद्घात में जो आहारक शरीर बनता है उसकी अपर्याप्त अवस्था में आहारक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था में आहारक योग होता है। एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को प्राप्त होने तक मध्य की विग्रह गति में कार्माणयोग होता है। जिसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प हों और कर्मों को खींचा जा सके उसको योग कहते हैं। पन्द्रह प्रकार के ऐसे योग होते हैं। एक समय में एक योग होता है।

५—वेद तीन—स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद जिसके क्रम से पुरुष-भोग, स्त्री भोग व उभय भोग की इच्छा हो।

६—कषाय चार—क्रोध, मान, माया, लोभ।

७—ज्ञान आठ—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल व कुमति कुश्रुति, कुअवधि।

८—संयम सात—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, देशसंयम, असंयम। संयम का न होना असंयम है। श्रावक के व्रतों को पालना देशसंयम है। शेष पांचों संयम मुनि के होते हैं। समताभाव रखना सामायिक है। समता के छेद होने पर फिर समता में आना छेदोपस्थापना है। विशेष हिंसा का त्याग जिसमें हो सो परिहारविशुद्धि है। सूक्ष्म लोभ के उदय मात्र में जो हो सो सूक्ष्मसांपराय है। सर्वकषाय के उदय न होने पर जो हो सो यथाख्यातसंयम है।

९—दर्शन चार—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।

१०—लेश्या छः—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कषायों के उदय से और मन वचन काय योगों के चलन से जो भाव शुभ अशुभ होते हैं उनको बताने वाली छः लेश्याएं हैं। पहली तीन अशुभ हैं, शेष शुभ हैं। बहुत ही खोटे भाव अशुभतम कृष्ण लेश्या हैं, अशुभतर नील है, अशुभ कापोत है, कम शुभ भाव पीत लेश्या है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है।

११—भव्य दो—जिनका सम्यक्त होने की योग्यता है वे भव्य, जिनकी योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं।

१२—सम्यक्त छः—उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र। इनका स्वरूप गुणस्थान के शीर्षक में देखें।

१३—संज्ञी दो—मन सहित सैनी, मनरहित असैनी।

१४—आहार दो—आहार, अनाहार। जो स्थूल शरीर के बनने योग्य पुद्गल को ग्रहण करना वह आहार है न ग्रहण करना अनाहार है।

सामान्य दृष्टि से ये चौदह मार्गणाएं एक साथ हर एक प्राणी में पाई जाती हैं। जैसे दृष्टांत मक्खी व मनुष्य का लेवें तो इस भांति मिलेंगी।

	असैनी के	मानव के
१	तिर्यंच गति	मनुष्य गति
२	इन्द्रिय चार	इन्द्रिय पाँच
३	.त्रस काय	त्रस काय
४	वचन या काय	मन, वचन या काय
५	नपुंसक वेद	स्त्री, पुरुष या नपुंसक
६	कषाय चारों	कषाय चारों
७.	कुमति, कुश्रुत	आठों ही ज्ञान हो सकते हैं
८	असंयम	सातों ही संयम हो सकते हैं
९	चक्षु व अचक्षु दर्शन	चारों ही दर्शन हो सकते हैं
१०	कृष्ण, नील, कापोत लेश्या	छहों लेश्याएँ हो सकती हैं
११	भव्य या अभव्य कोई	भव्य या अभव्य कोई
१२	मिथ्यात्व	छहों सम्यक्त हों सकते हैं
१३	असैनी	सैनी
१४	आहार व अनाहार	आहार व अनाहार

चौदह गुणस्थान—संसार में उलझे हुए प्राणी जिस मार्ग पर चलते हुए शुद्ध हो जाते हैं उस मार्ग की चौदह सीढ़ियां हैं। इन सीढ़ियो को पार करके यह जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ये चौदह क्लास या दरजे हैं। भावों की अपेक्षा एक दूसरे से ऊँचे ऊँचे हैं। मोहनीय कर्म तथा मन, वचन, काय योगों के निमित्त से ये गुणस्थान बने हैं। आत्मा में निश्चय नय से नहीं हैं। अशुद्ध निश्चय नय से या व्यवहार नय से ये गुणस्थान आत्मा के कहे जाते हैं। मोहनीय कर्म के मूल दो भेद हैं—एक दर्शन मोहनीय, दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय। इनका कथन पहले किया जा चुका है। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं।

चार ४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—दीर्घ काल स्थायी

कठिनता से मिटनेवाले, जिनके उदय से सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र नहीं प्रगट होता है। उनके हटने से प्रगट होता है।

चार ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय—कुछ काल स्थायी क्रोधादि, जिनके उदय से एक देश श्रावक का चारित्र ग्रहण नहीं किया जाता।

चार ४ प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिन क्रोधादि के उदय से मुनि का संयम ग्रहण नहीं किया जाता।

चार ४ संज्वलन क्रोधादि तथा नौ नोकषाय—(कुछ कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) इनके उदय से पूर्ण चारित्र यथाख्यात नहीं होता।

चौदह गुणस्थानों के नाम हैं—१. मिथ्यात्व २. सासादन ३. मिश्र ४. अविरत सम्यक्त ५. देशविरत ६. प्रमत्त विरत ७. अप्रमत्त विरत ८. अपूर्वकरण ९. अनिवृत्तिकरण १०. सूक्ष्म साम्पराय ११. उपशांत मोह १२. क्षीण मोह १३. सयोग केवली जिन १४. अयोग केवली जिन।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान— जब तक अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उदय बना रहता हैं, मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। इस श्रेणी में जीव ससार में लिप्त, इन्द्रियों के दास, बहिरात्मा, आत्मा की श्रद्धा रहित, अहंकार ममकार में फँसे रहते हैं। शरीर को ही आत्मा मानते हैं। प्राय: संसारी जीव इसी श्रेणी में हैं।

इस श्रेणी से जीव तत्व ज्ञान प्राप्त कर जब सम्यग्दृष्टि होता है, तब अनन्तानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह उपशम अर्थात् उदय को दबा देना एक अन्तर्मुहूर्त, से अधिक के लिये नहीं होता है। उपशम सम्यक्त के होने पर मिथ्यात्व कर्म के पुद्गल तीन विभागों में हो जाते हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय। अन्तर्मुहूर्त के होते होते कुछ काल शेष रहते हुए यदि एकदम से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ जाता है और मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है तो यह जीव उपशम सम्यक्त में प्राप्त अविरत सम्यक्त गुणस्थान से गिर कर दूसरे सासादन गुणस्थान में आ जाता है, वहां कुछ काल ठहर कर फिर मिथ्यात्व में

पहले गुणस्थान में आजाता है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व का उदय आया तो चौथे से एकदम पहले गुणस्थान में आ जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आ गया तो चौथे से तीसरे मिश्र गुणस्थान में आ जाता है। यदि उपशम सम्यक्ती के सम्यक्त मोहनीय का उदय आ गया तो उपशम सम्यक्त से क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती हो जाता है। गुणस्थान चौथा ही रहता है।

(२) **सासादन गुणस्थान**—चौथे से गिर कर होता है, फिर मिथ्यात्व में नियम से गिर पड़ता है। यहाँ चारित्र की शिथिलता के भाव होते हैं।

(३) **मिश्र गुणस्थान**—चौथे से गिरकर या पहले से भी चढ़कर होता है। यहां सम्यक्त और मिथ्यात्व के मिश्र परिणाम दूध और गुड़ के मिश्र परिणाम के समान होते हैं। सत्य असत्य श्रद्धान मिला हुआ होता है। अन्तर्मुहूर्त रहता है फिर पहले में आता है, या चौथे मे चढ़ जाता है।

(४) **अविरतसम्यक्त**—इस गुणस्थान में उपशम सम्यक्ती अन्तर्मुहूर्त ठहरता है। क्षयोपशम सम्यक्ती अधिक भी ठहरता है। जो अनन्तानुबन्धी कषाय व दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियो का क्षय कर डालता है वह क्षायिकसम्यक्ती होता है। क्षायिकसम्यक्त कभी नही छूटता है। क्षयोपशम सम्यक्त में सम्यक्त मोहनीय के उदय से मलीनता होती है। इस श्रेणी में यह जीव महात्मा या अन्तरात्मा हो जाता है। आत्मा को आत्मारूप जानता है, संसार को कर्म का नाटक समझता है। अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है, गृहस्थी में रहता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्या कर्म से आजीविका करता है, राज्य प्रबन्ध करता है, अन्यायी शत्रु को दमनार्थ युद्ध भी करता है। यह व्रतों को नियम से नहीं पालता है इसलिये इसको अविरत कहते हैं। तथापि इसके चार लक्षण होते हैं—१. प्रशम-शांत भाव, २. संवेग-धर्मानुराग-ससार से वैराग, ३. अनुकम्पा-दया, ४ आस्तिक्य-आत्मा व परलोक में विश्वास। इस श्रेणी वाले के छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। सर्व ही सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यन्च, मनुष्य, देव, नारको इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। यही दर्जा मोक्षमार्ग का प्रवेश द्वार है। यह प्रवेशिका की कक्षा है। इस गुणस्थान का काल क्षायिक व क्षयोपशमकी अपेक्षा बहुत है।

(५) **देश विरत**—जब सम्यक्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं होता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम या मन्द उदय होता है तो श्रावक के व्रतों को पालता है। एकदेश हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह से विरक्त रहता है। पांच अणुव्रत तथा सात शीलों को पालता हुआ साधुपद ही की भावना भाता है। इस चारित्र का वर्णन आगे करेंगे। इस गुणस्थान में रहता हुआ श्रावक गृही कार्य को करता है व धीरे-धीरे चारित्र की उन्नति करता हुआ साधुपद में पहुँचता है। इसका काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त व अधिक से अधिक जीवनपर्यन्त है। इस श्रेणी को पंचेन्द्री सैनी पशु तथा मनुष्य धार सकते हैं। छठे से लेकर सब गुणस्थान मनुष्य ही के होते हैं।

(६) **प्रमत्त विरत**—जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है तब अहिंसादि पांच महाव्रतों को पालता हुआ महाव्रती महात्मा हो जाता है। यहां हिंसादि का पूर्ण त्याग है इससे महाव्रती है तथापि इस गुणस्थान में आहार, विहार, उपदेशादि होता है। इससे पूर्ण आत्मस्थ नहीं है अतएव कुछ प्रमाद है इसी से इसको प्रमत्तविरत कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

(७) **अप्रमत्तविरत**—जब महाव्रती ध्यानस्थ होता है, प्रमाद बिल्कुल नहीं होता है तब इस श्रेणी में होता है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है। महाव्रती पुनः पुनः इन छठे सातवें गुणस्थानों में आता चढ़ता रहता है।

आठवें गुणस्थान में दो श्रेणियां हैं—एक उपशम श्रेणी, दूसरी क्षपक श्रेणी। जहां कषायों को उपशम किया जावे, क्षय न किया जावे वह उपशम श्रेणी है, जहां कषायों का क्षय किया जावे वह क्षपक श्रेणी है। उपशम श्रेणी में आठवां, नौवां, दशवा व ग्यारहवां गुणस्थान तक होता है, फिर नियम से धीरे-धीरे गिर कर सातवें में आ जाता है। क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान हैं—आठवां, नौवां, दशवां व बारहवां। क्षपकवाला ११ वें को स्पर्श नही करता है, बारहवें से तेरहवें में जाता है।

(८) **अपूर्वकरण**—यहा ध्यानी महाव्रती महात्मा के अपूर्व उत्तम भाव होते हैं, शुक्लध्यान होता है, अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं है।

(९) **अनिवृत्तिकरण**—यहां ध्यानी महात्मा के बहुत ही निर्मल भाव

होते हैं, शुक्लध्यान होता है। ध्यान के प्रताप से सिवाय सूक्ष्म लोभ के सर्व कषायों को उपशम या क्षय कर डालता है, काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

(१०) **सूक्ष्म सांपराय**—यहाँ ध्यानी महात्मा के एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है, उसका समय भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

(११) **उपशान्त मोह**—जब मोह कर्म बिलकुल दब जाता है तब यह कक्षा अन्तर्मुहूर्त के लिये होती है। यथाख्यात चारित्र व आदर्श वीतरागता प्रगट हो जाती है।

(१२) **क्षीणमोह**—मोह का बिलकुल क्षय क्षपक श्रेणी द्वारा चढ़ते हुए दशवें गुणस्थान मे हो जाता है तब सीधे यहाँ आकर अन्तर्मुहूर्त ध्यान मे ठहरता है। शुक्ल ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का नाश कर देता है और तब केवल ज्ञान का प्रकाश होते ही अरहन्त परमात्मा कहलाता है। गुणस्थान तेरहवां हो जाता है।

(१३) **सयोग केवली जिन**—अरहन्त परमात्मा चार घातीय कर्मों के क्षय होने पर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र इन नौ केवल लब्धियो से विभूषित हो जन्म पर्यन्त इस पद में रहते हुए, धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं, इन्द्रादि भक्तजन बहुत ही भक्ति करते हैं।

(१४) **अयोग केवली जिन**—अरहन्त की आयु मे जब इतनी देर ही रह जाती है जितनी देर अ इ उ ऋ लृ ये पांच लघु अक्षर उच्चारण किये जायें तब यह गुणस्थान होता है। आयु के अन्त मे शेष अघातीय कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय का भी नाश हो जाता है और यह आत्मा सर्व कर्मरहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जैसे भुना चना फिर नही उगता वैसे ही सिद्ध फिर ससारी नही होते हैं। चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, ये सब व्यवहार या अशुद्ध नय से ससारी जीवो में होते हैं। जीव समास एक काल मे एक जीव के एक ही होगा, विग्रह गति का समय अपर्याप्त में गर्भित है। मार्गणाएँ चौदह ही एक साथ होती हैं जैसा दिखाया जा चुका है। गुण स्थान एक जीव के एक समय में एक ही होगा।

(८) सिद्ध—सर्व कर्म रहित सिद्ध परमात्मा ज्ञानानन्द में मगन रहते हुए आठ कर्मों के नाश से आठ गुण सहित शोभायमान रहते हैं। वे आठ गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व। अर्थात् सिद्धों में अतीन्द्रियपना है, इन्द्रियों से ग्रहण योग्य नहीं हैं। जहाँ एक सिद्ध विराजित है वहाँ अन्य अनेक सिद्ध अवगाह पा सकते हैं, उनमें कोई नीच ऊँचपना नहीं है, उनको कोई बाधा नहीं दे सकता है। वे लोक के अग्रभाग में लोक शिखर पर सिद्ध क्षेत्र में तिष्ठते हैं।

(९) ऊर्ध्व गमन स्वभाव—सर्व कर्मों से रहित होने पर सिद्ध का आत्मा स्वभाव से ऊपर जाता है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहाँ तक जाकर अन्त में ठहर जाता है। अन्य संसारी कर्मबद्ध आत्माएँ एक शरीर को छोड़ कर जब दूसरे शरीर में जाते हैं तब चार विदिशाओं को छोड़ कर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे इन छः दिशाओं द्वारा सीधा मोड़ा लेकर जाते हैं, कोनों में टेढ़ा नहीं जाते हैं।

जीवों की सत्ता सब की भिन्न-भिन्न रहती है। कोई की सत्ता किसी से मिल नहीं सकती है। जीव की अवस्था के तीन नाम प्रसिद्ध हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। पहले तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा हैं। अविरत सम्यक्त चौथे से लेकर क्षीण मोह बारहवें गुण स्थान तक जीव अन्तरात्मा कहलाता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान वाले सकल या स-शरीर परमात्मा कहलाते हैं। सिद्ध शरीर या कलरहित निकल परमात्मा कहलाते हैं। तत्वज्ञानी को उचित है कि बहिरात्मापना छोड़ कर अन्तरात्मा हो जावे और परमात्मा पद प्राप्ति का साधन करे। यही एक मानव का उच्च ध्येय होना चाहिये। यह जीव अपने ही पुरुषार्थ से मुक्त होता है। किसी की प्रार्थना करने से मुक्ति का लाभ नहीं होता है।

अजीव में—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल गर्भित हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मय पुद्गल के दो भेद होते हैं—परमाणु और स्कन्ध। अविभागी पुद्गल के खण्ड को परमाणु कहते हैं। दो व अनेक परमाणुओं के मिलने पर जो वर्गणा बनती हैं उनको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धों के बहुत से भेद हैं उनके छः मूल भेद जानने योग्य हैं।

छः स्कन्ध भेद—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म। जो स्कन्ध कठोर हों, खण्ड होने पर बिना दूसरी वस्तु के संयोग के न मिल सकें उनको स्थूल स्थूल कहते हैं जैसे—लकड़ी, कागज, वस्त्र आदि। जो स्कन्ध बहने वाले हों, अलग किये जाने पर फिर स्वयं मिल जावें जैसे पानी, शरबत, दूध आदि, उनको स्थूल कहते हैं। जो स्कन्ध देखने में स्थूल दीखे परन्तु हाथों से ग्रहण न हो सकें उनको स्थूल सूक्ष्म कहते हे। जैसे धूप, प्रकाश, छाया। जो स्कन्ध देखने में न आवें परन्तु अन्य चार इन्द्रियों से ग्रहण हो उनको सूक्ष्म स्थूल स्कन्ध कहते हैं, जैसे हवा, शब्द, गन्ध, रस। जो स्कन्ध बहुत से परमाणुओं के स्कन्ध हो परन्तु किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण में न आवे उन्हे सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं जैसे—भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि। जो स्कन्ध सर्व से सूक्ष्म हों जैसे दो परमाणु का स्कन्ध, उसे सूक्ष्म सूक्ष्म कहते हे।

जीव और पुद्गल सयोग ही ससारी आत्मा की अवस्थाएँ हैं। सर्व पुद्गल का ही पसारा है। यदि पुद्गल को निकाल डालें तो हर-एक जीव शुद्ध दीखेगा इसीसे शुद्ध निश्चयनय से सर्व जीव शुद्ध हैं। ससार में जीव और पुद्गल अपनी शक्ति से चार काम करते हैं—चलना, ठहरना, अवकाश पाना और बदलना। हरएक कार्य उपादान और निमित्त दो कारणों से होता है। जैसे सोने की अँगूठी का उपादान कारण सुवर्ण है परन्तु निमित्त कारण सुनार व उसके यन्त्रादि हैं। इसी तरह इन चार कामों के उपादान कारण जीव पुद्गल हैं। तब निमित्त कारण अन्य चार द्रव्य हैं। गमन में सहकारी धर्म है, स्थिति में सहकारी अधर्म है, अवकाश में सहकारी आकाश है, बदलने में सहकारी काल द्रव्य है। समय, आवली, पल आदि निश्चय काल की पर्याय है, इसी को व्यवहार काल कहते हैं। जब एक पुद्गल का परमाणु एक कालाणु पर से उल्लघ कर निकटवर्ती कालाणु पर जाता है तब समय पर्याय पैदा होती है। इन्ही समयों से आवली, घड़ी आदि काल बनता है। यद्यपि ये छहों द्रव्य एक स्थान पर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता देते हैं तथापि मूल स्वभाव में भिन्न-भिन्न बने रहते हैं, कभी मिलते नहीं हैं। न कभी छः के सात होते हैं न पांच होते हैं।

आस्रव और बन्ध तत्व

कार्माण शरीर के साथ जीव का प्रवाह की अपेक्षा अनादि तथा कर्म पुद्गल के मिलने व छूटने की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। कार्माण शरीर में जो कर्म बंधते हैं उनको बताने वाले आस्रव और बन्ध तत्व हैं। कर्म वर्गणाओ का बन्ध के सन्मुख होने को आस्रव और बँध जाने को बन्ध कहते हैं। ये दोनो काम साथ-साथ होते हैं। जिन कारणो से आस्रव होता है उन्ही कारणो से बन्ध होता है। जैसे नाव मे छिद्र से पानी आकर ठहर जाता है वैसे मन वचन काय की प्रवृत्ति द्वारा कम आते हैं और बँधते हैं। साधारण रूप से योग और कषाय ही आस्रव व बन्ध के कारण हैं। मन वचन काय के हलन चलन से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं उसी समय आत्मा की योग शक्ति चारो तरफ से कर्म वगणाओ को खींच लेती हैं। योग तीव्र होता है तो अधिक कर्म वर्गणाएँ आती है योग मन्द होता है तो कम आती हैं। योग के साथ कषाय का उदय क्रोध मान माया, लोभ किसी का उदय मिला हुआ होता है इसलिए कभी आठ कर्मो के योग्य कभी सात कर्मों के योग्य वर्गणाएँ खिचती हैं। यदि कषाय का बिलकुल रग न मिला हो तो केवल साता वेदनीय कम के योग्य वगणाए खिचकर आती हैं। बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति बन्ध प्रदेश बन्ध स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध। योगोसेही प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है। कषायोसे स्थिति और अनुभागबन्ध होते हैं। किस२प्रकृति योग्य कम बँधते हैं व कितने बधते हैं यही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का अभिप्राय है। जैसे योगो से आते है वैसे ही योगो से दोनो बातें हो जाती हैं, जैसे ज्ञानावरण के अमुक सख्या के कर्म बन्धे, दर्शनावरण के अमुक सख्या के कर्म बँध। क्रोधादि कषायो की तीव्रता होती है तो आयु कर्म के सिवाय सातो हो कर्मों की स्थिति अधिक पडती है। कितने काल तक कर्म ठहरगे उस मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं। यदि कषाय मन्द होतीहै तो सात कर्मोंकी स्थिति कम पडती है। कषाय अधिक होने पर नर्क आयु की स्थिति अधिक व अन्य तीन आयु कर्म की स्थिति कम पडती है। कषाय मन्द होने पर नर्क आयु की स्थिति कम व अन्य तीन आयु की स्थिति अधिक पडती है। कर्मों का फल तीव्र या मन्द पडना इसको अनुभाग बन्ध कहते हैं। जब कषाय अधिक होती है तब पाप कर्मों में अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मो मे अनुभाग कम पडता है। जब कषाय मन्द होती है तब पुण्य कर्मों में अनुभाग अधिक व पाप कर्मों में अनुभाग कम पड़ता है।

पुण्य पाप कर्म—आठ कर्मों में से साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्र पुण्य कर्म हैं। जबकि असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म हैं। योग और कषाय सामान्य से आस्रव और बन्ध के कारण हैं।

आस्रव और बन्ध के विशेष कारण—पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

(१) **मिथ्यात्व पांच प्रकार**—सच्चा श्रद्धान न होकर जीवादि तत्वो का मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यात्व है। यह पाँच प्रकार है :—

एकान्त—आत्मा व पुद्गलादि द्रव्यों में अनेक स्वभाव हैं उनमें से एक ही स्वभाव है ऐसा हठ पकडना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—द्रव्य मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य है। पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। नित्य अनित्य रूप वस्तु है ऐसा न मानकर यह हठ करना कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है सो एकान्त मिथ्यात्व है या यह ससारी आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध है, व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध है ऐसा न मान कर इसे सर्वथा शुद्ध ही मानना या इसे सर्वथा अशुद्ध ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

विनय—धर्म के तत्वों की परीक्षा न करके कुतत्व व सुतत्व को एक समान मान के आदर करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे—पूजने योग्य वीतराग सर्वज्ञ देव हैं। अल्पज्ञ रागी देव पूजने योग्य नहीं हैं तो भी सरल भाव से विवेक के बिना दोनो की भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे—कोई सुवर्ण और पीतल को समान मान के आदर करे तो वह अज्ञानी ही माना जायगा। उसको सुवर्ण के स्थान में पीतल लेकर धोखा उठाना पड़ेगा, सच्ची सम्यक्त भाव रूप आत्मप्रतीति उसको नहीं हो सकेगी।

अज्ञान—तत्वों के जानने की चेष्टा न करके देखा देखी किसी भी तत्व को मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे—जल स्नान से धर्म होता है, ऐसा मानकर जल स्नान भक्ति से करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

संशय—सुतत्व और कुतत्व की तरफ निर्णय न करके संशय में रहना, कौन ठीक है कौन ठीक नहीं है ऐसा एक तरफ निश्चय न करना सशय मिथ्यात्व है। किसी ने कहा राग द्वेष जीव के है, किसी ने

कहा पुद्गल के हैं। संशय रखना कि दोनों में कौन ठीक है सो संशय मिथ्यात्व है।

विपरीत—जिसमें धर्म नहीं हो सकता है उसको धर्म मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे—पशु बलि करने को धर्म मान लेना।

(२) **अविरति भाव**—इसके बारह भेद भी हैं और पांच भेद भी हैं। पांच इन्द्रिय और मन को वश में न रखकर उनका दास होना, तथा पृथ्वी आदि छः काय के प्राणियों की रक्षा के भाव न करना इस तरह बारह प्रकार अविरत भाव हैं। अथवा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह मूर्छा ये पाँच पाप अविरति भाव हैं।

(३) **प्रमाद**—आत्मानुभव में धर्मध्यान में आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। इसके अस्सी (८०) भेद हैं—

चार विकथा × चार कषाय × पांच इन्द्रिय × १ स्नेह × १ निद्रा = ८०

चार विकथा—स्त्री, भोजन, देश, राजा। राग बढ़ाने वाली स्त्रियों के रूप, सौन्दर्य, हाव भाव, विभ्रम, संयोग, वियोग की चर्चा करना स्त्री विकथा है। राग बढ़ाने वाली, भोजनों के सरस नीरस खाने पीने व चबाने आदि की चर्चा करना भोजन विकथा है। देश में लूटपाट, मार-पीट, जूआ, चोरी, व्यभिचार, व नगरादि की सुन्दरता सम्बन्धी रागद्वेष बढ़ाने वाली कथा करना, देश विकथा है। राजाओं के रूप की, रानियों की विभूति की, सेना की, नौकर चाकर आदि की राग बढ़ाने वाली कथा करना राजा विकथा है।

हरएक प्रमाद भाव में एक विकथा, एक कषाय, एक इन्द्रिय, एक स्नेह व एक निद्रा के उदय का सम्बन्ध होता है। इसलिये प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं। जैसे पुष्प सूंघने की इच्छा होना एक प्रमादभाव है। इसमें भोजन कथा (इन्द्रिय भोग सम्बन्धी कथा भोजन कथा में गर्भित है), लोभ कषाय, घ्राणइन्द्रिय, स्नेह व निद्रा ये पांच भाव संयुक्त हैं। किसी ने किसी सुन्दर वस्तु को देखने में अन्तराय किया उस पर क्रोध करके कष्ट देने की इच्छा हुई। इस प्रमादभाव में भोजन कथा, क्रोध कषाय, चक्षुइन्द्रिय, स्नेह और निद्रा गर्भित हैं।

(४) **कषाय**—के २५ भेद हैं जो पहले गिना चुके हैं।

(५) **योग**—के तीन या १५ भेद हैं यह भी पहले गिना चुके हैं।

चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा आस्रव बन्ध के कारण—मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग पांचों ही कारण है जिनसे कर्म का बन्ध होता है। **सासादन गुणस्थान में**—मिथ्यात्व नही है शेष सर्व कारण हैं। **मिश्र गुणस्थान में**—अनन्तानुबन्धी चार कषाय भी नही हैं, मिश्र भाव सहित अविरत, प्रमाद, कषाय व योग हैं। **अविरत सम्यक्तगुणस्थान में**—न मिथ्यात्व है, न मिश्र भाव है, न अनन्तानुबन्धी कषाय है। शेष अविरत, प्रमाद, कषाय व योग हैं।

देशविरत गुणस्थान में—एकदेश व्रत होने से अविरत भाव कुछ घटा तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय भी छूट गया। शेष अविरत, प्रमाद, कषाय व योग बन्ध के कारण हैं।

छठे प्रमत्त गुणस्थान में—महाव्रती होने से अविरतभाव बिल्कुल छूट गया तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय भी नही रहा। यहा शेष प्रमाद, कषाय व योग शेष है।

अप्रमत्त गुणस्थान में—प्रमादभाव नही रहा, केवल कषाय व योग हैं। **अपूर्वकरण में** भी कषाय व योग है परन्तु अतिमन्द है।

अनिवृत्तिकरण नौमे गुणस्थान में—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नो कषाय नही है। सज्वलन चार कषाय व तीन वेद अति मन्द हैं। **सूक्ष्मसांपराय में**—केवल सूक्ष्म लोभ कषाय और योग है। उपशान्त मोह, क्षीण मोह तथा सयोगकेवली जिन इन तीन गुणस्थानों में केवल योग है। चौदहवे मे योग भी नही रहता है। इस तरह बन्ध का कारण भाव घटता जाता है।

कर्मों का फल कैसे होता है—कर्म का जब बन्ध हो चुकता है तब कुछ समय उनके पकने में लगता है, उस समय को **आबाधाकाल** कहते हैं। यदि एक कोड़ाकोडी सागर की स्थिति पड़े तो एक सौ वर्ष पकने में लगता है। इसी हिसाब से कम स्थिति में कम समय लगता है। किन्हीं कर्मों के आबाधा एक पलक मात्र समय ही होती है, बंधने के एक आवली के पीछे उदय आने लगते हैं। पकने का समय पूर्ण होने पर जिस कर्म की जितनी स्थिति है उस स्थिति के जितने समय (instants या minutest

moments) हैं उतने समयों में उस किसी कर्म के स्कन्ध बंट जाते हैं। बटवारे में पहले पहले समयों में अधिक कर्म व आगे-आगे कम कम कर्म आते हैं। अन्तिम समय में सबसे कम आते हैं। इस बटवारे (distribution) के अनुसार जिस समय जितने कर्म आते हैं उतने कर्म अवश्य झड़ जाते हैं, गिर जाते हैं। यदि बाहरी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल होता है तो फल प्रगट करके झड़ते हैं नहीं तो बिना फल दिये झड़ जाते हैं। जैसे किसी ने क्रोध कषाय रूपी कर्म ४८ मिनट की स्थिति का बाँधा और एक मिनट पकने में लगा और ४७०० कर्म हैं। तो वे कर्म ४७ मिनट में बंट जाते हैं। जैसे ५००, ४००, ३००, २००, १००, इत्यादि रूप से तो ये क्रोध कषाय के स्कन्ध इसी हिसाब से झड़ जायेंगे। पहले मिनट में ५०० फिर ४०० इत्यादि। यदि उतनी देर कोई सामायिक एकान्त में बैठकर कर रहा है तो निमित्त न होनेसे क्रोध के फल को बिना प्रगट किये हुये ये कर्म गिर जायेंगे। यदि किन्हीं क्रोध कर्मों का बल तीव्र होगा तो कुछ द्वेष भाव किसी पर आ जायगा। यदि मन्द होगा तो कुछ भी भावों में विकार न होगा।

बंधे हुए कर्मों में परिवर्तन—एक दफे कर्म का बन्ध हो जाने पर भी उनमें तीन अवस्थायें पीछे से हो सकती हैं—**संक्रमण**—पाप कर्म को पुण्य में व पुण्य को पाप में बदलना। **उत्कर्षण**—कर्मों की स्थिति व अनुभाग को बढ़ा देना। **अपकर्षण**—कर्मों की स्थिति व अनुभाग को घटा देना। यदि कोई पाप कर्म कर चुका है और वह उसका प्रतिक्रमण (पश्चाताप) बड़े ही शुद्ध भाव से करता है तो पाप कर्म पुण्य में बदल सकता है या पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग घट सकता है। यदि किसी ने पुण्यकर्म बांधा है पीछे वह पश्चाताप करता है कि मैंने इतनी देर शुभ काम में लगा दी इससे मेरा व्यापार निकल गया तो इन भावों से बंधा हुआ पुण्य कर्म पाप कर्म हो सकता है या पुण्य कर्म का अनुभाग घट सकता है व स्थिति घट सकती है। जैसे औषधि के खाने से भोजन के विकार मिट जाते, कम हो जाते व बल बढ़ जाता इसी तरह परिणामों के द्वारा पिछले पाप व पुण्य कर्म में परिवर्तन हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष को सदा ही अच्छे निमित्तों में—सत संगति में—किसी सच्चे गुरु की शरण में

रह कर अपने भावों को उच्च बनाने के लिये ध्यान व स्वाध्याय में लीन रहना चाहिये। कुसंगति से व कुमार्ग से बचना चाहिये।

भविष्य की आयु कर्म का बन्ध कैसे होता है—हम मानवों के लिये यह नियम है कि जितनी भोगने वाली आयु की स्थिति होगी उसके दो तिहाई बीत जाने पर पहली दफे अन्तर्मुहूर्त के लिये बन्ध का समय होता है। फिर दो तिहाई बीतने पर दूसरी दफे, फिर दो तिहाई बीतने पर तीसरी दफे, इस तरह दो तिहाई समय के पीछे आठ दफे ऐसा अवसर आता है। यदि इनमें भी नही बधे तो मरने के पहले तो आयु बंधती ही है। मध्यम लेश्या के परिणामो से आयु बधती है। ऐसे परिणाम उस आयु बन्ध के काल में नहीं हुए तो आयु नही बंधती है। एक दफे बध जाने पर दूसरी दफे फिर बन्ध काल आने पर पहली बधी आयु की स्थिति कम व अधिक हो सकती हैं। जैसे किसी मानव की ८१ वर्ष की आयु है तो नीचे प्रमाण आठ दफे आयुबन्ध का काल आयेगा—

(१) ५४ वर्ष बीतने पर २७ वर्ष शेप रहने पर
(२) ७२ ,, ,, ९ ,, ,,
(३) ७८ ,, ,, ३ ,, ,,
(४) ८० ,, ,, १ ,, ,,
(५) ८० ,, ८ मास बीतने पर ४ मास शेष रहने पर
(६) ८० ,, १० ,, २० दिन बीतने पर ४० दिन शेष रहने पर
(७) ८० ,, ११ ,, १६ ,, १६ घन्टे बीतनेपर १३दिन८घन्टेरहनेपर
(८) ८० ,, ११ ,, २५ ,, १४ ,, ,, ४ ,, १० ,,

संवर और निर्जरातत्व

आत्मा के अशुद्ध होने के कारण आस्रव और बन्ध है, यह कहा जा चुका है। यद्यपि कर्म अपनी स्थिति के भीतर फल देकर व बिना फल दिये झड़ते हैं तथापि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी भी रागद्वेष मोह से खाली नहीं होता है, इससे हर समय कर्मों का बन्ध करता ही रहता है। अज्ञानी के कर्म की निर्जरा हाथी के स्नान के समान है। जैसे हाथी एक

दफे तो सूंड से अपने ऊपर पानी डालता है फिर रज डाल... अज्ञानी के एक तरफ तो कर्म झड़ते हैं, दूसरी तरफ... नवीन ... हैं। अज्ञानी के जो सुख या दुःख होता है या शरीर, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, परिवार, परिग्रह का सम्बन्ध होता है उसमें वह आसक्त रहता है, सुख में बहुत रागी दुःख में बहुत द्वेषी हो जाता है। इस कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध तीव्र हो जाता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर व भोगो से वैरागी होता है। वह पुण्य के उदय में व पाप के उदय में सम भाव रखता है, आसक्त नहीं होता है। इससे उसके कर्म झड़ते बहुत हैं तथा सुख में अल्प राग व दुःख में अल्प द्वेष होने के कारण नवीन कर्मों का बन्ध थोड़ा होता है। चौदह गुणस्थानों में चढ़ते हुए जितना-जितना बन्ध का कारण हटता है उतना-उतना जो बन्ध पहले होता था उसका सवर हो जाता है तथा ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जितना-जितना आत्म मनन व आत्मानुभव का अभ्यास करता है उसके रत्नत्रय भाव के प्रताप से प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की स्थिति घटती जाती है। पाप कर्म का अनुभाग घटता जाता है, पाप कर्म बहुत शीघ्र झड़ जाते हैं। पुण्य कर्म में अनुभाग बढ़ जाता है वे भी फल देकर या फल दिये बिना झड़ जाते हैं।

जिन भावों से कर्म बंधते हैं उनके विरोधी भावो से कर्म रुकते हैं। आस्रव का विरोधी ही संवर है। मिथ्यात्व के द्वारा आते हुए कर्मों को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन का लाभ करना चाहिए। अविरति के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतों का अभ्यास करना चाहिये। प्रमाद के रोकने के लिये चार विकथा को त्याग कर उपयोगी धार्मिक व परोपकारमय कार्यों में दत्तचित्त रहना चाहिये। कषायों को हटाने के लिये आत्मानुभव व शास्त्र पठन व मनन, तत्व-विचार व क्षमाभाव, मार्दवभाव, आर्जव भाव, सन्तोषभाव का अभ्यास करना चाहिये। योगों को जीतने के लिए मन, वचन, काय को थिर करके आत्म ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। संवरतत्व का सामान्य कथन इस प्रकार है—

विशेष विचार यह है कि जो अपना सच्चा हित करना चाहता है

उसको [illegible] परिणामो की परीक्षा सदा करना चाहिये । तीन प्रकार के भाव [illegible] होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग । अशुभोपयोग से पाप कर्मों का, शुभोपयोग से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है। इसलिये विवेकी को उचित है कि अशुभपयोग से बच कर शुभोपयोग में चलने का अभ्यास करे। फिर शुभोपयोग को भी हटा कर शुद्धोपयोग को लाने का प्रयत्न करे। ज्ञानी को भी सदा जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये। जैसे साहूकार अपने घर में चोरों का प्रवेश नही चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है उसी तरह ज्ञानी को अपने आत्मा की रक्षा बन्धकारक भावों से करते रहना चाहिये व जिन-जिन अशुभभावों की टेव पड़ गई हो उनको नियम या प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करते चला जावे। जुआ खेलने की, तास खेलने की, चौपड खेलने की, सतरज खेलने की, भाग पीने की, तम्बाकू पीने की, अफीम खाने की, वेश्यानाच देखने की, कम तौलने नापने की, चोरी के माल खरीदने की, अधिक बोझा लादने की, मिथ्या गवाही देने की, मिथ्या कागज लिखने की, खरी में खोटी मिलाकर खरी कह कर बेचने की, दिन में सोने की अनछना पानी पीने की, रात्रि भोजन करने की, वृथा बकवाद करने की, गाली सहित बोलने की, असत्य भाषण की, पर'को'ठगने की आदि जो जो भूल से भरे हुए अशुभ भाव अपने में होते हों उनको त्याग करता चला जावे तब उनके त्याग करने से जो पाप का बन्ध होता सो रुक जाता है। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावों से बचने का बड़ा भारी उपाय है। ज्ञानी भेद विज्ञान से आत्मा को सर्व रागादि परभावों से भिन्न अनुभव करता है। मैं सिद्धसम शुद्ध हूँ उसका यह अनुभव परम उपकारी होता है। इस शुद्ध भावों की तरफ झुके हुए भावों के प्रताप से उसके नवीन कर्मों का संवर व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्धान्त में सवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, चारित्र तथा तप को बताया गया है और निर्जरा का कारण तप को कहा गया है। इन सबका कुछ वर्णन आगे

किया जायगा। वास्तव में तात्पर्य यह है कि जितना-जितना शुद्ध आत्मीक भाव का मनन व अनुभव बढ़ता जायगा उतना-उतना नवीन कर्मों का संवर व पुरातन कर्म का क्षय होता जायगा।

मोक्षतत्व।

सातवां तत्व मोक्ष है, जब ध्यान के बल से आत्मा सर्व कर्मों से छूट जाता है तब वह अकेला एक आत्म-द्रव्य अपनी सत्ता में रह जाता है इसे ही मोक्षतत्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धात्मा कहलाते हैं वे परम कृतकृत्य परमात्मा रूप से अपने ज्ञानानन्द का भोग करते रहते हैं।

व्यवहारनय से जीवादि सात तत्व का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है जिससे सहज सुख के साधक को पर्याय का ज्ञान हो। रोग का निदान व उपाय विदित हो। निश्चयनय से इन सात तत्वों में केवल दो ही पदार्थ हैं—जीव और अजीव। उनमें से अजीव त्यागने योग्य है। जीव पदार्थ में अपना एक शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा जानना व श्रद्धान करना निश्चयनय से सम्यक्त है। जीव और कर्म का संयोग ही संसार है। जीव और कर्म के संयोग से ही आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष पाच तत्व बने हैं। जैसे शक्कर और मावा के सम्बन्ध से पाच प्रकार की मिठाई बनाई जावे तब व्यवहार में उस मिठाई को पेड़ा, बरफी, गुलाब जामन आदि अनेक नाम दिये जाते हैं परन्तु निश्चय से उनमें दो ही पदार्थ हैं—शक्कर और मावा। इसी तरह आस्रवादि पांच तत्वों में जीव और कर्म दो हैं, उनमें से जीव को भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है।

सात तत्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तरह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु का श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है। देव, शास्त्र, गुरु की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान होता है व व्यवहार सम्यक्त का सेवन होता है। संसारी जीवो मे जो दोष पाये जाते हैं वे जिनमें न हों वे ही सच्चे देव हैं। अज्ञान व कषाय ये दोष हैं, जिसमें ये न हों अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वही सच्चा देव है। यह लक्षण अरहन्त और सिद्ध परमात्मा में मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती को अरहन्त कहते हैं और सर्व कर्म-रहित आत्मा को सिद्ध कहते हैं। ये ही आदर्श है व ये ही नमूना हैं।

जिन समान हमको होना है। अतएव इन्हीं को पूज्यनीय देव मानना चाहिये। अरहन्त द्वारा प्रगट धर्मोपदेश जो जैन आचार्यों के द्वारा ग्रन्थों में है वह सच्चा शास्त्र है, क्योंकि उनका कथन अज्ञान और कषायों को मेटने का उपदेश देता है। उन शास्त्रों में एकसा कथन है, पूर्वापर विरोध कथन नही है। उन शास्त्रो के अनुसार चलकर जो महाव्रती अज्ञान और कषायों के मेटने का साधन करते हैं वे ही सच्चे गुरु है। इस तरह देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा करके व्यवहार सम्यक्ती होना योग्य है।

व्यवहार सम्यक्त के सेवन से निश्चय सम्यक्त प्राप्त होगा। इस लिए उचित है कि नीचे लिखे चार काम नित्य प्रति किये जावें (१) देव भक्ति, (२) गुरु सेवा, (३) स्वाध्याय, (४) सामायिक। ये ही चार औषधियाँ हैं जिनके सेवन करने से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का बल घटेगा। इसलिए श्री जिनेन्द्र देव अरहन्त सिद्ध की स्तुति नित्य करनी चाहिए। भावो के जोड़ने के लिए अरहन्तों की ध्यानमय मूर्ति भी सहायक है। इसलिए मूर्ति के द्वारा ध्यान के भाव का दर्शन करते हुए गुणानुवाद करने से बुद्धि पर शुद्ध भाव रूपी आदर्श की छाप पडती है। ससार अवस्था त्यागने योग्य व मोक्षावस्था ग्रहण योग्य भासती जाती है। इसलिए मूर्ति के सयोग से या मूर्ति के सयोग बिना जैसा सम्भव हो अरहन्त सिद्ध की भक्ति आवश्यक है। गुरुसेवा भी बहुत जरूरी है। गुरु महाराज की शरण में बैठने से, उनकी शान्त मुद्रा देखने से, उनसे धर्मोपदेश लेने से बुद्धि पर भारी असर पडता है। गुरु वास्तव में अज्ञान के रोग को मेटने के लिए ज्ञान रूपी अजन की सलाई चला देते हैं जिससे अन्तरग ज्ञान की आख खुल जाती है। जैसे पुस्तको के होने पर भी स्कूल और कालेजों में मास्टर और प्रोफेसरों की जरूरत पड़ती है, उनके बिना पुस्तको का मर्म समझ में नही आता इसी तरह शास्त्रों के रहते हुए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु तत्व का स्वरूप ऐसा समझाते हैं जो शीघ्र समझ में आ जाता है। इसीलिए गुरु महाराज की सगति करके ज्ञान का लाभ करना चाहिए। उनकी सेवा वैय्यावृत्य करके अपने जन्म को सफल मानना चाहिए। सच्चे गुरु तारणतरण होते हैं। आप भवसागर से तरते हैं, और शिष्यों को भी पार लगाते हैं। यदि गुरु

साक्षात् न मिले तो नित्य प्रति उनके गुणो को स्मरण करके उनकी भक्ति करनी चाहिए।

तीसरा नित्य काम यह है कि शास्त्रों को पढ़ना चाहिए। जिन वाणी के पढ़ने से ज्ञान की वृद्धि होती है, परिणाम शान्त होते हैं। बुद्धि पर तत्वज्ञान का असर पड़ता है। बडा भारी लाभ होता है। शास्त्रों की चर्चा व मनन से कर्म का भार हलका हो जाता है। जिन शास्त्रों से तत्वों का बोध हो जिनसे अध्यात्म ज्ञान विशेप प्रगट हो, उन शास्त्रों का विशेष अभ्यास करना चाहिए।

चौथा काम यह है कि प्रातःकाल और सन्ध्याकाल या मध्याह्न काल तीन दफे दो दफे या एक दफे एकान्त में बैठकर सामायिक करनी चाहिए। जितनी देर सामायिक करे सर्व से रागद्वेष छोड़ कर निश्चयनय से आत्मा को सिद्धसम शुद्ध विचारना चाहिए, ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

देव पूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय व सामायिक इन चार कामों को नित्य श्रद्धान भावसहित करते रहने से व इन्द्रियों पर स्वामित्व रखते हुए, नीतिपूर्वक आचार करते हुए, संसार शरीर भोगों से वैराग्य भाव रखते हुए यकायक ऐसा समय आ जाता है कि सामायिक के समय परिणाम उतने निर्मल व आत्मप्रेमी हो जाते हैं कि अनन्तानुबन्धी कषाय का और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम सम्यक्त का लाभ हो जाता है। अभ्यास करने वाले को इस णमोकार मन्त्र पर ध्यान रखना चाहिये।

णमो अरहंताण—सात अक्षर	पैंतीस अक्षर
णमो सिद्धाणं—पाच अक्षर	
णमो आइरियाणं—सात अक्षर	
णमो उवज्झायाण—सात अक्षर	
णमो लोए सव्वसाहूणं—नव अक्षर	

अर्थ—इस लोक में सर्व अरहंतों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व सिद्धों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व आचार्यों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व उपाध्यायों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व साधुओं को

नमस्कार हो। महाव्रती साधुओं में जो संघ के गुरु होते हैं उनको आचार्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रों का पठन पाठन मुख्यता से कराते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं शेष साधु संज्ञा में हैं।

१०८ दफे पेंतीस अक्षरों का णमोकार मन्त्र जपे या नीचे लिखे मन्त्र जपे —

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः— सोलह अक्षरी
अरहंतसिद्ध—छः अक्षरी
असिआउसा—पांच अक्षरी
अरहंत—चार अक्षरी
सिद्ध, ओं ह्रीं, सोहं—दो अक्षरी
ॐ—एक अक्षरी

जिस समय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है मानों सूर्य की किरण का प्रकाश होता है। सर्व अज्ञान व मिथ्यात्वका अंधेरा व अन्याय चारित्र का अभिप्राय भागजाता है। सम्यग्दर्शनके होते ही रत्नत्रय प्रगट होते हैं। ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है व स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से प्रगट हो जाता है। सम्यक्त के प्रकट होते समय स्वानुभव दशा होती है,उसी समय अपूर्वअतीन्द्रिय आनन्दका लाभ होताहै। उस सहज सुख का बोध होतेही-भले प्रकार अनुभव होतेही-इन्द्रियसुख तुच्छ है यह प्रतीति दृढ़ होती है। सम्यक्त होते ही वह संसार की तरफ पीठ दे लेता है और मोक्ष की तरफ मुख कर लेता है। अब से सम्यक्ती की सर्व क्रियाएं ऐसी होती हैं जो आत्मोन्नति में बाधक न हों। वह अपने आत्मा को पूर्ण ब्रह्म परमात्मारूप वीतरागी ज्ञाताद्रष्टा अनुभव करता है। सर्व मन वचन काय की क्रिया को कर्म पुद्गल जनित जानता है। यद्यपि वह व्यवहार में यथायोग्य अपनी पदवी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थों की सिद्धि करता है तथापि वह यह जानता है कि यह सब व्यवहार आत्मा का स्वभाव नहीं कर्म का नाटक है। मन, वचन, काय की गुप्ति न होने

से स्वानुभव में सदा रमण न होने से करना पड़ता है। वह सम्यक्ती व्यवहार चारित्रको भी त्यागनेयोग्य विकल्प जानता है। यद्यपि उसे मनको रोकनेके लिये व्यवहार चारित्र की शरण लेनी पड़ती है तो भी वह उसे त्यागने योग्य ही समझता है। जैसे ऊपर जाने के लिये सीढ़ी की जरूरत पड़ती है परन्तु चढने वाला सीढ़ी से काम लेते हुए भी सीढ़ी को त्यागने योग्य ही समझता है। और जब पहुँच जाता है सीढ़ी को त्याग देता है। सम्यक्ती अपने आत्मा को न बन्ध में देखता है न उसे मोक्ष होना है ऐसा जानता है। वह आत्मा को आत्म द्रव्य रूप शुद्ध सिद्ध सम ही जानता है। बन्ध व मोक्षकी सर्व कल्पना मात्र व्यवहार है, कर्म की अपेक्षा से है। आत्मा का स्वभाव बन्ध व मोक्ष के विकल्प रहित है। निश्चयनय से आत्मा आत्मारूप ही है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है। जब निश्चयनय से मनन होने में प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय से सात तत्त्वों का मनन करता है या देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय तथा सामायिक का आरम्भ करता है। इन व्यवहार साधनों को करते हुए भी सम्यक्ती की दृष्टि निश्चय नय पर रहती है। जब निश्चय नय का आलम्बन लेता है, शुद्ध आत्मा का ही मनन करता है। जब मनन करते २ स्वात्मानुभव में पहुँच जाता है तब निश्चय तथा व्यवहार दोनों का पक्ष छूट जाता है।

सम्यक्ती सदा सुखी रहता है। उसको सहज सुख स्वाधीनता से जब चाहे तब मिल जाता है। सांसारिक सुख व दुःख उसके मन को सम्यक्त से नहीं गिराते हैं वह इनको धूप व छाया के समान क्षणभंगुर जानकर इनमें ममत्व नहीं करता है। जीव मात्र के साथ मैत्री भाव रखता हुआ यह सम्यक्ती अपने कुटुम्ब की आत्माओं को भी आत्मा रूप जानकर उनका हित विचारता है। उनके साथ अन्धमोह नहीं रखता है, उनको आत्मोन्नति के मार्ग में लगाता है, उनके शरीर की भले प्रकार रक्षा करता है। दुःखीके दुःख को शक्ति को न छिपाकर दूर करता है, वह करुणा भावना भाता रहता है। दूसरे प्राणियों के दुःखों को देखकर मानो मेरे ही ऊपर यह दुःख है ऐसा जानकर सकम्प हो जाता है और यथाशक्ति दुःखों के दूर करने का प्रयत्न करता है। गुणवानों को देखकर प्रसन्न होता है, उनकी उन्नति चाहता है व आगे उनके समान उन्नति

करने की उत्कंठा करता है। जिनके साथ अपनी सम्मति किसी तरह नहीं मिलती है उनके ऊपर द्वेषभाव नहीं रखता है, किन्तु माध्यस्थभाव या उपेक्षाभाव रखता है। जगत मात्र के प्राणियों का हितैषी सम्यक्ती होता है। लाभ में हर्ष व हानि में शोक नहीं करता है। गुणस्थान के अनुसार कषाय के उदय से कुछ हो जावे तौ भी वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बहुत अल्प होता है। सम्यक्ती सदा ही निराकुल रहना चाहता है। वह ऐसा कर्जा नहीं लेता है जिसे वह सुगमता से चुका न सके। पुत्रादि के विवाह में वह आमदनी को देखकर खर्च करता है। अनावश्यक खर्चको रोकता है। बहुधा सम्यक्ती जीव आमदनी के चार भाग करता है। एक भाग नित्य खर्च में, एक भाग विशेष खर्च के लिये, एक भाग एकत्र रखने के लिये, एक भाग दान के लिये अलग करता है। यदि दान में चौथाई अलग न कर सके तो मध्यम श्रेणी में छठा या आठवां भाग तथा जघन्य श्रेणी में दशवां भाग तो निकलता ही है और उसे आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्रदान में खर्च करता है।

सम्यक्ती विवेकी, विचारवान होता है, किसी पर अन्याय या जुल्म नही करता है। दूसरा कोई अन्याय करे तो उसको समझाता है, यदि वह नही मानता है तो उसको शिक्षा देकर ठीक करता है। विरोधी को युद्ध करके भी सीधे मार्ग पर लाता है। अविरत सम्यक्ती आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता है। यद्यपि सम्यक्ती संकल्पी हिंसा का भी नियम से त्यागी नहीं होता है तो भी वह दयावान होता हुआ वृथा एक तृण मात्र को भी कष्ट नहीं देता है।

सम्यक्ती के आठ अंग—जैसे शरीर के आठ अंग होते हैं—मस्तक, पेट, पीठ, दो भुजा, दो टांगे, एक कमर। यदि इनको अलग-अलग कर दिया जावे तो शरीर नहीं रहता है। इसी तरह सम्यक्ती के आठ अंग होते हैं। यदि ये न हो तो वह सम्यक्ती नही हो सकता है।

(१) **निःशंकित अंग**—जिन तत्वों की श्रद्धा करके सम्यक्ती हुआ है उन पर कभी शंका नहीं लाता है। जो जानने योग्य बात समझ में नहीं आई हैं और जिनागम से जानी जाती है उन पर अश्रद्धान नहीं

करता है तथापि वह ज्ञानी से समझने का उद्यम करता है। तथा वह नीचे प्रकार कहे गये सात प्रकार के भयो को ऐसा नही करता है जिससे श्रद्धान विचलित हो जावे। चारित्र मोह के उदय से यदि कभी कोई भय होता है तो उसे वस्तु स्वरूप विचार कर आत्म बल की स्फूर्ति से दूर करता है।

(१) **इस लोक का भय**—मैं यह धर्म कार्य करूँगा तो लोक निन्दा करेंगे इसलिये नही करना ऐसा भय सम्यक्ती नही करेगा। वह शास्त्र को कानून मानकर जिससे लाभ हो उस काम को लोगो के भय के कारण छोड नही देगा।

(२) **परलोक का भय**—यद्यपि सम्यक्ती दुर्गति जाने योग्य काम नही करता है तथापि वह अपने आत्मा के भीतर ऐसी दृढ श्रद्धा रखता है कि उसे यह भय नही होता है कि यदि नर्कादि मे आया तो बडा दुःख उठाऊँगा। वह शारीरिक कष्ट से घबडाता नही व वैषयिक सुख का लोलुपी नहीं होता है—अपने कर्मोदय पर सन्तोष रखता हुआ परलोक की चिन्ता से भयभीत नही होता है।

(३) **वेदना भय**—वह रोगो के न होने का यत्न रखता है। मात्रा पूर्वक खान पान नियमित आहार विहार निद्रा के साधन करता है तथापि भयातुर नही होता है कि रोग आ जायगा तो मैं क्या करूँगा। वह समझता है कि यदि असाता वेदनीय के तीव्र उदय से रोग आ जायेगा तो कर्म की निर्जरा ही है ऐसा समझ कर भय रहित रहता है रोग होने पर यथार्थ इलाज करता है।

(४) **अनरक्षा भय**—यदि सम्यक्ती अकेला हो व कही परदेश में अकेला जावे तो वह यह भय नही करता है कि मेरी रक्षा यहाँ कैसे होगी मैं कैसे अपने प्राणो को सम्हाल सकूँगा। वह अपने आत्मा के अमरत्व पर व उसके चिर सुरक्षित गुण रूपी सम्पत्ति पर ही अपना दृढ विश्वास रखता है। अतएव मेरा रक्षक नही है ऐसा भय न करके अरहन्तादि पाँच परमेष्ठियो की शरण को ही बडी रक्षा समझता है।

(५) अगुप्त भय—सम्यक्ती यह भय नहीं करता है कि यदि मेरा माल व असबाब चोरी चला जायगा तो क्या होगा। वह अपने माल की रक्षा का पूर्ण यत्न करके निश्चिन्त हो जाता है और अपने कर्म पर आगे का भाव छोड़ देता है। वह जानता है कि यदि तीव्र असाता वेदनीय का उदय आ जावेगा तो लक्ष्मी को जाने में देर न लगेगी, पुण्योदय से बनी रहेगी।

(६) मरण भय—सम्यक्ती को मरने का भय नहीं होता है। वह मरण को कपडे बदलने के समान जानता है। आत्मा का कभी मरण नहीं होता है, मैं अजर अमर हूँ ऐसा दृढ़ विश्वास उसे मरण भय से दूर रखता है, वह जगत में वीर योद्धा के समान वर्तन करता है।

(७) अकस्मात् भय—वह अपनी शक्ति के अनुसार रहने व बैठने व आने जाने के साधनों को सम्हाल कर काम में लेता है। यह भय नहीं रखता है कि अकस्मात् छत गिर जायगी तो क्या होगा? भूकम्प आजायगा तो क्या होगा? इन भयो को नही करता है। प्रयत्न करते हुए भावी को कर्मोदय पर छोड देता है, अकस्मात् का विचार करके भयभीत नहीं होता है।

(२) निःकांक्षित अंग—सम्यक्ती संसार के इन्द्रिय जनित सुखों में सुखपने की श्रद्धा नहीं रखता है। वह ऐसे सुख को पराधीन, दुख का मूल, आकुलतामय, तृष्णावर्द्धक व पापकर्मबन्धक जानता है।

(३) निर्विचिकित्सित अंग— सम्यक्ती हरएक पदार्थ के स्वरूप को विचार किसी से ग्लानिभाव नही रखता है। दुःखी, दरिद्री, रोगी प्राणियों पर दयाभाव रखकर उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उनका क्लेश मेटता है। मलीन को देखकर व मल को देखकर ग्लानिभाव नहीं करता है। मलीन को स्वच्छ रहने का यथाशक्ति साधन कर देता है। मलीन पुद्गलों से स्वास्थ्य लाभ की अपेक्षा बचते हुए भी किसी रोगी के मलमूत्र कफ उठाने में ग्लानि नहीं मानता है।

(४) अमूढ़दृष्टि अंग—हरएक धर्म की क्रिया को विचारपूर्वक करता है। जो रत्नत्रय के साधक धर्म के कार्य हैं उन्हीं को करता है। देखादेखी मिथ्यात्ववर्द्धक व निरर्थक क्रियाओं को धर्म मान के नहीं पालता है। दूसरों की देखादेखी किसी भी अधर्मक्रिया को धर्म नहीं मानता है, मूढ़ बुद्धि को बिल्कुल छोड़ देता है।

(५) उपगूहन अंग—सम्यक्ती दूसरे के गुणों को देखकर अपने गुणों को बढ़ाता है। पर के औगुणों को ग्रहण कर निन्दा नहीं करता है। धर्मात्माओं से कोई दोष हो जावे तो उसको जिस तरह बने उससे दूर कराता है परन्तु धर्मात्माओं की निन्दा नहीं करता है।

(६) स्थितिकरण अंग—अपने आत्मा को सदा धर्म में स्थिर करता रहता है तथा दूसरों को भी धर्म मार्ग में सदा प्रेरणा करता रहता है।

(७) वात्सल्यांग—धर्म और धर्मात्माओं से गौवत्स के समान प्रेम भाव रखता हुआ सम्यक्ती उनके दुःखों को मेटने का यथाशक्ति उद्यम करता है।

(८) प्रभावनांग—धर्म की उन्नति करने का सदा ही प्रयत्न करना एक सम्यक्ती का मुख्य कर्तव्य होता है। जिस तरह हो अन्य प्राणी सत्य धर्म से प्रभावित होकर सत्य को धारण करे ऐसा उद्यम करता व कराता रहता है।

सम्यक्ती में इन आठ अंगों का पालन सहज ही होता है। उसका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है।

निश्चयनय से सम्यक्ती के आठ अंग इस प्रकार हैं कि वह निज आत्मा में निःशंक व निर्भय होकर ठहरता है, यही निःशंकित अंग है। अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न रहता है यही निःकांक्षित अंग है। आत्मस्वरूप की मगनता में साम्यभाव का अवलम्बन करता है यही निर्विचिकित्सित अंग है। आत्मा के स्वरूप में मूढ़ता रहित है, यथार्थ आत्मबोध सहित है यही अमूढ़दृष्टि अंग है। आत्मीक स्वभाव की स्थिरता में लीन है, पर भाव को ग्रहण नहीं करता है यही उपगूहन अंग है। आत्मा में आत्मा के द्वारा स्थिर है यही स्थितिकरण अंग है। आत्मानन्द में भ्रमरवत् आसक्त

है यही वात्सल्य अंग है। आत्मीक प्रभाव के विकास मे दत्तचित्त है यही प्रभावना अंग है।

सम्यक्ती के भीतर से आठ लक्षण और भी प्रगट होते हैं। इन आठ चिह्नों से भी सम्यक्ती लिखा जाता है—

(१) **संवेग**—ससार, शरीर भोगों से वैराग्य सहित आत्मीकधर्म व उसके साधनो से सम्यक्ती को बहुत प्रेम होता है, वह धर्म के प्रम में रगा होता है।

(२) **निर्वेद**—संसार असार है, शरीर अपवित्र है, भोग अतृप्ति-कारी व विनाशीक है ऐसा भावना सम्यक्ती मे जागृत रहती है।

(३) **निन्दा**—(४) **गर्हा**—सम्यक्ती अपने मुख से अपनी प्रशंसा नही करता है, वह जानता है कि यद्यपि मेरा आत्मा सिद्धसम शुद्ध है तथापि अभी कर्ममल से अशुद्ध हो रहा है। जब तक पूर्ण शुद्ध न हो तब तक मैं निन्दा के योग्य हूँ, ऐसा जानकर अपने मन मे भी अपनी निन्दा करता रहता है तथा दूसरों के सामने भी अपनी निन्दा करता रहता है। यदि कोई उसके धर्माचरण की प्रशसा करे तो वह अपनी कमी को सामने रख देता है। जो कुछ व्यवहार धर्म साधन करता है उसमें अहंकार नही करता है।

(५) **उपशम**—सम्यक्ती की आत्मा में परम शान्त भाव रहता है, वह भीतर से शीतल रहता है, किसी पर द्वेष नहीं रखता है। यदि कारणवश कभी क्रोध आता भी है तो भी उसका हेतु अच्छा होता है और क्रोध को भी शीघ्र दूर कर शान्त हो जाता है।

(६) **भक्ति**—सम्यक्ती देव, शास्त्र, गुरु का परम भक्त होता है, बड़ी भक्ति से पूजनपाठ करता है, शास्त्र पढ़ता है, गुरुभक्ति करता है, धर्मात्माओं की यथायोग्य विनय करता है।

(७) **वात्सल्य**—धर्म और धर्मात्माओं में गौ वत्स समान प्रेम रखता है। धर्म के ऊपर व धर्मात्मा के ऊपर कोई आपत्ति आवे तो उसे दूर करने का मन, वचन, काय से व धन से व अधिकारबल से जिस तरह हो प्रयत्न करता है।

(८) **अनुकम्पा**—सम्यक्ती बड़ा ही दयालु होता है। दूसरे प्राणियो

पर जो दुःख पडता है उसे अपना ही दुःख समझता है उसको दूर करना कराना अपना धर्म समझता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव अपने वर्ताव से जगत भर का प्यारा हो जाता है व सन्तोषी रहता है। अन्याय से धन कमाना पाप समझता है, न्यायपूर्वक जो प्राप्त करता है उसी में अपना व अपने सम्बन्धियो का निर्वाह करता है, वह कर्ज लेने से बचता है। कर्जदार ऐसा आकुलित रहता है कि वह धर्म कर्म में वर्तन नहीं कर सकता है। आमदनी के भीतर-भीतर खर्च करने वाला सदा सुखी रहता है। अविरत सम्यक्ती भी चौथे गुणस्थान में ऐसे कर्मों का बन्ध नही करता है, जिससे नर्क जा सके व एकेन्द्रियादि तिर्यंच हो सके। देव हो तो उत्तम मनुष्य होने का व मनुष्य हो तो स्वर्गवासी उत्तम देव होने का ही कर्म बाधता है।

आठ कर्म की १४८ प्रकृतियां—आठ कर्मों के १४८ भेद नीचे प्रकार हैं—

ज्ञानावरण के पांच भेद—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञा०, अवधिज्ञा०, मनपर्ययज्ञाना०, केवलज्ञानावरण, ये पाचो ज्ञानो को क्रम से ढकती हैं।

दर्शनावरण के नौ भेद—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुद०, अवधिद०, केवलद०, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला (ऊंघना), प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि (नीद में वीर्य प्रगट होकर स्वप्न में काम कर लेना)।

वेदनीय के दो भेद—सातावेदनीय, असातावेदनीय।

मोहनीय के २८ भेद—दर्शनमोहनीय के तीन भेद व चारित्रमोहनीय के २५ भेद पहले कह चुके हैं।

आयु के ४ भेद—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

नाम के ९३ भेद—गति ४, एकेन्द्रिय आदि ५ जाति, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर ५, औदारिक, वैक्रियक, आहारक अंगोपाग ३, औदारिकादि बन्धन ५, औदारिकादि सघात ५, प्रमाण (कहां पर व कैसे अंगोपांग रखे जावें), सस्थान ६ (समचतुरस्र, सुडौल शरीर, न्यग्रोध परिमण्डल—ऊपर बड़ा नीचे छोटा, स्वाति—ऊपर छोटा नीचे बड़ा, वामन—बौना, कुब्जक—कुबड़ा, हुंडक—बेडौल), सह-

नन ६ (वज्रऋषभ नाराच वज्र के समान दृढ़ हड्डी, नसे व कीले हों, वज्रनाराच सं०—वज्र के समान हड्डी व कीले हों, नाराच—हड्डी के दोनों ओर कीले हों, अर्द्ध नाराच—एक तरफ कीले हों, कीलित—हड्डी से हड्डी कीलित हो, असंप्राप्तासृपाटिका—मेरु से हड्डी मिली हो। स्पर्श ८, रस ५, गन्ध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४ (चार गति अपेक्षा—आगे की गति में जाते हुए पूर्व शरीर के प्रमाण आत्मा का आकार रहे) अगुरु लघु (न शरीर बहुत भारी, न बहुत हलका), उपघात (अपने अंग से अपना घात), परघात (अपने से परका घात), आताप (परको आतापकारी शरीर) उद्योत (परको प्रकाशकारी), उच्छ्वास, विहायोगति २ (आकाश में गमन शुभ व अशुभ), प्रत्येक (एक शरीर का एक स्वामी), साधारण (एक शरीर के अनेक स्वामी) त्रस (द्वेंद्रियादि) स्थावर, सुभग (परको सुहावना शरीर), दुर्भग (असुहावना), सुस्वर, दुस्वर, शुभ (सुन्दर), अशुभ सूक्ष्म (परसे बाधा न पावे), बादर, पर्याप्ति (पर्याप्ति पूर्ण करे), अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय (प्रभाववान्), अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थंकर।

गोत्र कर्म २ प्रकार—उच्चगोत्र (लोकपूजित), नीच गोत्र।

अन्तराय ५ प्रकार—दानांतराय, लाभांतराय, भोगा०, उपभोगा०, वीर्यान्तराय।

इनमें से बन्ध में १२० गिनी गई हैं। ५ बन्धन ५ संघात शरीर पाच में गर्भित हैं स्पर्शादि २० की चार गिनी गई हैं तथा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति का बन्ध नहीं होता है इस तरह २८ घट गई।

१—मिथ्यात्व गुणस्थान में—१२० में से ११७ का बन्ध होगा, तीर्थंकर व आहारक अंगोपांग का बन्ध नहीं होता।

२—सासादन में—१०१ का बन्ध होता है १६ का नहीं होता। मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, हुंडक सस्थान, असं० संहनन, एकेन्द्रियादि चार जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

३—मिश्र में—१०१ में २७ कम ७४ का ही बन्ध होता है।

निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि,अनन्तानुबन्धी कषाय चार,

स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंच गति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, नीच गोत्र, उद्योत अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोध से वामन चार संस्थान, वज्रनाराच से कीलक सहनन चार, मनुष्यायु, देवायु।

४—अविरत सम्यक्त में—७४ में मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर मिलाकर ७७ का बन्ध होता है। ४३ प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

इससे सिद्ध है कि सम्यक्त होने पर सिवाय देव व उत्तम मनुष्य के और नहीं होता है। यदि पहले नर्क, तिर्यंच व मानव आयु बांध ली हो तो उस सम्यक्ती तिर्यंच या मानवको इन तीन गतियों में जाना पड़ता है।

चौथे से आगे के सब गुणस्थानों में सम्यक्त रहता है।

५—देशविरत में—७७ में १० कम ६७ का बन्ध होता है।

अप्रत्याख्यान कषाय चार, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच सं०।

६—प्रमत्तविरत में—६७ में ४ कम ६३ का बन्ध होता है, चार प्रत्याख्यानावरण कषाय घट जाते हैं।

७—अप्रमत्तविरत में—६३ में ६ घटकर व दो मिलाकर ५९ का बन्ध होता है। अरति, शोक, असाता वेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयश घटती हैं व आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग मिल जाती हैं।

८—अपूर्वकरण में—५९ में देवायु घटाकर ५८ का बन्ध होता है।

९—अनिवृत्तिकरण में—५८ में ३६ घटाकर २२ का बन्ध होता है। निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्माण शरीर२, आहारक २, वैक्रियिक २, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्या०, स्पर्शादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय=३६।

१०—सूक्ष्मसांपराय में—२२ में से ५ निकालकर, १७ का बन्ध होता है संज्वलन क्रोधादि चार व पुरुषवेद नहीं बंधते हैं।

११—उपशांत मोह में—१७ में १६ कम करके १ सातावेदनीय का

बन्ध होता है। ज्ञानावरण ५,+दर्शनावरण ४, +अन्तराय ५,+उच्च गोत्र,+यश=१६।

आगे दो गुणस्थानों में भी सातावेदनीय का बन्ध होता है।

इस ऊपर के कथन से सिद्ध है कि सम्यक्ती जैसे २ गुणस्थानों में बढ़ता जाता है वैसे वैसे कम कर्मों का बन्ध करता है। मन्द कषाय में बन्ध योग्य कर्मों में स्थिति थोड़ी पड़ती है व पुण्य का अधिक बन्ध होकर उनमें अनुभाग अधिक पड़ता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। सम्यक्ती सदा संतोषी रहता है। एक चांडाल भी सम्यक्त के प्रभाव से मर कर स्वर्ग में उत्तम देव होता है। नारकी भी सम्यक्त के प्रभाव से उत्तम मानव होता है। सम्यक्ती यहां भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहता है। वह तो मोक्ष के परमोत्तम महल का अनुयायी हो गया है। मार्ग में यदि विश्राम करेगा तो उत्तम देव या उत्तम मनुष्य ही होगा। उभय लोक में सुखदायी इस सम्यक्तका लाभ करना जरूरी है। जो पुरुषार्थ करेंगे वे कभी न कभी प्राप्त करेंगे। सम्यक्त का पुरुषार्थ सदा ही कल्याणकारी है।

सम्यग्दर्शन और उसके महात्म्य के सम्बन्ध मे जैनाचार्य क्या क्या मनोहर वाक्य कहते हैं उनका कथन नीचे प्रकार हैं—पाठकगण आनन्द लेकर तृप्ति प्राप्त करें।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं—

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

भावार्थ—यह जीव जीने वाला है, चेतने वाला या अनुभव करने वाला है, ज्ञान दर्शन उपयोग का धारी है, स्वयं समर्थ है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीर मात्र आकार धारी है, अमूर्तीक है, संसार अवस्था में कर्म सहित है।

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अन्तमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

भावार्थ—जब यह जीव कर्म मल से छूट जाता है तब लोक के अन्त में जाकर विराजमान हो जाता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हुए वे सिद्ध भगवान अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥१५॥

भावार्थ—सत् पदार्थ का कभी नाश नही होता है तथा असत् पदार्थ का कभी जन्म नही होता है। हर एक पदार्थ अपने गुणो की अवस्थाओं में उत्पाद तथा व्यय करते रहते हैं अर्थात् हर एक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं वादरेहिं य णंताणंतेहि विविहेहिं ॥६४॥

भावार्थ--यह लोक सर्व तरफ नाना प्रकार अनन्तानन्त सूक्ष्म तथा बादर पुद्गल कायो से खूब गाढ़ रूप से भरा है। इसमें सर्व जगह सूक्ष्म तथा बादर स्कन्ध पाए जाते हैं।

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंन्ति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा के अपने ही रागादि परिणाम होते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल अपने स्वभाव से ही आकर कर्म रूप होकर आत्मा के प्रदेशो में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप होकर ठहर जाते हैं। जीव उनको बाधता नही है, जीव के रागादि भाव भी पूर्व बद्ध कर्म के उदय से ही होते हैं।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥

भावार्थ—जैसे इस लोक में पानी मछलियों के गमनागमन में उपकारी है वैसे जीव पुद्गलो के गमनागमन में धर्म द्रव्य सहकारी है।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥

भावार्थ—धर्म द्रव्य के समान अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी है जैसे पृथ्वी प्राणियो के ठहरने में सहकारी है।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९०॥

भावार्थ—जो सर्व जीवों को, पुद्गलों को, व शेष धर्म अधर्म व काल को स्थान देता है वह आकाश है। जहाँ आकाश खाली है वह अलोकाकाश है, शेष लोकाकाश है।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०१॥

भावार्थ—सत्तारूप निश्चय काल द्रव्य नित्य है जो सर्व द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी हैं। दूसरा व्यवहार काल समय रूप हैं जो उत्पन्न व नाश होता है। बहुत समयों की अपेक्षा व्यवहार काल दीर्घ स्थाई होता है।

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥

भावार्थ—काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव ये छः द्रव्य हैं। उनमें से काल द्रव्य को छोड़कर पाँच को अस्तिकाय कहते हैं।

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥७६॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥१॥

भावार्थ—बादर व सूक्ष्म स्कन्धों को पुद्गल कहते हैं। यह व्यवहार है। वे छः प्रकार के हैं उन्ही से तीन लोक रचा हुआ है। पृथ्वी—स्थूल स्थूल स्कन्ध है, जल—स्थूल हैं, छाया—स्थूल सूक्ष्म है चार इन्द्रिय के विषय सूक्ष्म स्थूल हैं, कार्मण वर्गणा सूक्ष्म है। उनसे भी सूक्ष्म स्कन्ध दो परमाणु के स्कन्ध तक सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं॥१२५॥

भावार्थ—जिसमें सदा ही सुख व दुःख का ज्ञान, हित में प्रवृत्ति व अहित से भय नहीं पाया जाता है उसीको मुनियों ने अजीव कहा है।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

भावार्थ—जिसके शुभ राग है, दया सहित परिणाम है, चित्त में मलीनता नहीं है, उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है।

अरहन्तसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

भावार्थ—प्रशस्त या शुभराग उसको कहते हैं जहां अरहन्त, सिद्ध व साधु की भक्ति हो, धर्म-साधन का उद्यम हो व गुरुओं की आज्ञानुसार वर्तन हो।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ॥१३७॥

भावार्थ—जो प्यासे को, भूखे को, दुःखी को देखकर स्वयं दुःखी मन होकर दया भाव से उसकी सेवा करता है उसी के अनुकम्पा कही गई है।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति॥१३८॥

भावार्थ—जब क्रोध या मान या लोभ चित्त में आकर जीव के भीतर क्षोभ या मलीनता पैदा कर देते हैं उस भाव को ज्ञानियों ने कलुष भाव कहा है।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१३९॥

भावार्थ—प्रमादपूर्ण वर्तन, कलुषता, पांच इन्द्रियों के विषयों में लोलुपता, दूसरों को दुःखी करना व दूसरों की निन्दा करनी ये सब पाप के आस्रव के कारण हैं।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

भावार्थ—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञाएँ कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या के भाव, इन्द्रियों के वश में रहना, आर्त तथा रौद्र-ध्यान, कुमार्ग में लगाया हुआ ज्ञान, संसार से मोह ये सब भाव पाप को बांधने वाले हैं।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।१४२।।

भावार्थ—जो साधु दुःख व सुख पड़ने पर समभाव के धारी हैं व सर्व जग के पदार्थों में जो रागद्वेष, मोह नहीं करते हैं उस साधु के शुभ व अशुभ कर्म नहीं आते हैं।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।।१४५।।

भावार्थ—जो मन, वचन, काय को रोक करके आत्मा के प्रयोजन रूप सिद्धि भाव को साधने वाला आत्मा को जानकर नित्य आत्म-ज्ञान को ध्याता है वही कर्मरज को दूर करता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ।।१४६।।

भावार्थ—जिसके भावों में राग द्वेष मोह नहीं है न मन, वचन, काय की क्रियाएँ हैं उसी के शुभ अशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानमयी अग्नि पैदा होती है।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।।१४८।।

भावार्थ—योग के निमित्त से कर्मवर्गणाओं का ग्रहण होता है, वह योग मन, वचन, काय के द्वारा होता है। अशुद्ध भाव के निमित्त से कर्म का बन्ध होता है। वह भाव रति, राग, द्वेष, मोह सहित होता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

भावार्थ—जो कर्मों के आने को रोक कर संवर सहित होकर सर्व

कर्मों का क्षय कर देता है वह वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र से रहित होकर संसार को त्याग देता है। यही मोक्ष का स्वरूप है। मोक्ष प्राप्त आत्मा के शरीर कोई नहीं रहता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

भूवत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१५।।

भावार्थ—जीव, अजीव; पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध व मोक्ष इन नौ पदार्थों को जब निश्चय नय से जान जाता है तब सम्यक्त होता है अर्थात् निश्चय नय से जीव और अजीव इन दो तत्वों से ये नौ पदार्थ बने है। उनमें अजीव से ममत्व त्याग कर एक अपने शुद्ध जीव को ग्रहण करने योग्य मानना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ।।७३।।

भावार्थ—मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से कहे गए हैं। मोहनीय कर्म जड़ अचेतन है तब ये गुणस्थान जीव के स्वभाव कैसे हो सकते हैं? निश्चय से ये जीव से भिन्न सदा ही अचेतन जड कहे गए हैं, इनमे कर्मों का ही विकार है। ये जीव के स्वभाव नही हैं। यदि स्वभाव होते तो सिद्धों मे भी पाये जाते।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणामं ।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।८०।।

भावार्थ—निश्चय से यह आत्मा आठ कर्मों की अवस्था का तथा शरीरादि की अवस्था का कर्ता नही है। आत्मा तो ज्ञानी है। वह तो मात्र जानता ही है। पर का कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ।।८६।।

भावार्थ—जीवो के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणा रूप पुद्गल स्वय ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते हैं। इसी

तरह पूर्व बद्ध पुद्गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव भी रागादि भावों में परिणमन करता है। यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अशुद्ध निश्चय नय से है।

णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ।।८७।।

भावार्थ—न तो जीव पुद्गल कर्म के गुणों को करता है न पुद्गल कर्म जीव के गुणों को करता है, परस्पर एक दूसरे के निमित्त से ही दोनों में परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।८८।।

भावार्थ—इस कारण से ही यह आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है, पुद्गल कर्म कृत सर्व भावों का कभी भी कर्ता नहीं है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।८९।।

भावार्थ—निश्चय नय से आत्मा अपने ही परिणामों का कर्ता है। और अपने ही आत्मस्वरूप को ही भोगता है।

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।९०।।

भावार्थ—व्यवहार नय का यह अभिप्राय है कि यह आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मों का कर्ता है तैसे ही अनेक प्रकार पुद्गल कर्मों को भोगता है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ।।१०७।।

भावार्थ—न तो जीव घट को बनाता है न पट को बनाता है न और द्रव्यों को बनाता है। जीव के योग और (अशुद्ध) उपयोग ही घटादि के उत्पन्न करने में निमित्त हैं। अशुद्ध निश्चय नय से उन योग व उपयोग का जीव कर्ता कहलाता है।

उवभोजमिंदियेहिय दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।।२०२।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा जो पाँचों इन्द्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है सो सर्व कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है। सम्यग्दृष्टी अन्तरंग में किसी पदार्थ से आसक्त नहीं है, इसलिये उसके कर्म फल देकर झड जाते हैं। वह संसार कारणीभूत कर्म बन्ध नहीं करता है। राग भाव के अनुसार कुछ कर्म बंधता है सो भी छूटने वाला है।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण हु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२०७।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि मोहनीय नाम का पुद्गल कर्म क्रोध है, उसी का विपाक या रस मेरे भावो के साथ झलकने वाला यह क्रोध है सो यह मेरा स्वभाव नही है। यह तो पद्गल का ही स्वभाव है, मैं तो मात्र इसका ज्ञाता एक आत्मा द्रव्य क्रोध से निराला हूँ।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२१०।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ऐसा जानता है कि नाना प्रकार कर्मों का विपाक या फल जिसे जिनेन्द्रों ने बताया है मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो एक अकेला मात्र ज्ञाता हूँ, जानने वाला ही हूँ।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ।।२१८।।

भावार्थ—ज्ञानी के यह भेद भावना होती है कि यह शरीर छिद जाहु, भिद जाहु, अथवा कोई कहीं लेजाहु अथवा चाहे जहाँ चला जाहु तथापि यह शरीर व तत्सम्बन्धी परिग्रह मेरा नही हैं। मैं तो अकेला ज्ञाता दृष्टा पदार्थ हूँ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२२६।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मा कर्मों के मध्य पड़ा हुआ भी सर्व पर द्रव्यों से राग भाव को त्याग करता हुआ इसी तरह कर्म रूपी रज से लिप्त नहीं होता है, जिस तरह कीचड में पड़ा हुआ सोना नहीं बिगड़ता है। परन्तु अज्ञानी जीव कर्मों के मध्य पड़ा हुआ सर्व पर द्रव्यों में राग भाव करता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त हो जाता है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा हुआ बिगड़ जाता है। सम्यग्दृष्टी ऐसा भीतर से वैरागी होता है कि कर्म का फल भोगते हुए भी कर्म की निर्जरा कर देता है तथा बन्ध या तो होता नही, यदि कषाय के अनुसार कुछ होता भी है तो वह बिगाड़ करने वाला संसार में भ्रमण कराने वाला नही होता है। सम्यक्त की अपूर्व महिमा है।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२४३॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव शंका रहित होते हैं। वे निर्भय होते हैं। वे सात प्रकार भय से रहित होते हैं। उनको आत्मा में दृढ़ विश्वास होता है। उनके मरण का व रोगादि का भय नही होता है।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादी णेव वज्झदि रयेण ॥२६१॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी कार्य वश से नाना प्रकार मन वचन काय के योगो द्वारा वर्तता है तो भी उपयोग में रागादि भावों को नहीं करता हुआ कर्म रूपी रज से नही बंधता है। मिथ्यादृष्टी की तरह बंधता नहीं है। वीतरागी सम्यक्ती अबन्ध रहता है अथवा सराग सम्यक्ती के जितना राग होता है उतना अल्पबन्ध होता है जो बाधक नही है।

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं॥३०२॥

भावार्थ—सम्यक्ती ज्ञानी जो स्वय ही अपने में बिना कर्मों के उदय से राग द्वेष, मोह व कषाय भाव नही पैदा करता है इसलिये आत्मा इन रागादि भावो का निश्चय से कर्ता नही है।

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।
बंधे सु जोण रज्जदि सो कम्मविमुक्खणं कुणदि।।३१५।।

भावार्थ—कर्म बन्धों का स्वभाव तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव जान करके जो कर्म बन्धो में रंजायमान नही होता है, कर्मों से विरक्त हो जाता है वही ज्ञानी कर्मों से अवश्य मुक्ति पा लेता है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ।।३४०।।

भावार्थ—ज्ञानी न तो नाना प्रकार कर्मों को कर्ता है न भोक्ता है, वह कर्म के करने व भोगने से उदासीन रहता हुआ कर्मों के फल पुण्य व पाप को व उनके बन्ध को मात्र जानता हैं। कर्मोदय से जो कुछ होता है उसका ज्ञाता दृष्टा रहना ज्ञानी का कर्तव्य है, वह कर्म के नाटक में लीन नहीं होता है।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो कुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।४०६।।

भावार्थ—कर्मों के फल को भोगते हुए जो उस कर्म-फल को अपना कर लेता है। अर्थात् उनमें तन्मय होकर फँस जाता है। वह फिर आठ प्रकार कर्मों को बाँधता है, जो दुःखों का बीज है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचन सार में कहते हैं :—

मोहेण य रागेण य दोसेण य परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ।।८१।।

भावार्थ—जो जीव मोह से, राग से या द्वेष से परिणमन करता है उसको नाना प्रकार कर्म का बन्ध होता है। इसलिये इन रागादि का क्षय करना योग्य है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।८५।।

भावार्थ—जो जिनेन्द्र के उपदेश को पाकर राग, द्वेष, मोह को नाश कर देता है वह शीघ्र ही सर्व ससार के दुःखों से छूटकर मुक्त हो जाता है।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥७-२॥

भावार्थ—द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। सत् रूप है ऐसा जिनेन्द्र ने तत्व रूप से कहा है, आगम से भी यही सिद्ध है ऐसा जो नहीं मानता है वह नियम से मिथ्याद्दष्टी है।

समवेदं खलु दव्वं सम्भवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं॥११-२॥

भावार्थ—हर एक द्रव्य एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य भावों से एकमेक है। इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन प्रकार है।

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं॥१२—२॥

भावार्थ—किसी भी द्रव्य की जब कोई पर्याय या अवस्था पैदा होती है तब ही दूसरी पूर्व की अवस्था नाश हो जाती है तो भी मूल द्रव्य न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। पर्याय की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद व्यय रूप है द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो॥३०-२॥

भावार्थ—यह आत्मा अनादि काल से कर्मों से मलीन चला आया है इसलिये राग द्वेष मोह रूप सयोग मय भाव को धारण करता है तब इन रागादि भावों के निमित्त से पुद्गल कर्म स्वय बंध जाता है। इसलिये रागादि भाव ही भाव कर्म है या कम बन्ध कारक भाव है।

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणो पुणो पुणो अण्णो।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसएसु॥६१—२॥

भावार्थ- यह कर्मो से मलीन आत्मा जब तक शरीरादि इन्द्रियों के विषयो में ममत्व भाव को नहीं छोड़ता है, तब तक बार-बार अन्य-अन्य प्राणो को धारता रहता है। अर्थात् एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त प्राणी होता रहता है।

जो इन्दियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति॥६२-२॥

भावार्थ—परन्तु जो कोई इन्द्रिय विषय व कषायों का विजयी

होकर अपने शुद्ध चैतन्य मय शुद्धोपयोग का ध्यान करता है और सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मों में राग नहीं करता है उसको ये इन्द्रियादि दश प्राण किस तरह सम्बन्ध कर सकते हैं ? अर्थात् वह जन्म-मरण से छूट ही जायगा।

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बन्धसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।।८०—२।।

भावार्थ—रागी जीव कर्मों को बाँधता है, वीतरागी कर्मों से छूट जाता है, ऐसा बन्ध तत्व का सक्षेप जीवो के लिये निश्चय से जानना चाहिये।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।५३-३।।

भावार्थ—जो साधु आगम ज्ञान से रहित है, न अपने आत्मा को सर्व कर्मों से रहित शुद्ध जानता है और न पर पदार्थों को ही जानता है वह पदार्थों के भेद ज्ञान को न पाता हुआ किस तरह कर्मों का क्षय कर सकता है ? शास्त्र ज्ञान के द्वारा स्व पर पदार्थ का बोध होता है। इसलिये मुमुक्षु को शास्त्र का मनन सदा कर्तव्य है।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ।।५७—३।।

भावार्थ—जिसकी श्रद्धा जीवादि पदार्थो मे नही है, वह मात्र शास्त्रों के ज्ञान से सिद्धि नही पा सकता। तथा जो पदार्थों की श्रद्धा रखता है, परन्तु सयम को धारण नहीं करता है वह भी निर्वाण को नही पा सकता। शास्त्र ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन सहित हो और तब सम्यक् चारित्र को पाले वही मुक्त होता है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि।५९-३।

भावार्थ—जिसकी शरीरादि पर द्रव्यों में परमाणु मात्र भी जरासी मूर्छा विद्यमान है, वह सर्व आगम का ज्ञाता है तो भी मोक्ष नही पा सकता है।

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।८५-३।।

भावार्थ—जो कोई साधु संयमी हो, तपस्वी हो तथा सूत्रों का ज्ञाता हो परन्तु आत्मा आदि पदार्थों में जिसकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है वह वास्तव में साधु नही है।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥४७॥

भावार्थ—मिथ्यात्व भाव एकान्त आदि पाँच प्रकार. अविरत भाव हिंसादि पांच प्रकार, कषाय भाव क्रोधादि चार प्रकार, योग मन, वचन, काय तीन प्रकार, ये सब कर्मो के आस्रव के द्वार हैं, ऐसा आगम में भले प्रकार कहा गया है।

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्विपरिणामो।
ईसाविसादभावो असुहमणंति य जिणा वेंति ॥५१॥

भावार्थ—कर्मो के अनेक कारण अशुभ व शुभ मन, वचन, काय हैं सो यहाँ कहते है। कृष्ण, नील, कपोत तीन लेश्या के परिणाम, इन्द्रियों के सुख में लम्पटता, ईर्ष्या भाव, शोक भाव, अशुभ मन के भाव हैं ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

रागो दोसो मोहो हास्सादोणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

भावार्थ—राग द्वेष, मोह, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद सम्बन्धी परिणाम चाहे तीव्र हो या मन्द हो अशुभ मन के भाव हैं ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भावार्थ—भोजन, स्त्री, राजा व चोर इन चार विकथाओं को कहना अशुभ वचन जानो, बाँधना, छेदना, मारना आदि कष्ट प्रद काम करना अशुभ काय की क्रिया की क्रियाएँ हैं।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥

भावार्थ—पहले कहे हुए सर्व अशुभ भावों को व द्रव्यों को छोड़कर जो परिणाम अहिंसादि व्रत, ईर्ष्या आदि समिति, शील, संयम में अनुरक्त हैं उनको शुभ मन जानो।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

भावार्थ—जिन वचनों से ससार के छेद का साधन बताया जावे वे शुभ वचन हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। श्री जिनेन्द्र देव की पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, संयम तथा दान आदि में चेष्टा व उद्यम सो शुभ काय है।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥

भावार्थ—शुभ मन, वचन, काय के योगो में प्रवृत्ति करने से अशुभ योगों के द्वारा आस्रव रुक जाता है तथा जब शुद्धोपयोग मे वर्ता जाता है तब शुभ योगो का भी निरोध हो जाता है—पूर्ण सवर होता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिन्तये णिच्चं ॥६४॥

भावार्थ—शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान होता है। इसलिये कर्मों के रोकने का कारण ध्यान है ऐसा नित्य विचारना चाहिये।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड में कहते हैं —

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ॥३॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। क्योकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को कभी निर्वाण का लाभ नही हो सकता है। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं परन्तु सम्यक्त से भ्रष्ट नही हैं वे फिर ठीक चारित्र पालकर सिद्ध हो सकेंगे परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे कभी भी सिद्धि न प्राप्त करेंगे।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

भावार्थ—जो जीवादि छ द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, जीव तत्व आदि सात तत्व व पुण्य पाप सहित नव पदार्थ इन सबका यथार्थ स्वरूप श्रद्धान मे लाता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना याग्य है।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेंहि पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्त ॥२०॥

भावार्थ—व्यवहार नय से जीवादि तत्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चय नय से अपना आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है या शुद्धात्मा ही मैं हू ऐसा श्रद्धान सम्यक्त है। यह बात जिनेन्द्रो ने कही है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड मे कहते हैं —

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

भावार्थ—पर द्रव्य मे रति करने से दुगति होती है किन्तु स्वद्रव्य मे रति करने मे सुगति होती है ऐसा जानकर पर द्रव्य मे विरक्त होकर स्वद्रव्य मे प्रेम करो।

मिच्छत्तं अण्णाणं पाव पुण्ण चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

भावार्थ—मिथ्यात्व, अज्ञान व पुण्यपाप को मन, वचन, काय द्वारा त्याग करके मौन व्रत के साथ योगी ध्यान मे तिष्ठकर अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
त सण्णाणं भणिय अवियत्थ सव्वदरसीहिं ॥४१॥

भावार्थ—जो योगी जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र के मत के अनुसार यथार्थ जानता है वही सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान है। वह निर्विकल्प आत्मानुभव है ऐसा सवदर्शी जिनेन्द्रो ने कहा है।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्म णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥४८॥

भावार्थ—परमात्मा को ध्याता हुआ योगी पाप बन्ध कारक लोभ से छूट जाता है। उसके नया कर्म का आस्रव नही होता है। ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा हे।

देव गुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजदेसु अणुरत्तो ।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ।।५२।।

भावार्थ—जो योगी सम्यग्दर्शन को धारता हुआ, देव तथा गुरु की भक्ति करता है-साधर्मी संयमी साधुओं में प्रीतिमान है, वही ध्यान में रुचि करने वाला होता है ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कम्प ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ।।८६।।

भावार्थ—हे श्रावक ! परम शुद्ध सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर मेरु पर्वतवत् उसे निष्कम्प रखकर संसार के दु:खों के क्षय के लिये उसीको ध्यान में ध्याया कर ।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ।।८७।।

भावार्थ—जो जीव निश्चय सम्यक्त आत्मा की दृढ श्रद्धाको ध्याता है वही सम्यकदृष्टि है । जो कोई आत्मानुभव रूप सम्यक्त में रमण करता है सो दुष्ट आठ कर्मो को क्षय कर देता है ।

किं वहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ।।८८।।

भावार्थ—बहुत क्या कहे, जो महात्मा भूतकाल में सिद्ध हुए हैं व आगामी काल में सिद्ध होगे सो सब सम्यग्दर्शनका महात्म्य है ऐसा जानो ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।।८६।।

भावार्थ—वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही वीर हैं, वे ही पंडित मानव हैं जिन्होने स्वप्न में भी सिद्धि को देने वाले सम्यग्दर्शन को मलीन नही किया । निरतिचार सम्यग्दर्शन को पाकर आत्मानन्द का विलास किया । शुद्ध सम्यक्त आत्मानुभूति ही है ।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।।६०।।

भावार्थ—हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में व निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्ग या साधु मार्ग में जो श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है।

(७) श्री वट्टकेर आचार्य मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा हौंति कम्मस्स ॥३८॥

भावार्थ—राग, द्वेष, मोह, पांच इन्द्रियों के विषय, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञा, ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव व ऐसे तीन अभिमान, व क्रोधादि कषाय तथा मन, वचन, काय कर्मों के आने के द्वार हैं।

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥४९॥

भावार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाँच आस्रव के द्वार हैं। उनसे ऐसा पाप का आस्रव होता है, जिनसे सदा ही आत्मा का ससार समुद्र में नाश होता है। जैसे छेद सहित नौका समुद्र में डगमगा कर डूबती है।

इन्दियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहिं णिग्घिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥५०॥

भावार्थ—जैसे कुमार्ग में जाने वाले घोड़े लगामों से रोक लिये जाते हैं वैसे ही तप, ज्ञान व विनय के द्वारा इन्द्रिय व कषाय के दोष दूर हो जाते हैं।

संसारे संसरंतस्स खओवसमगवस्स कम्मस्स।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥५५॥

भावार्थ—संसार में भ्रमण करते हुए जब कर्मों का क्षयोपशम होता है तब इस लोक में सर्व जीवों के एक देश निर्जरा होती है परन्तु तप करने से बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा होती है।

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥५८॥

भावार्थ—चिरकाल के बांधे हुए कर्मरज तप के द्वारा धुल जाते हैं ऐसा जानकर दो प्रकार बाहरी भीतरी तप के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करनी योग्य है।

(८) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार में कहते हैं—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ।।१२।।
सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ।।१३।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान,से सर्व पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है। जिसको पदार्थों का भेदविज्ञान है वह हितकर व अहितकर भावो को ठीकर जानता है। जो श्रेय व कुश्रेय को पहचानता है, वह कुआचार को छोड देता है। शीलवान हो जाता है। शील के फल से सम्पूर्ण चारित्र को पाता है। पूर्ण चरित्र को पाकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ।।७७।।

भावार्थ—जो ज्ञान व चारित्र से सम्पन्न होकर ध्यान, स्वाध्याय व तप में लीन है तथा कषाय व अभिमान से मुक्त है, वह शीघ्र ससार से तर जाता है।

(९) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार पंचाचार मे कहते हैं—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ।।३९।।

भावार्थ—जैसे तेल से चिकने शरीर पर रज लग जाती है, वैसे राग, द्वेष रूपी तेल से जो लिप्त है उसके कर्म का बन्ध हो जाता है।

जं खलु जिणोवदिट्ठं तत्थित्ति भावदो गहणं ।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ।।६८।।

भावार्थ—जैसे पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र ने कहा है वे ही पदार्थ हैं ऐसा भावपूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन है।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ।।१६६।।

भावार्थ—जो जीवादि पदार्थ जिनेन्द्रो ने श्रुतज्ञान में उपदेश किये हैं उनकी तरफ जो मानव रुचि करता है उसी के ही सम्यग्दर्शन की विनय होती है ।

(१०) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार षडावश्यक में कहते है—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति ।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेणु वुच्चंति ।।५४।।

भावार्थ—जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायो को जीत लिया है वे जिन हैं । जिन्होंने ससार रूपी शत्रु को नाश कर दिया है वे ही अर्हन्त हैं ऐसे कहे जाते हैं ।

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ।।६५।।

भावार्थ—जो वन्दना व नमस्कार के योग्य हैं व जो पूजा सत्कार के योग्य हैं । तथा जो सिद्ध होने योग्य हैं उनको अरहन्त ऐसा कहते हैं ।

सव्वं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता तह्मा ते केवली होंति ।।६७।।

भावार्थ—क्योंकि श्री अरहन्त भगवान केवल ज्ञान के विषय रूप सर्व लोक अलोक को देखते जानते हैं व केवल ज्ञान में ही आचरण कर रहे हैं इसलिये वे केवली होते हैं ।

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ।।६८।।

भावार्थ—क्योंकि अरहन्त भगवान ने मिथ्यात्वमय श्रद्धान को, ज्ञानावरण को, चारित्र मोह को इन तीनों को त्याग कर दिया है, इसलिये वे उत्तम हैं ।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ।।७२।।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रो की भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षय हो जाते

हैं। आचार्य की भक्ति से व उनकी कृपा से विद्याएं व मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।

जे दव्वपज्जया खलु उवविट्ठा जिणवरेहिं सुवणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ॥८८॥

भावार्थ—जो द्रव्यो की पर्याये जिनेन्द्र ने श्रुतज्ञान में उपदेश की हैं उनका जो श्रद्धान करता है, वह दर्शन विनय है ऐसा जानना योग्य है।

(११) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड में कहते हैं—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

भावार्थ—सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह निःशंकितादि आठ अंग सहित हो, लोक मूढता, देव मूढता, गुरु मूढता रहित हो। तथा जाति, कुल, धन, बल, रूप, विद्या, अधिकार, तप इन आठ मदो रहित हो।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥२८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित एक चाडाल को भी गणधर देवो ने माननीय देव तुल्य कहा हैं। जैसे भस्ममें छिपीहुई अग्निकी चिनगारी हो। आत्मा उसका पवित्र होगया है, किन्तु शरीर रूपी भस्म में छिपा हैं।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, वह मोक्ष मार्ग पर स्थिर है, जबकि मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्ष मार्गी नही है। इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ मिथ्यादृष्टी मुनि से श्रेष्ठ है।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

भावार्थ—तीन लोक व तीन काल मे सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों को कोई कल्याणकारी नही है। इसी तरह मिथ्यादर्शन के समान कोई अहितकारी नहीं है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः॥३५॥

भावार्थ—शुद्ध सम्यक्दृष्टि व्रत रहित होने पर भी नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुली, विकलांगी, अल्प आयु धारी तथा दरिद्री नहीं पैदा होते हैं।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं—

अरहन्तसिद्धचेइय, सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।
आयरियेसूवज्झाएसु, पवयणे दंसणे चावि ॥४६॥
भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ।
आसादणपरिहारो, दंसणविणओ समासेण ॥४७॥

भावार्थ—श्री अरहन्त भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, उनकी मूर्ति, द्वादशांग श्रुत, धर्म, साधु समूह, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और सम्यग्दर्शन इन दश स्थानों में भक्ति करना, पूजा करनी, गुणों का वर्णन करना, कोई निन्दा करे तो उसको निवारण करना, अविनय को मेटना, यह सब संक्षेप में सम्यग्दर्शन का विनय है।

णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मतं, णाणचरणवीरियतवाणं ॥७४०॥

भावार्थ—जैसे नगर की शोभा द्वार से है, मुख की शोभा चक्षु से है, वृक्ष की स्थिरता मूल से है, इसी तरह ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा सम्यग्दर्शन से है।

सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लम्भो ।
सम्मद्दंसण लम्भो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४६॥
लध्दूण य तेलोक्कं, परिवडदि परिमिदेण कालेण ।
लध्दूण य सम्मत्तं, अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं ॥७४७॥

भावार्थ—एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो दूसरी तरफ तीन लोक का राज्य मिलता है तौ भी तीन लोक के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोक का राज्य पाकर के भी नियत काल पीछे

वहां से पतन होगा। और जो सम्यग्दर्शन का लाभ हो जायगा तो अविनाशी मोक्ष के सुख को पायेगा।

विधिणा कवस्स सस्सस्स, जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहादियभत्ती, णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५५॥

भावार्थ—विधि सहित बोये हुए अन्न का उत्पाद जैसे वर्षा से होता है वैसे ही अरहन्त आदि की भक्ति से ज्ञान चारित्र सम्यक्त व तप की उत्पत्ति होती है।

जो अभिलासो विसएसु, तेण ण य पावए सुहं पुरिसो।
पावदि य कम्मबंधं, पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२७॥

भावार्थ—जो पुरुष पांच इन्द्रियो के विषयो मे अभिलाषा करता है वह आत्मसुख को नही पा सकता है। विषयो की अभिलाषा से यह पुरुष कर्म का बन्ध करता है।

कोहि डहिज्ज जह चंदणं, णरो दारुगं च वहुमोल्लं।
णासेइ मणुस्सभवं, पुरिसो तह विसयलोभेण ॥१८२८॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव बहुमूल्य चन्दन के वृक्ष को लकड़ी या ईंधन के लिये जला डाले तैसे ही अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय विषयो के लोभ से इस मनुष्य भव को नाश कर देता है।

छंडिय रयणाणि जहा, रयणद्दीवा हरिज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८२९॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप में रत्नो को छोड कर काष्ठ को ग्रहण करे वैसे ही इस मनुष्य भव मे अज्ञानी धर्म को छोड कर भोगो की अभिलाषा करता है।

गंतूण णंदणवणं, अमियं छंडिय विसं जहा पियइ।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८३०॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष नन्दनवन में जाकर अमृत को छोड विष पीवे वैसे ही अज्ञानी इस मनुष्य भव मे धर्म को छोड कर भोगो की अभिलाषा करता है।

गुत्ति परिखाहिं गुत्तं, संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ सत्तुसेणा, पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं।।१८३८।।

भावार्थ—जैसे खाई कोट से रक्षित नगर को शत्रु की सेना भंग नही कर सकती है वैसे तीन गुप्ति रूपी खाई कोट से रक्षित सयम नगर को कर्म रूपी वैरी की सेना भग नही कर सकती है।

अमुयंतो सम्मत्तं, परीसहचमुक्करे उदीरंता ।
णेव सदी मोत्तव्वा, एत्थ हु आराधणा भणिया ।।१८४२।।

भावार्थ—परीषहों की सेना का समूह आने पर भी ज्ञानी को सम्यग्दर्शन को न छोडते हुए भेदविज्ञान की स्मृति को नहीं छोड़ना चाहिए।

डहिऊण जहा अग्गी, विद्धंसदि सुवहुगं पि तणरासीं।
विद्धंसेदि तवग्गी, तह कम्मतणं सुवहुगं पि ।।१८४८।।

भावार्थ—जैसे अग्नि आप ही जल कर बहुत तृण के ढेर को जला देती हैं वैसे ही तप रूपी अग्नि बहुत काल के संचित कर्मों को जला देती है।

धादुगदं जह कणयं, सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गिधम्मो, तह जीवो कम्मधादुगदो ।।१८५१।।

भावार्थ—जैसे पाषाण में मिला हुआ सोना महान् अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है वैसे कर्म धातु से मिला हुआ जीव महान् तप रूपी अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है।

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो, झाणादितवोमयसरेहिं ।।१८५३।।
संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजयजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ।।१८५४।।

भावार्थ—इस तरह जो कोई सयमी योद्धा संवर रूपी बख्तर पहन कर, सम्यग्दर्शन रूप वाहन पर चढ़ा हुआ श्रुतज्ञान रूपी महा धनुष द्वारा ध्यानमयी तप के बाणों को संयम रूपी रणभूमि में कर्म रूप वैरी पर चला कर सर्व कर्म की सेना को जीत लेता है वही अनुपम मोक्ष की राज्य लक्ष्मी को पाता है।

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजीवाण दयावरं धम्मं ।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।।१।।

भावार्थ—वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है जो दोष रहित देव को, सर्व जीवों पर दया करने वाले धर्म को व परिग्रह रहित गुरु को ही मानता है।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात् ।
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः ।।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियैः।।९।।

भावार्थ—सर्व जीव सच्चे सुख को शीघ्र चाहते हैं। सो सुख सर्व कर्मों के क्षय से होगा। कर्मों का क्षय सम्यक्चारित्र से होगा। चारित्र सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। सो ज्ञान आगम से होता है। आगम श्री जिन-वाणी के उपदेश के आधार पर है। यह उपदेश अरहन्त आप्त से मिलता है। आप्त वही यथार्थ है जो रागादि दोषों से रहित हो। इसलिए सत्पुरुष भले प्रकार विचार करके सुखरूपी लक्ष्मी के लिए सच्चे देव की शरण ग्रहण करो।

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।।१५।।

भावार्थ—शान्त भाव, ज्ञान, चारित्र, तप इन सबका मूल्य सम्यक्त के बिना कंकड पत्थर के समान है। परन्तु यदि इनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो इनका मूल्य महामणि के समान अपार है।

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै-
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्-
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ।।२४१।।

भावार्थ—आत्मा है सो अनादि काल से कर्मों से बंधा है। कर्मों का

बन्ध आस्रवो से होता है, आस्रव क्रोधादि से होता है, क्रोधादि प्रमाद से होते हैं, प्रमाद हिंसा आदि पाच अव्रतो से होता है, ये अव्रत मिथ्या-दर्शन से पुष्ट होते हैं, इस ही मिथ्यादर्शन से यह आत्मा मलीन है, काल आदि की लब्धि पाकर जो सम्यग्दर्शन, चारित्र, विवेक, कषाय रहितपना पावे तो यह अनुक्रम से मुक्त हो जावे ।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार मे कहते हैं—

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिरबद्धं गलइ सइं फलरहियं जाइ जोईण ॥३२॥

भावार्थ—मन, वचन, काय को रोक लेने पर नियम से कर्मों का आस्रव रुक जाता है तथा चिरकाल के बधे हुए कर्म फलरहित होकर योगी की आत्मा से स्वय जल जाते हैं ।

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

भावार्थ—घोर तप करते हुए भी जब तक पर द्रव्यो मे मन लवलीन है तब तक भव्य जीव मोक्ष नही प्राप्त कर सकता है किन्तु शुद्ध भाव मे लीन होने से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

परदव्व देहाई कुणइ ममत्तिं च जाम तस्सुवरिं ।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥३४॥

भावार्थ—शरीर आदि पर द्रव्य हैं । जबतक यह जीव उनके ऊपर ममता करता है तब तक वह पर पदार्थ मे रत बहिरात्मा है और तबतक नाना प्रकार कर्मों से बधता है ।

रूसइ तूसइ णिच्चं इन्दियविसयेहिं सगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥३५॥

भावार्थ—कषायवान अज्ञानी मूढ नित्य ही इन्द्रियो के विषयो को मनोज्ञ पाकर सन्तुष्ट होता है, अमनोज्ञ पाकर क्रोधित होता है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत रहता है ।

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

भावार्थ—जो जीव अपने शुद्ध आत्मीक भाव को छोड़ता नहीं है तथा पर रागादि भावों में परिणमता नहीं है और अपने आत्मा का अनुभव करता है वही प्रगट रूप से संवर रूप और निर्जरारूप कहा गया है।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ।।६४।।

भावार्थ---जब तक सर्व मोह का क्षय नहीं होता है तब तक मन का मरण नहीं होता है। मोह के क्षय होने पर शेष तीन घातीय कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ।।६५।।

भावार्थ---जैसे राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभारहित होकर स्वय भाग जाती है वैसे ही मोह राजा के नाश होने पर सर्व घातीय कर्म जल जाते हैं।

धम्माभावे परदो गमणं णत्थिति तस्स सिद्धस्स ।
अत्थइ अणंतकालम् लोयग्गणिवासिउं होउं ।।७०।।

भावार्थ—अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इससे श्री सिद्ध भगवान का गमन लोक के बाहर नहीं होता है वे लोक के अग्र भाग में अनन्त काल तक निवास करते रहते हैं।

संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ।।७१।।

भावार्थ—लोक मे सर्वत्र धर्म द्रव्य होते हुए भी मुक्त जीव न नीचे जाता है न आठ दिशाओं में जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योंकि जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है।

(१५) श्री योगेन्द्रदेव योगसार मे कहते हैं---

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिम पावहु परमेट्ठि ।।१७।।

भावार्थ—चौदह मार्गणा, व चौदह गुणस्थान व्यवहार नय मे जीव

के कहे गए हैं। निश्चय नय से आत्मा को इनसे रहित ध्याओ जिससे परमेष्ठी पद की प्राप्ति हो सके।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥२४॥

भावार्थ—निश्चय नय से यह आत्मा लोक प्रमाण आकारधारी है परन्तु व्यवहारनय से अपने शरीर के प्रमाण है, ऐसे आत्मा के स्वभाव का मनन करो जिससे शीघ्र ही संसार सागर के तट पर पहुँच जाओ।

चउरासीलक्खहं फिरिउ काल अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से अनन्त काल हो गया चौरासी लाख योनियों में फिरता चला आ रहा है क्योंकि इसको सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं मिला, यही बात बिना भ्रान्ति के जानो। सम्यक्त रत्न हाथ लग जाता तो भव में न भ्रमता।

पुण्णि पावइ सग्ग जिय पावइ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥

भावार्थ—पुण्य बन्ध से जीव स्वर्ग में जाता हैं,पाप बन्ध से नरक में वास पाता है। जो कोई पुण्य पाप दोनो से ममता छोड़कर अपने आत्मा को ध्याता हैं वही मोक्ष में बास पाता हैं।

छहदव्वह जे जिणकहिआ णव पयत्थ जे तत्त।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र ने जो छः द्रव्य तथा नौ पदार्थ कहे हैं उनका श्रद्धान व्यवहार नय से सम्यक्त भगवान ने कहा है उसको प्रयत्न पूर्वक जानना योग्य है।

तित्थहु देउलि देउ जिणु सव्व वि कोई भणेइ।
देहादेउलि जो मुणइ सो बुह को वि हवेइ ॥४४॥

भावार्थ—तीर्थस्थान में व देवालय में श्री जिनेन्द्र देव हैं ऐसा सब कोई कहता है। परन्तु जो अपने शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा देव को पहचानता है वह कोई एक पंडित हैं।

आउ गलइ ण वि मणु गलइ ण वि आसाहु गलेइ ।
मोह फुरइ ण वि अप्पहिउ इम संसार भमेइ ।।४८।।

भावार्थ—आयु तो गलती जाती है । परन्तु न तो मन गलता है न आशातृष्णा गलती है । मोह की गहलता झलक रही है । इससे यह प्राणी आत्महित नही करता हुआ इस संसार में भ्रमण किया करता है ।

जेहउ मणु विसयह रमइ तिम जे अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ रे जोइहु लहु णिव्वाण लहेइ ।।४९।।

भावार्थ—जैसा यह मन इन्द्रियो के विषयो में रमता है, वैसा यदि अपने आत्मा के अनुभव मे रम जावे तो योगेन्द्र देव कहते हैं कि हे योगी ! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेवे ।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु वि को वि मुणेइ ।
जो पुण्ण वि पाउ विभणइ सो बुह को वि हवेइ ।।७०।।

भावार्थ—जो पाप है सो पाप है ऐसा तो सब कोई मानते हैं । परन्तु जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है, आत्मा का बाधक कहता है ऐसा बुद्धिमान कोई ही होता है ।

जइ बंधउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु ।
सहजसरूवि जइ रमइ तो पावइ सिव संतु ।।८६।।

भावार्थ—जो कोई ऐसा विकल्प करता है कि मैं बन्धा हू मुझे मुक्त होना है वह अवश्य बन्ध को प्राप्त होता है । जो कोई सहज आत्म स्वरूप में रमण करता है वही परम शान्त मोक्ष को पाता है ।

सम्माइट्ठीजीवडह दुग्गइगमणु ण होइ ।
जइ जाइ वि तो दोस ण वि पुव्वक्किउ खवणेइ ।।८७।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव का दुर्गति में गमन नही होता है यदि पूर्वबद्ध आयु कर्म के योग से दुर्गति जावे भी तो दोष नहीं है, वह पूर्वकृत कर्मों का नाश ही करता है ।

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहुववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ।।८८।।

भावार्थ—जो सर्व व्यवहार को छोड़कर एक आत्मा के स्वरूप में रमण करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वह शीघ्र भवसागर से पार हो जाता है।

जो सम्मत्तपहाणु वुहु सो तयलोय पहाणु ।
केवलणाण वि सहु लहई सासयसुक्खणिहाणु ।।९०।।

भावार्थ—जो पण्डित सम्यग्दर्शन में प्रधान हैं वह तीन लोक में प्रधान है। वह शीघ्र ही अविनाशी सुख के निधान केवल ज्ञान को झलका लेता है।

जे सिद्धा जे सिज्झसिहि जे सिझहि जिण उत्तु ।
अप्पादंसण ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ।।१०६।।

भावार्थ—जो सिद्ध हुए हैं व जो सिद्ध होंगे व जो सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मा के दर्शन से ही—निश्चय सम्यक्दर्शन से ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इसी बात को बिना किसी भ्रान्ति के जान।

(१६) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं :—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे ।
तत्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ।।३।।

भावार्थ—जन्म जरा मरण के ताप से दुःखी भव्य जीवों को मोक्ष का सुख प्राप्त हो जावे इसलिये सर्वज्ञ ने हेय और उपादेय ऐसे दो तत्व बताए हैं।

बन्धो निबन्धनम् चास्य हेयमित्युपदर्शितम् ।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ।।४।।

भावार्थ—कर्म बन्ध और उसका कारण हेय तत्व या त्यागने योग्य तत्व कहा गया है क्योंकि ये ही दोनो त्यागने योग्य सांसारिक दुःख तथा सुख के बीज हैं।

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ।।५।।

भावार्थ—मोक्ष और उसका साधन उपादेय तत्व या ग्रहण करने

योग्य तत्व कहा गया है क्योंकि इसी ही से उपादेय मोक्ष सुख का प्रकाश होगा।

तत्र बन्धः सहेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परं ।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

भावार्थ—राग द्वेषादि कारणों से तो जीव का और कर्म वर्गणाओं का परस्पर सम्बन्ध होना सो बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग से चार प्रकार का प्रसिद्ध है।

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

भावार्थ—बन्ध के हेतु संक्षेप से मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्र हैं। इससे अधिक जो कुछ कहना है सो इन ही का विस्तार है।

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥२४॥

भावार्थ—मोक्ष का साधन जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता को कहा है। इसीसे नवीन कर्मों का संवर होता है व पुरातन कर्मों की निर्जरा होता है।

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनम् स्मृतं ॥२५॥

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन नव पदार्थों का जैसा स्वरूप श्री जिनेन्द्र ने कहा है वे उसी ही तरह हैं। ऐसी श्रद्धा उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरं ।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

भावार्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश छः प्रकार द्रव्य कहा गया है। उनमें ध्यान करने योग्य एक शुद्ध आत्मा ही है।

कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनेकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

भावार्थ—कर्मों के बन्ध क्षय हो जाने पर मुक्त आत्मा एक समय में ही स्वभाव से ऊपर को जाता है और लोक शिखर पर विराजमान हो जाता है।

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥२३२॥

भावार्थ—संसार अवस्था में कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के आकार में संकोच या विस्तार होता था, मुक्त होने पर संकोच विस्तार के कारण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के प्रदेशों का संकोच विस्तार नहीं होता है। जैसा अन्तिम शरीर से आत्मा होता है वैसा आकार सिद्ध भगवान का स्थिर रहता है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ—जब सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप में ही ठहरता है जैसे रत्न के भीतर से संसर्ग प्राप्त मल उसके हेतुओं से निकल जाने पर रत्न अपने स्वभाव में चमकता है।

(१७) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं :—

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मों से मलीन है, उन कर्मों के द्वारा जिन विभावों में यह परिणमन करता है उनका यह जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ—जीव के राग द्वेषादि विभावों के निमित्त होते हुए अन्य कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

भावार्थ—यह जीव आप ही अपने ही चैतन्यमयी रागादि भावों से जब परिणमन करता है तब वहां पुद्गल कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है। रागादि नैमित्तिक भाव हैं, जीव के स्वभाव नहीं है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजं ।।१४।।

भावार्थ—इस तरह जो कर्मों के निमित्त से रागादि भाव होते हैं उनका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। निश्चय से आत्मा उनसे भिन्न है तो भी अज्ञानी जीवो को यही प्रतीति में आता है कि ये रागादि भाव जीव के ही हैं, यही प्रतिभास अज्ञान है और संसार भ्रमण का कारण है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।।२२।।

भावार्थ—जीव और अजीव आदि तत्वों का श्रद्धान विपरीत अभिप्राय रहित यथार्थ रूप से रखना चाहिये यही व्यवहार सम्यक्त है, निश्चय से यह सम्यक्त आत्मा का स्वभाव है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

भावार्थ—जब साधक के रत्नत्रय की भावना पूर्ण नहीं होती है, जब जो कर्मों का बन्ध होता है उसमें रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है, वह बन्धकारक नही है। उस समय जो रत्नत्रय भाव का विरोधी रागांश होता है वही बन्ध का कारण है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१२।।

भावार्थ—जितने अंश सम्यग्दर्शन होता है उतने अंश से बन्ध नहीं होता है। उसी के साथ जितना अंश राग का होता है उसी राग के अंश से बन्ध होता है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।।२१५।।

भावार्थ---योगों से प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध होता है, कषायों से स्थिति बन्ध व अनुभाग बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र न योग रूप हैं, न कषाय रूप हैं। इससे रत्नत्रय बन्ध के कारण नहीं हैं।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य नाटक समयसार कलश में कहते हैं :—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तुनः ।।६-१।।

भावार्थ---शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपने इस आत्मा को जो अपने एक द्रव्य स्वभाव में निश्चल है, अपने स्वरूप में व्याप्त है व पूर्ण ज्ञान समूह है। सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना या अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। नियम से यही निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, आत्मा में व्यापक है, आत्मा जितना है उतना ही उसका गुण सम्यग्दर्शन है। इसलिये नव पदार्थों की परिपाटी के विचार को छोड़कर हमें एक अपना आत्मा ही ग्रहण योग्य है।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो ।
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४-३।।

भावार्थ---व्याप्य व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है अतत् स्वरूप में नही होता है। अर्थात् गुण गुणी मे ही होता है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्यापकपना नहीं होता है। इसलिये जीव का पुद्गल के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है। ऐसे दृढ़ भेद विज्ञान रूपी महान तेज के भार से जब अन्तरंग का अज्ञान मिट जाता है अर्थात् अज्ञान से जो आत्मा को पुद्गल का व रागादि का कर्ता मानता था वह अज्ञान चला जाता है तब यह सम्यग्दृष्टी जीव ज्ञानी होता हुआ पर भाव के कर्तापने से रहित ही शोभता है। ज्ञानी को तब दृढ़ निश्चय हो जाता है कि आत्मा मूल स्वभाव से पुद्गलका व रागादिका कर्ता नहीं है। रागादि भाव नैमित्तिक भाव हैं—आत्मा स्वभाव से कर्ता नही है।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ।।११—३।।

भावार्थ—आत्मा अपने भावो को करता है, पर पदार्थ पर भावो को करता है, सदा का यह नियम है। इसलिए आत्मा के जितने भाव हैं वह आत्मारूप ही हैं। पर के जितने भाव हैं वे पररूप ही हैं।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।१७— ३।

भावार्थ—आत्मा ज्ञानमय है, स्वय ज्ञान ही है तब वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा। यह आत्मा पर भावो का कर्ता है,यह व्यवहारी जीवो का कहना मात्र है। व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने अशुभ भाव किए व शुभ भाव किए। निश्चय से ये सब भाव मोहकर्म के निमित्त से हुए हैं। आत्मा तो मात्र अपने शुद्ध भाव का ही कर्ता है।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।२२—३।।

भावार्थ---ज्ञानी के सब ही भाव ज्ञान द्वारा किए हुए ज्ञानमयी ही होते हैं। अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा किएहुए अज्ञानरूप ही होते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी के विषयभोग सम्बन्धी भाव भी ज्ञान की भूमिका मे ही हैं जबकि अज्ञानी मिथ्यादृष्टी के व्रत व तप के भाव भी अज्ञान की भूमिका में अज्ञानमयी हैं।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः।।४-४।।

भावार्थ---सर्वज्ञो ने कहा है कि सर्व ही शुभ व अशुभ क्रियाकाण्ड सामान्य से बन्ध का ही कारण है इसलिए सर्व ही त्यागने योग्य है। एक शुद्ध वीतराग आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल ।
प्रवृत्ते नैःकर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं ।
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ।।५—४।।

भावार्थ—मोक्ष मार्ग में शुभ कर्म व अशुभ कर्म दोनों का निषेध होने पर भी मुनि इन कर्मों से रहित अवस्था में प्रवृत्ति करते हुए अशरण नहीं होते हैं। आत्मज्ञान का ज्ञान में वर्तना यही उनके लिए शरण है। वे मुनि आत्मानुभव में लीन रहते हुए परम आनन्दामृत का स्वाद निरन्तर लेते हैं—निष्कर्म आत्मध्यान ही मोक्ष मार्ग है।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७—४॥

भावार्थ—आत्मज्ञान के स्वभाव से वर्तना सदा ही ज्ञान में परिणमन करना है क्योंकि वहां एक आत्मद्रव्य का ही स्वभाव है इसलिए यही मोक्ष का साधन है। जब आत्मा आत्मा में ही वर्तता है—आत्मस्थ हो जाता है तब ही मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८—४॥

भावार्थ - जब यह जीव पुण्य व पापकर्म में वर्तता है तब वहां आत्मज्ञान में वर्तन नहीं है। परद्रव्य के स्वभाव में रमण करने के कारण कर्म में वर्तना मोक्षमार्ग नहीं है।

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं।५-६॥

भावार्थ—शुद्धात्मा का अनुभव होने से साक्षात् कर्मों का आना रुक जाता है, संवर हो जाता है। यह शुद्धात्मानुभव भेदविज्ञान से होता है इसलिए भेदविज्ञान की भावना उत्तम प्रकार से करनी चाहिए। आत्मा को सर्व रागादि से व कर्मादि से भिन्न मनन करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥४—७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी के भीतर नियम से आत्मज्ञान की तथा वैराग्य की शक्ति पैदा हो जाती है वह अपने स्वरूप की प्राप्ति व पर स्वरूप से मुक्ति के लिए अपने वस्तु-स्वभाव की अनुभूति का प्रेमी हो जाता है क्योंकि उसने आत्मा को व अनात्मा को तत्वदृष्टि से अलग-अलग जान लिए हैं। इसलिए वह सर्व ही राग के कारणों से विरक्त रहता हुआ अपने आत्मा के स्वभाव में विश्राम करता है।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥२२-७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव बड़े साहसी होते हैं। ऐसा वज्रपात पड़े कि जिसके होते हुए भयभीत हो तीन लोक के प्राणी मार्ग से भाग जावें तौ भी वे सम्यक्ती महात्मा स्वभाव से निर्भय रहते हुए सर्व शंकाओं को छोड़कर तथा अपने आपको अविनाशी ज्ञान शरीरी जानते हुए आत्मीक अनुभव से व आत्मज्ञान से कभी पतित नहीं होते हैं।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्॥
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥२७-७॥

भावार्थ—प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं। निश्चय से इस आत्मा का प्राण ज्ञान है। वह स्वयं ही नित्य है। उसका कभी नाश होता ही नहीं तब उस ज्ञान प्राण का मरण कभी नहीं हो सकता इसलिए ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता है। वह निःशंक रहता हुआ सदा ही स्वयं अपने सहज ज्ञान का स्वाद लेता है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥६—८॥

भावार्थ— सर्व को नियम से सदा ही अपने ही पाप पुण्य कर्मों के उदय से दुःख तथा सुख होता है। दूसरे ने दूसरे को मार डाला, जिलाया, या दुःखी तथा सुखी किया ऐसा मानना अज्ञान है। जब तक अपने आयु कर्म का छेद नहीं होता, मरण नहीं हो सकता। अपने ही साता असाता के उदय से सुख दुःख होता है।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मा-
नमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष,
नास्तीह येषां यतयस्त एव॥१०—८॥

भावार्थ—यह आत्मा अन्य सर्व जगत के पदार्थों से भिन्न है तौ भी जिस अज्ञान के प्रभाव से यह अपने को जगत के पदार्थों के साथ अपना-पंना मानता है उस अज्ञान का मूल कारण मोह का उदय है। जिन महात्माओं के भीतर यह पर को अपना मानने का खोटा अभिप्राय नहीं होता है वे ही सच्चे यति हैं।

न जातुरागादिनिमित्तभाव-
मात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तु-
स्वभावोऽयमुदेति तावत्॥१३—८॥

भावार्थ—यह आत्मा अपने से कभी रागादि भावों में परिणमन नहीं कर सकता। जैसे स्फटिक मणि अपने से ही लाल, पीली, काली नहीं होती। जैसे स्फटिक को लाल, पीली काली कान्तिवाली दीखने में लाल, पीले, काले डाक की संगति का दोष है वैसे आत्मा में रागद्वेषादि विभावों में परिणमने में मोहनीय कर्म के उदयका दोष है। अकेले आत्मा में कभी रागादि नहीं होते हैं।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी॥८-६॥

भावार्थ—जो परभाव या पर पदार्थ को अपनाता है वह अपराधी आत्म-भावना से पतित होता हुआ अनन्त कर्मवर्गणाओं से बन्धता है। परन्तु जो अपराधी नहीं हैं, स्वात्मा मे ही आत्मापने का अनुभव करत है, वह कभी भी बन्ध को नहीं प्राप्त होता है। अपराधी सदा अपने को अशुद्ध ही भजता है जब कि निरपराधी भले प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप की आराधना करता हुआ अबन्ध रहता है।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६-१०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी न तो रागादि कर्मों को करता है न उनको भोक्ता है—वह मात्र उनके स्वभाव को जानता ही है। वह कर्ता व भोक्ता अपने स्वभावरूप शुद्ध भावो का ही है। परभाव तो कर्मजन्य हैं, उनका कर्ता भोक्ता नही होता है। कर्ता भोक्तापना न करता हुआ व मात्र जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव में निश्चल रहता हुआ अपने को पर से मुक्तरूप ही अनुभव करता है।

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणेव।
संचेतयेऽहमचलं चेतन्यात्मानमात्मानं ॥३७-१०॥

भावार्थ—कर्म रूपी विष वृक्षों के फल मेरे भोगे बिना ही गल जाओ। मैं तो अपने ही निश्चल एक चैतन्य भाव को ही भोगता हूँ। ज्ञानी ऐसा मनन करता है।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलं॥४८-१०॥

भावार्थ—जो व्यवहार क्रियाकाण्ड में ही मूढता से मग्न हैं वे मानव परमार्थ स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव नही कर सकते। जिनको चावलों की भूसी में ही चावलों का ज्ञान है वे तुषो को ही पावेंगे। उनके हाथ में कभी चावल नही आ सकते हैं। व्यवहार धर्म केवल बाहरी सह-

कारी है। आत्मानुभव ही परमार्थ धर्म है। जो परमार्थ धर्म का अनुभव करते हैं वे ही शुद्धात्मा को पाते हैं।

(१६) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं—

जीवाजीवपदार्थतत्वविदुषो बन्धास्रवो रुन्धतः।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिश्रियं कांक्षतः ॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो ॥४॥

भावार्थ—सम्यक्ती ऐसी भावना भाता है कि हे प्रभो ! मैं जीव और अजीव पदार्थों के स्वरूप को ठीकर जानता रहूं, बन्ध और आस्रवों को रोकता रहूं, निरन्तर संवर और निर्जरा को करता रहूं, मुक्ति रूपी लक्ष्मीकी आकांक्षा रखता रहूं,तथा शरीरादि से निश्चय से मेरा परमात्मा स्वरूप शुद्ध तथा भिन्न है ऐसा अनुभव करता रहूं। इस तरह शुद्ध मन से धर्मध्यान और समाधिभाव में मेरे जीवन का काल व्यतीत होवे।

नरकगतिमशुद्धैः सुन्दरैः स्वर्गवासं।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥७८॥

भावार्थ—अशुभ भावों से नरक गति होती है, शुभ भावों से स्वर्गवास होता है, कर्मरहित यह जीव शुद्ध भावों से प्रशंसनीय शिव पद को प्राप्त करता है यह बात प्रगट है, तब जो मोक्ष पद की कांक्षा करते हैं उनको चैतन्य को पोषने वाले परिणामों के द्वारा शुद्ध भावों को ही रखना योग्य है। शुभ व अशुभ भावों से विरक्त होना उचित है।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥
न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवं रोप्यमाणै-
र्विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ॥८४॥

भावार्थ—जो कोई बाहरी इन्द्रिय भोगों के लिये तप करता है वह बाहरी ही पदार्थों को पाता है। जो कोई आत्मा के विकास के लिये तप करता है वह शीघ्र ही पवित्र आत्मा को ही पाता है। कोदवों के बोने से कदापि चावल प्राप्त नहीं हो सकते ऐसा जानकर प्रवीण बुद्धिवालों को आत्मा के हित में उद्यम करना योग्य है।

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः ।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं ।।
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः ।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनं ।।१०२।।

भावार्थ—संसारी प्राणियों को पूर्व बांधे हुए कर्मों के उदय के अनुकूल सुख तथा दुःख होता है। मेरे मन में उनमें राग व द्वेष कदापि भी नहीं प्रगट होता है। इस तरह जो कोई जानकर उन सुख व दुख के होने पर समभाव को रखता है वह बुद्धिमान पूर्व संचित कर्मों को क्षय करता है और नवीन कर्मों को एकत्र नहीं करता है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं ।
मुक्तिं नित्यनिरन्तरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जितां ।।
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते ।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ।।८१।।

भावार्थ—यह ससार नाना उपद्रवों से भरा है, अत्यन्त मलीन है। आकुलताओं का घर है, इसमें स्वस्थपना नहीं है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर श्रेष्ठ आत्मीक सुख से पूर्ण है और सब आपत्तियों से रहित है इस बात को कोई कषाय से मोहित बुद्धिवाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई बुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोड़ कर इस असार संसार में किस तरह राग करेगा ?

(२०) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं—

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परं ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ।।२७।।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टी ऐसा विचार करता है कि जिन २ का संयोग मेरे साथ चला आया है वे सब भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म मुझ से भिन्न हैं। उनका मोह छोड़ देने से मैं मुक्तरूप ही हूं ऐसी मेरी बुद्धि हैं।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैंने राग द्वेष के त्याग रूप साम्यभाव महामन्त्र से शुभ व अशुभ कर्म रूपी दुष्ट राक्षसों को कील दिया है तब वे मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। जब मैंने समता भाव धारण किया है तब पुण्य, पाप कर्म उदय में आकर अपना फल भी दे तो भी मैं उनसे आकुलित नहीं हो सकता हूं।

(२१) पद्मनन्दि मुनि देशव्रतोद्योतन अधिकार में कहते हैं—

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने ।
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ॥
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥२॥

भावार्थ—इस जगत में वह प्राणी जो निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी निश्चल बुद्धि रखता है कदाचित् पूर्व पाप कर्मो के उदय से दुःखित भी हो और अकेला भी हो तो भी प्रशंसा के योग्य है। इसके विरुद्ध मिथ्या-दर्शन में रहने वाले अनेक उन प्राणियो की कोई प्रशसा नहीं है, जो धन सम्पदा से सुखी हैं परन्तु अत्यन्त आनन्द देने वाला सम्यग्दर्शनमयी आत्मीक मोक्ष मार्ग से दूर रहने वाले हैं।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः ।
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ॥
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः ।
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३॥

भावार्थ—मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है। संसार रूपी वृक्षका बीज मिथ्यादर्शन है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है। जब ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जावे तो मोक्ष के इच्छुक पण्डितो को योग्य है कि वे उस

सम्यग्दर्शन की रक्षा का यत्न करते रहें। पाप कर्मों से घिरा हुआ यह प्राणी चौरासी लाख योनि सहित इस संसार में भ्रमता रहता है तब कहीं दीर्घकाल जाने पर बड़े भाग्य से किसी प्राणी को कभी इस सम्यग्दर्शन का लाभ होता है।

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चय पंचाशत् में कहते हैं :—

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरं ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी विचारता है कि कर्मों के द्वारा प्राप्त बाहरी परिग्रह आदि उपाधि का समूह तो दूर ही रहो—शरीर, वचन और विकल्पों का समूह मन भी मुझसे भिन्न हैं क्योंकि निश्चय से मैं परम शुद्ध हूं। तब ये सब मेरे कैसे हो सकते हैं ?

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी विचारता है कि आठ कर्म मुझसे भिन्न है तब उनके उदय से जो सुख दुःख कार्य होता है वह भी मुझसे भिन्न है। मोही मिथ्यात्वी प्राणी ही सुख में हर्ष व दुःख में शोक करता है, सम्यग्दृष्टी ऐसा कभी नहीं करता है।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालं ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥२९॥

भावार्थ—आठ कर्म जैसे अपना स्वरूप नहीं है वैसे उन कर्मों का कार्य सुख दुःखादि कल्पना जाल भी मेरा स्वरूप नहीं है। जो इनमें आत्म बुद्धि नहीं रखता है वही मुमुक्षु आत्मा सुखी है।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :—

कषायातपतप्तानां विषयामयमोहिनाम् ।
संयोगयोगखिन्नानां सम्यक्त्वं परमं हितं ॥३८॥

भावार्थ—जो प्राणी कषायके आताप से तप्त हैं, इन्द्रियों के विषयों के रोग से पीड़ित हैं, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग से दुःखी हैं, उन सबके लिये सम्यक् दर्शन परम हितकारी औषधि है।

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ।।३९।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना भी अच्छा है किन्तु सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग में रहना भी सुखदाई नहीं है। क्योंकि जहाँ आत्म ज्ञान है वहीं सच्चा सुख है।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शंकादिमलवर्जितं ।
संसारदुःखदारिद्र्य नाशयेत्सुविनिश्चितम् ।।४०।।

भावार्थ—शंका कांक्षा आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है। जिसके पास यह रत्न होता है उसका संसार दुःख रूपी दारिद्र निश्चय से नष्ट हो जाता है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ।।४१।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित जीव को अवश्य निर्वाण का लाभ होगा। मिथ्यादृष्टी जीव सदा ही संसार में भ्रमण करता रहेगा।

पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ।।४२।।

भावार्थ—जिसका भाव सम्यग्दर्शन में दृढ़ है और जो सदाचारी है वही पण्डित है, वही विनयवान है, वही धर्म ज्ञाता है, वही ऐसा मानव है जिसका दर्शन दूसरों को प्रिय है।

सम्यक्त्वादित्यसम्पन्न कर्मध्वान्तं विनश्यति ।
आसन्नभव्यसत्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ।।४९।।

भावार्थ—सम्यक् दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से कर्मों का अन्धकार भाग जाता है। यह सम्यग्दर्शन निकट भव्यों को काल लब्धि आदि की निंटकता पर होता है।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासंगवर्जितः ।
कषायविरतेनैव भवदुःखं विहन्यते ।।५०।।

भावार्थ—जिसके भावों में सम्यग्दर्शन से शुद्धता है, व जो विषयों

के संग से रहित है, व कषायों का विजयी है वही संसार के दुःखों को नाश कर डालता है।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ।।२६७।।

भावार्थ—आत्मा व अनात्मा का विवेक सो ही प्रज्ञा है, प्राणी मात्र का हित सो ही मैत्री है, सर्व पर समान भाव समता है, दुःखियों पर दया भाव करुणा है। यदि सम्यक् दर्शन सहित इनका सेवन किया जावे तो मोक्ष-सुख का लाभ होता है।

(२४) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः ।
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदं ।।९-७।।

भावार्थ—प्रथम तो मिथ्यत्व रूप परिणाम, दूसरे अविरति रूप परिणाम, तीसरे काय के सहकारी पाचो इन्द्रियो के विषय, चौथे स्त्री कथा आदि प्रमाद भाव, पाँचवें क्रोधादि कषाय, छठे आर्त रौद्र दो अशुभ ध्यान, सातवे मन, वचन, काय की अशुभ क्रिया ये सब परिणाम प्राणियो को संसार में भयकारी पाप कर्म के आस्रव के कारण हैं।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१०-८।।

भावार्थ—जिस पुरुष के हृदय में द्वारपाली के समान विवेक बुद्धि प्रगट है उसके पाप की उत्पत्ति स्वप्न में भी नहीं होगी। विवेक से वह हितकारी प्रवृत्ति ही करता है।

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ।।११-८।।

भावार्थ—जिस समय मुनि सब कल्पनाओं के समूह को छोड़कर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में मन को निश्चल करते हैं, उसी समय मुनि महाराज को परम संवर की प्राप्ति होती है, कर्म का आना रुकता है।

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ।।१२-८।।

भावार्थ—ईर्या समिति आदि पाँच समितियां जिस वृक्ष की जड़ है, सामायिक आदि सयम जिसका स्कन्ध है, शान्त भाव रूपी जिसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं, उत्तम क्षमादि दश धर्म जिसके खिले हुए पुष्प हैं, ऐसा पूर्ण फल उत्पन्न करने वाली बारह भावनाओं से सुन्दर यह संवर रूपी महावृक्ष जगत में जयवन्त हो जिसने अपने विपक्षी आस्रव को जीत लिया है।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवं ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यंगी सुवर्णवत् ।।८-९।।

भावार्थ—यद्यपि कर्म जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं तो भी ध्यान की अग्निके स्पर्श से शीघ्र उसी तरह जल जाते हैं जैसे सुवर्ण का मैल भस्म हो जाता है और यह आत्मा सुवर्ण के समान शुद्ध हो जाती है।

तपस्त्रावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमं ।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलं
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयं।।९—९।।

भावार्थ---पवित्र आचार धारी पुण्यात्मा पुरुष प्रथम अनशनादि बाहरी तपो का अभ्यास करता है फिर अन्तरंग छः तपोंका अभ्यास करता है फिर निश्चल होकर आत्म ध्यानरूपी उत्कृष्ट तप को पालता है। इस ध्यान से चिरकाल के सचित कर्मोंको नाश कर डालता है और परमानन्द से पूर्ण ज्ञान समुद्र में मग्न हो जाता है अर्थात् केवली अरहन्त परमात्मा हो जाता है।

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणं ।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितं ।।५३-६।।

भावार्थ---यह सम्यग्दर्शन महारत्न है, सर्व लोकमें अत्यन्त शोभायमान है। यही मोक्ष पर्यन्त सुख देने को समर्थ कहा गया है।

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितं ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतं ॥५४—६॥

भावार्थ---यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है, यम और शान्त भाव का जीवन है, तप और स्वाध्याय का आधार है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

अप्येक दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतं ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥५५—६॥

भावार्थ---विशेष ज्ञान व चारित्र के न होने पर भी एक अकेला सम्यग्दर्शन ही हो तो भी प्रशसनीय है परन्तु मिथ्यादर्शन रूपी विष से दूषित ज्ञान और चारित्र प्रशसनीय नही हैं।

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकं ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजं ॥५६—६॥

भावार्थ---आचार्यों ने कहा है कि यदि सम्यग्दर्शन के साथ मे थोडा भी यम, नियम, तपादि हो तो भी वह ससार के दु खो के भार को हलका करने की औषधि है।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यंगमग्रिमं परिकीर्तितं ॥५७—६॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसको निर्मल सम्यग्दर्शन मिल गया है वह बडा पुण्यात्मा है, वह मानो मुक्त रूप ही है क्योकि यही मोक्ष का प्रधान कारण कहा गया है।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥५८—६॥

भावार्थ—इस जगत मे जो ज्ञान और चारित्र के पालने मे प्रसिद्ध महात्मा हैं वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष को नही पा सकते हैं।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रं ।

दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,
पिवत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ।।५६-६।।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत को पीओ, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज सुख का भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है, ससार समुद्र से पार करने को जहाज है, भव्य जीव ही इसको पा सकते हैं । यह पाप रूपी वृक्ष के काटने को कुठार है, पवित्र तीर्थों में यही प्रधान है तथा मिथ्यात्व का शत्रु है ।

ध्यानशुद्धि मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्क कर्मजालानि देहिनाम्।।१५-२२।।

भावार्थ— मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धि ही नहीं करती है किन्तु निश्चय से ससारी प्राणियों के कर्म के जालो को काट देती है ।

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ।।१८-२२।।

भावार्थ—मुनि के मन की शुद्धता जैसे-जैसे साक्षात् होती जाती है वैसे-वैसे भेद ज्ञान रूपी लक्ष्मी हृदय में स्थिरता से विराजती जाती है ।

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रता; ।
विदन्त्यनिर्जितस्स्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः।।३२-२२।।

भावार्थ—जो योगी शान्त भाव, शास्त्र ज्ञान तथा यम नियम को पालते हैं व जितेन्द्रिय हैं तथा प्रशसनीय व्रतो के धारी हैं वे भी यदि मन को नहीं जीतें तो आत्म स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते ।

विलीनविषयं शान्तं निःसंगे त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम्।।३३-२२।।

भावार्थ—जिन मुनियो का चित्त इन्द्रियो के विषयों से छूट गया है व जिनका मन शान्त है, परिग्रह की मूर्छा से रहित है, निर्विकार है तथा आत्मा में स्थित है, उन्ही मुनियो ने अविनाशी पद को प्राप्त किया है ।

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ।।११-२३।।

भावार्थ—मोह रूपी कीचड के चले जाने पर तथा रागादिक भावो के शान्त होने पर मुनिगण अपने आत्मा में ही परमात्मा के स्वरूप को अवलोकन करते हैं।

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः ।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥१२-२३॥

भावार्थ—मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्ति की भावना करने वाले योगियो ने महा शान्तिमय युद्ध के भीतर ज्ञान रूपी शस्त्र से राग रूपी योद्धा को गिरा दिया। बिना राग के जीते मोक्ष का लाभ कठिन है।

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥२४-२३॥

भावार्थ—रागादि के विकल्पो से रहित वीतरागी साधु ही नित्य आनन्दमयी, सुन्दर, अविनाशी, अपने आत्मा से ही प्राप्त मोक्ष रूपी लक्ष्मी को वरता है।

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥३३-२३॥

भावार्थ—जो कोई मुनि मोह के परदे को दूर कर देता है वही ज्ञान रूपी नेत्र से सर्व जगत को प्रत्यक्ष एक साथ देख लेता है।

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम्॥३५-२३॥

भावार्थ—हे आत्मन्! जिस पापी मोह-मल्ल के जीते रहते हुए यह जीव ससारी होता हुआ भ्रमता है व जिसके नाश हो जाने पर यह मोक्ष का स्वामी हो जाता है उस मोह-मल्ल को दूर कर।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१०-२४॥

भावार्थ—जब मोह की कीच सूख जाती है व रागद्वेषादि के बन्धन कट जाते हैं तब ही मानवो के हृदय में जगत से वन्दनीय समता रूपी लक्ष्मी अपना पग रखती है।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ।।२०-२४।।

भावार्थ—जो मुनि अपने आत्मा के ध्यान में लवलीन हैं उनके साम्यभाव के प्रभाव से उनके पास परस्पर वैर करने वाले क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगं ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहं२६-२४।

भावार्थ—जिस योगी का मोह क्षय हो गया है व जो क्रोधादि कलुष भावो को शान्त कर चुके हैं व जो समता भाव में आरूढ है उस योगी के निकट हिरणी तो सिंह के बच्चे को पुत्र को बुद्धि से प्यार करती है, गऊ बाघ के बच्चे को खिलाती है, बिल्ली हस के बच्चे को प्रेम से स्पर्श करती है तथा मोरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है। इसी तरह अन्य प्राणी भी जिनका जन्म से वैर होता है वे मदरहित हो वैर छोड़ देते हैं।

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनं ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ।।५-२५।।

भावार्थ—अनादि काल के मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुआ रागादि अंधकार बहुत घन है। जब जीव के भीतर ध्यानरूपी सूर्य्य प्रगट होता है तब वह अन्धकार शीघ्र ही विलय हो जाता है।

(२५) श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं—

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपः श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ।।११-८।।

भावार्थ—यह अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव भेदज्ञान के बिना कभी भी कहीं भी किसी भी तपस्वी व शास्त्रज्ञ ने नहीं पाया है। भेद ज्ञान से स्वात्मलाभ होता है।

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ।।१२-८।।

भावार्थ—जिस तरह अग्नि तृणो की राशि को क्षणमात्र में जला देती है उसी तरह भेदज्ञानी महात्मा चैतन्य स्वरूप की घातक कर्मों की राशि को क्षणमात्र में भस्म कर देता है।

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ।।१४-८।।

भावार्थ—सवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान से होती है। वह आत्मज्ञान भेदज्ञान से होता है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि वह भेदज्ञान की भावना करता रहे।

ममेति चिंतनाद् बन्धो मोचनं न ममेत्यतः ।
बन्धनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ।।१३-१०।।

भावार्थ—पर पदार्थ मेरा है इस भावना से कर्मबन्ध होता है, तथा पर पदार्थ मेरा नहीं है इस भावना से मुक्ति होती है। मम इन दो अक्षरो से बन्ध है, नमम इन तीन अक्षरो से मुक्ति है।

नास्रवो निर्ममत्वेन न बन्धोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ।।१८-१०।।

भावार्थ—पर पदार्थ मेरा नहीं है इस भावना से न अशुभ कर्मों का आस्रव होता है न उनका बन्ध होता है न कोई असयमभाव ही होता है इसलिए निर्ममत्व की सदा भावना करनी योग्य है।

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।

अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ।।६-१२।।

भावार्थ—जीवादि सात तत्वो का श्रद्धान करना व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन है। वह निःशंकितादि आठ गुण सहित होना चाहिये। उसके औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक ये तीन भेद हैं।

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेन्धनहुताशनं ।।८-१२।।

भावार्थ—अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में जो रुचि उसे निश्चय सम्यग्दर्शन तत्वज्ञानियो ने कहा है। यह सम्यग्दर्शन कर्मों के ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है।

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां ।
विशुद्धौ मोचनं तेषां बन्धो वा शुभकर्मणां ।।१४-१३।।

भावार्थ—दुःखित-क्लेशित परिणामों से दुखदायक पापकर्मों का बन्ध होता है। विशुद्ध परिणामो से उन पापकर्मों की निर्जरा होती है अथवा शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ।।२१-१३।।

भावार्थ—जब तक मुनिगण बाहरी व भीतरी परिग्रहों को नहीं त्यागते हैं तब तक उनकी चैतन्य स्वरूप में निर्मलता नही हो सकती है।

कारणं कर्मबन्धस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ।।१६-१५।।

भावार्थ—परद्रव्य की चिन्ता कर्म बन्ध करने वाली है जबकि शुद्ध आत्मद्रव्य की चिन्तामात्र कर्मों से मुक्ति देने वाली है।

(२६) पं० बनारसीदास जी नाटक समयसार में कहते हैं—

सवैया २३

भेद विज्ञान जग्यो जिन्ह के घट, सीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करे शिव मारग में, जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन ।।
सत्यस्वरूप सदा जिन्हके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकन्दन।
शान्तदशा तिनकी पहिचानि, करे करजोरि बनारसी वन्दन ।।६।।

सवैया ३१

स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित्त,
सांचे सांचे वैन कहैं सांचे जैनमती है।
काहू के विरुद्धी नांहि परजाय बुद्धी नांहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न यती हैं ।।
रिद्धिसिद्धि वृद्धी दीसे घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छिसौं अजाची लक्षपती हैं।

दास भगवन्त के उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥ ७ ॥
जाके घट प्रगट विवेक गणधर को सो,
हिरदे हरख महा मोह को हरतु है।
सांचा सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपु ही में अपनो स्वभाव ले धरतु है॥
जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलछन करतु है।
आतम सकतिसाधे ग्यान को उदो आराधे,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥ ८ ॥
शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार माहि,
नव तत्वरूपो पंच द्रव्य में रहत है॥
पच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखे,
सम्यक दरस यह और न गहत है।
सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है॥ ७ ॥

कवित्त

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकितरूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल॥
पुद्गल पिण्ड भाव रागादिक, इनसो नही तिहारो मेल।
ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥१२॥

सवैया ३१

धर्म में न संशै शुभ कर्म फल की न इच्छा,
अशुभ को देखि न गिलानि आने चित्त में।
सांचि दृष्टि राखे काहू प्राणी को न दोष भाखे,
चंचलता भानि थिति ठाणे बोध वित्त में॥
प्यार निज रूप सो उच्छाह की तरग उठे,
एह आठो अंग जब जागे समकित में।
ताहि समकित कों धरें सो समकितवन्त,
वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इतमें ॥५६॥

जब लग जीव शुद्ध वस्तुकों विचारे ध्यावे,
तब लग भोग सों उदासी सरवंग है।
भोग में मगन तब ज्ञान की जगन नांहि,
भोग अभिलाष की दशा मिथ्यात अंग है।।
ताते विषै भोग में मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सो उदासिसों समकित अभग है।
ऐसे जानि भोग सों उदासि व्है सुगति साधे,
यह मन चंग तो कठोठी मांहि गग है।।१२।।
जिन्हके सुमति जागी भोग सों भए विरागी,
परसंग त्यागि जे पुरुष त्रिभुवन में।
रागादिक भावनिसो जिन्ह की रहनि न्यारी,
कबहू मगन व्है न रहे धाम धन में।।
जे सदैव आपको विचारे सरवंग शुद्ध,
जिन्हके विकलता न व्यापे कछु मन में।
तेई मोक्ष मारग के साधक कहावे जीव,
भावे रहो मन्दिर में भावे रहो बन में।।१६।।

सवैया २३

जो कबहूँ यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे।
सम्यक् धार प्रवाह व्है गुण, ज्ञान उदै मुख उरध धावे।।
तो अभिअन्तर दवित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे।। ४।।
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञानकला जिनि पाई।
जो, अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसो जु पराई।।
उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई।। ५ ।।

सवैया ३१

जाके परकाश में न दीसे राग द्वेष मोह,
आस्रव मिटत नहि बन्ध को तरस है।
तिहुँ काल जामें प्रतिबिम्बित अनन्त रूप,
आपहु अनन्त सत्ताऽनन्ततें सरस है।।
भावश्रुत ज्ञान परिणाम जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करे न जहा वाणी को परस है।

अतुल अखण्ड अविचल अविनासी धाम,
चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक् दरस है ॥ १५ ॥

जसे फिटकरी लोद हरडे की पुट बिना,
श्वेत वस्त्र डारिए मजीठ रंग नीर में।
भीग्या रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदे नहि अन्तर सुपेदी रहे चीर में ॥
तैसे समकितवन्त राग द्वेष मोह बिन,
रहे निशि वासर परिग्रह की भीर में।
पूरव करम हरे नूतन न बन्ध करे,
जाचे न जगत सुख राचे न शरीर में ॥ ३३ ॥

जैसे काहू देश को बसैया बलवन्त नर,
जंगल में जाई मधु छत्ता को गहत है।
वाकों लपटाय चहु ओर मधु मच्छिका पै,
कम्बल की ओट में अडंकित रहत है ॥
तसे समकिती शिव सत्ता को स्वरूप साधे,
उदै के उपाधी को समाधिसी कहत है।
पहिरे सहज कौ सनाह मन में उच्छाह,
ठाने सुख राह उदवेग न लहत है ॥३४॥

सवैया ३१

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष,
क्रिया में मगन रहे कहे हम यती है।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भाव सों विमुख मूढ़ मती है ॥
आगम सम्भाले दोष टालें व्यवहार भाले,
पाले व्रत यद्यपि तथापि अविरती है।
आपको कहावे मोक्ष मारग के अधिकारी,
मोक्ष से सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगती है ॥११८॥

सवैया ३१

काक सो फिरत जाको संसार निकट आयो,
पायो जिन्हें सम्यक् मिथ्यात्व नाश करिके।

निरद्वन्द मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन्हें,
कीनी मोक्ष कारण अवस्था ध्यान धरिके ॥
सोही शुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनाशी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके।
मिथ्यामति अपनो स्वरूप न पिछाने ताते,
डोले जग जाल में अनन्त काल भरिके ॥३४॥
जाके घट अन्तर मिथ्यात अन्धकार गयो,
भयो परकाश शुद्ध समकित भानु को।
जाकी मोह निन्द्रा घटि ममता पलक फटि,
जान्यो निज मरम अवाची भगवान को ॥
जाको ज्ञान तेज बग्यो उद्दिम उदार जग्यो,
लग्यो सुख पोष समरस सुधा पान को।
ताही सुविचक्षण को संसार निकट आयो,
पायों तिन मारग सुगम निरवाण को ॥३९॥
जाके हिरदे में स्यादवाद साधना करत,
शुद्ध आतम को अनुभौ प्रगट भयो है।
जाके संकल्प विकलप के विकार मिटि,
सदाकाल एक भाव रस परिणयो है ॥
जाते बन्ध विधि परिहार मोक्ष अंगीकार,
ऐसो सुविचार पक्ष सोउ छांडि दियो है।
जाकी ज्ञान महिमा उद्योत दिन दिन प्रति,
सो ही भवसागर उलंघि पार गयो है ॥४०॥

(२७) पं० द्यानतराय जी द्यानत विलास में कहते हैं :—

छप्पै

नमौं देव अरहन्त अष्ट दश दोष रहित हैं।
बन्दौ गुरु निरग्रन्थ, ग्रन्थ ते नाहिं गहत हैं ॥
बन्दौ करुना धर्म, पापगिरि दलन वज्र वर।
बन्दौ श्री जिन वचन, स्यादवादांक सुधाकर ॥
सरधान द्रव्य छह तत्वको, यह सम्यक बिवहार मत।
निहचै बिसुद्ध आतम दरव, देव धरम गुरु ग्रन्थ जुत ॥६२॥

सवैया ३१

जीव जैसा भाव करै तैसा कर्म बन्ध परै,
तीव्र मध्य मन्द भेद लीने विस्तार सो।
बन्धे जैसा उदय आवै तैसा भाव उपजावै,
तैसो फिर बन्धे किम छूटत ससार सों॥
भाव सारू बन्ध होय बन्ध सारू उदय जोय,
उदयभाव भवभंगी साधी बढवार सों।
तीव्र मन्द उदै तीव्र भाव मूढ धारत हैं,
तीव्र मन्द उदै मन्द भाव हो विचार सों॥३६॥

कवित्त

जीवादिक भावन की सरधा, सो सम्यक निज रूप निहार।
जा विन मिथ्या ज्ञान होत है, जा विन चारित मिथ्या धार॥
दुरनय को परवेश जहाँ नहिं, संशय विभ्रम मोह निवार।
स्वपर स्वरूप यथारथ जानै, सम्यग्ज्ञान अनेक प्रकार॥४६॥

सवैया ३१

इष्ट अनिष्ट पदारथ जे जगतमांहि,
तीने देख राग दोष मोह नाही कीजिये।
विषय सेती उचटाइ त्याग दीजिये,
कषाय चाह दाह धोय एक दशामांहि भीजिये॥
तत्व ज्ञान को सम्भार समता सरूप धार,
जीत के परीसह आनन्द सुधा पीजिये।
मन को सुवास आनि नाना विध ध्यान ठानि,
आपनी सुवास आप आपमांहि भीजिये॥५१॥
जीव और पुद्गल धरम अधरम व्योम,
काल एई छहों द्रव्य जग के निवासी है।
एक एक दरव मैं अनन्त अनन्त गुण,
अनन्त अनन्त परजाय के विकासी है॥
अनन्त अनन्त सक्ति अजर अमर सबै,
सदा असहाय निज सत्ता के विलासी हैं।
सर्व दर्व गेय रूप पर भाव हेय रूप,
सुद्ध भाव उपादेय याते अविनासी है॥१००॥

ग्रन्थन के पढ़ें कहा पर्वत के चढ़े कहा,
कोटि लच्छि बढ़े कहा कहा रंकपन में।
संजम आचरें कहा मौन व्रत धरे कहा,
तपस्या के करे कहा कहा फिरें बन में॥
छन्द करें नये कहा जोगासन भये कहा,
दानहू के दये कहा बैठे साधुजन में।
जौलौं ममता न छूटै मिथ्या डोरी हू न टूटै,
ब्रह्म ज्ञान बिना लीन लोभ की लगन में॥५५॥

सवैया २३

मौन रहैं वनवास गहैं, वर काम दहैं जु सहैं दुख भारी।
पाप हरें सुभ रीति करें, जिन वैन धरे हिरदे सुखकारी॥
देह तपै बहु जाप जपै, न वि आप जपै ममता विसतारी।
ते मुनि मूढ करें जगरूढ, लहैं निज गेह न चेतन धारी॥५६॥

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास में कहते हैं :—

सवैया ३१

भौथिति निकन्द होय कर्म बन्ध मन्द होय,
प्रगटै प्रकाश निज आनन्द के कन्द को।
हित को दृढ़ाव होय विनैको बढ़ाव होय,
उपजै अकूर ज्ञान द्वितीया के चन्द को॥
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करै मोह फन्द को।
सुख भरपूर होय दोष दुःख दूर होय,
यातैं गुण वृन्द कहैं सम्यक सुछन्द को॥८॥

सवैया २३

जीव अकर्ता कह्यो परको, परको करता पर ही पर ही परवान्यो।
ज्ञान निधान सदा यह चेतन, ज्ञान करै न करै कछु आन्यौ॥
ज्यों जग दूध दही घृत तक्रकी, शक्ति धरै तिहुँ काल बखान्यो।
कोऊ प्रवीन लखै दृग सेति सु, भिन्न रहै वपुसों लपटान्यो॥२३॥

सवैया ३१

केवल प्रकाश होय अन्धकार नाश होय,
ज्ञान को विलास होय और लों निवाहवी।
सिद्ध में सुवास होय, लोकालोक भास होय,
आपु रिद्ध पास होय और की न चाहवी ॥
इन्द्र आय दास होय अरिन को त्रास होय,
दर्व को उजास होय इष्टनिधि गाहिवी।
सत्व सुखराश होय सत्य को निवास होय,
सम्यक भये तें होय ऐसी सत्य साहिवी ॥६१॥

सवैया २३

जाके घट समकित उपजत है, सो तौ करत हंस की रीत।
क्षीर गहत छांडत जल को संग, बाके कुल की यहै प्रतीत ॥
कोटि उपाय करो कोउ भेदसों, क्षीर गहै जल नेकु न पीत।
तैसे सम्यकवन्त गहै गुण, घट घट मध्य एक नवनीत ॥६२॥
सिद्धसमान चिदानन्द जानि के, थापत है घट के उर बीच।
वाके गुण सब वाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ॥
ज्ञान अनन्त विचारत अन्तर, राखत है जिय के उर सीच।
ऐसें समकित शुद्ध करतु है, तिनतें होवत मोक्ष मगीच ॥६३॥
नर सम्यकवंत करै अनुभव, नित आतम सों हित जोड़न को।
परमारथ साधि यहै चितवै, विषया सुख सों मन मोडन को ॥
घट में समता प्रगटी तिहतें, न डरै लखि कर्म झकोरन को।
निज शुद्ध सरूपहि ध्यावत है, तब ध्यावत है शिव तोरन को ॥६४॥

कवित्त

मिथ्या भाव जौलो तौलों भ्रम सो न नातो टूटै,
मिथ्या भाव जौलो तौलों कर्म सों न छूटिये।
मिथ्याभाव जौलों तौलों सम्यक न ज्ञान होय,
मिथ्या भाव जौलों तौलों अरि नाहि कूटिये।
मिथ्या भाव जौलों तौलों मोक्ष को अभाव रहै,
मिथ्या भाव जौलों तौलों परसंग जूटिये।

मिथ्या को विनाश होत प्रगटै प्रकाश जोत,
सूधो मोक्ष पन्थ सूधै नेकु न अझूटिये ।।१२।।

सवैया ३१

बापुरे विचारे मिथ्यादृष्टि जीव कहा जानें,
कौन जीव कौन कर्म कैसें के मिलाप है।
सदा काल कर्मनसों एकमेक होय रहे,
भिन्नता न भासी कौन कर्म कौन आप है ।।
यह तो सर्वज्ञ देव देख्यो भिन्न भिन्न रूप,
चिदानन्द ज्ञानमयी कर्म जड़ व्याप है ।
तिहूँ भांति मोह हीन जानें सरधानवान,
जैसे सर्वज्ञ देखो तैसो ही प्रताप है ।।१०।।

छप्पै

जैनधर्म को मर्म, दृष्टि समकितते सूझै ।
जैनधर्म को मर्म, मूढ कैसें कर बूझैं ।।
जैनधर्म को मर्म, जीव शिवगामी पावैं ।
जैनधर्म को मर्म, नाथ त्रिभुवन को गावै ।
यह जैनधर्म जग में प्रगट, दया दुहूं जग पेखिये ।
भैया सुविचक्षन भविक जन, जैनधर्म निज लेखिये ।।३।।

सवैया २३

जो जिन देव की सेव करै जग, ताजिनदेवसो आप निहारै ।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्ध विचारै ।।
आप में आप लखैं अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहूं निरवारै ।
सो जिन देव को सेवक है जिय,जो इहि भांति क्रिया करतारै।।१२।।

छप्पै

राग दोष अरु मोह, नाहिं निजमाहि निरक्खत ।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
परद्रव्यनसों भिन्न, चिन्ह चेतनपद मंडित ।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखंडित ।।
सुख अनन्त जिहि पद बसत, सो निहचै सम्यक महत ।
भैया सुविचक्षन भविक जन, श्री जिनन्द इहि विधि कहत ।।१४।।

जहाँ द्रव्य नव तत्त्व, भेद जाके सब जानै ।
दोष अठारह रहित, देव ताको परमानै ।।
संयम सहित सुसाधु, होय निरग्रंथ, निरागी ।
मति अविरोधी ग्रन्थ, ताहि मानैं परत्यागी ।।
बरकेवल भाषित धर्मधर, गुण थानक बूझै मरम ।
भैया निहार व्यवहार यह, सम्यक लक्षण जिन धरम ।।१५।।
चहुँ गति में नर बड़े, बड़े तिन में समदृष्टी ।
समदृष्टितैं बड़े, साधु पदवी उतकृष्टी ।।
साधुनतैं पुन बड़े, नाथ उवझाय कहावें ।
उवझायनतैं बड़े, पन्च आचार बतावें ।।
तिन आचार्यनतैं जिन बड़े, वीतराग तारन तरन ।
तिन कह्यो जैनवृष जगत में, भैया तस वन्दत चरन ।।२४।।

आठवां अध्याय

सम्यग्ज्ञान और उसका महात्म्य।

यह बताया जा चुका है कि यह संसार असार है, शारीरिक तथा मानसिक दुःखो का सागर है, शरीर अशुचि, क्षणभंगुर हैं, इन्द्रिय भोग अतृप्तिकारी, तृष्णावर्द्धक व नाशवन्त है। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, सुख का साधन स्वात्मानुभव है, या आत्मध्यान है। यह आत्मध्यान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की एकता रूप है। निश्चय से ये तीनों ही एक आत्मा रूप ही हैं। व्यवहार से ये भिन्न-भिन्न कहलाते हैं व निश्चय के साधन रूप से व्यवहार का बहुत विस्तार है। इन तीनों में से सम्यग्दर्शन के व्यवहार व निश्चय का कुछ स्वरूप आत्मानन्द के पिपासुओं के लिये किया जाचुका है। अब सम्यग्ज्ञान का निश्चय व्यवहार कथन इस अध्याय में किया जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन गुण आत्मा का स्वभाव है वैसे ज्ञान गुण भी आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

निश्चय से ज्ञान स्वयं सम्यक् है यथार्थ है; क्योंकि ज्ञान एक ऐसा विशेष गुण है जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पांच द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। इसीलिये वे जड़ हैं किन्तु आत्मा में पाया जाता है। वे सब अन्धकार रूप हैं। ज्ञान ही एक प्रकाश रूप है। ज्ञान का स्वभाव सूर्य के प्रकाश के तुल्य है। जैसे सूर्य एक ही क्षण में जगत के पदार्थों को प्रकाश करता है वैसे ज्ञान भी सर्व ही जानने योग्य को एक काल में प्रकाश करता है।

"सर्वं ज्ञेयं जानाति तत् ज्ञानं" जो सर्व ज्ञेयों को जाने वह ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, ज्ञायक स्वभाव है, सिद्ध शुद्ध आत्मा के सदृश ही हर एक आत्मा का स्वभाव है। प्रदेशों की भिन्नता की अपेक्षा हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है परन्तु गुण व स्वभावों की अपेक्षा परस्पर कोई अन्तर नहीं है। सर्व ही सिद्ध तथा संसारी जीव समान हैं, परमात्मा या सिद्धात्मा को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी या अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन से युक्त इसीलिये कहते हैं कि उनके ज्ञान गुण पर कोई आवरण या परदा या मैल नहीं है-वह शुद्ध है--ज्ञान दीपक के प्रकाश की तरह स्वपर प्रकाशक होता है। ज्ञान अपने द्रव्य गुणी आत्मा को भी दिखाता है व अन्य सर्व पदार्थों को भी दिखाता है।

क्रम रहित सर्व को जान लेना यह ज्ञान गुण का स्वभाव है। इसीलिये इस ज्ञान को अनुपम, अद्भुत व महान कहते हैं। जिनको ज्ञानावरण कर्म के उदय से अर्थात् क्षयोपशम से कुछ ज्ञान की शक्ति प्रगट है कुछ अप्रगट है उनको जानने का प्रयास करना होता है तब वह ज्ञान क्रम से पदार्थों को जानता है। तथापि जान लेने के पीछे धारणा में अनेक पदार्थोंका ज्ञान एक साथ अल्पज्ञानी के भी पाया जाता है। जब वह अल्प ज्ञानी उसका व्यवहार मन, वचन, काय से करता है तब वह क्रम से होता है परन्तु भण्डार में सचय तो एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान रहता है। जैसे एक पचास वर्ष का विद्वान है, जो संस्कृत और अंग्रेजी में एम० ए० है, बहुत सा पूर्वीय व पाश्चात्य साहित्य को पढ़ चुका है, वह एक साथ सस्कृत, अंग्रेजी के ज्ञान को व वैद्यक को, व्यापार को, मकान बनवाने की कला को, व्याख्यान की कला को, लिखने की कला को, तास, चौपट, सतरंज खेलने की कला को, अपने सम्बन्धियों के नामठामादि इतिहास को, जगत के इतिहास को, नाना देशों के भूगोल को, देखे हुए समझे हुए

अनेक पदार्थों के स्वरूप को, गान विद्या को, बाजा बजाने को, तैरने को, व्यायाम को, खड्ग चलाने को, रसवती बनाने को, पूजा पाठ को, आत्म ध्यान की कला को, जीवन की अनुभूत घटनाओं को इत्यादि बहुत से विषयों को एक साथ ज्ञान में भण्डार के समान रख रहा है।

यदि कोई महात्मा निमित्त ज्ञानी है, ज्योतिषी है या अवधि ज्ञानी है तो वह भविष्य की बहुत सी बातों को भी अपनी व पराई जानकर ज्ञान के भण्डार में रख लेता है। योगाभ्यास के बल से जितना जितना ज्ञान का विकास होता जाता है उतना उतना ज्ञान में त्रिकालगोचर ज्ञान का भण्डार अधिक-अधिक संचय होता है। संचित ज्ञान अक्रम ही विराज-मान रहता है। एक मति व श्रुतज्ञानी कई भाषाएँ जानता है। सस्कृत पुस्तक पढने का काम पड़ता है तब संस्कृत पढ़ने लगता है, गुजराती पढ़ने का काम पड़ता है, तब गुजराती पढने लगता है, मराठी पढ़ने का काम पड़ता है, तब मराठी पढ़ने लगता है, इग्लिश पढ़ने का काम पड़ता है तब इंग्लिश पढने लगता है। एक व्याख्याता किसी विषय पर भाषण करता है, उसने अनेक पुस्तको को पढकर एक विषय पर जो ज्ञान सचय किया है वह सब उसके ज्ञान में मौजूद है एक साथ विद्यमान है, उसी में से धीरे-धीरे वह वक्ता बहुत सा ज्ञान अपने १॥ व २ घण्टे के वक्तव्य से प्रकाशित कर देता है।

ज्ञान का प्रकाश मन द्वारा सोचने में, वचन द्वारा कहने में, कार्य द्वारा संकेत करने में अवश्य क्रम से होगा, परन्तु आत्मा के भण्डार में ज्ञान का संचय एक साथ बहुत सा रहता है यह बात हरएक प्रवीण पुरुष समझ सकता है।

यह बात भी ठीक है कि अपने अपने ज्ञान की प्रगटता के अनुसार तीन काल का ज्ञान भी किसी मर्यादा तक अल्पज्ञानियों के पाया जाता है। एक स्त्री रसोई बनाने का प्रबन्ध कर रही है, वह जानती है कि मैं क्या कर रही हूं, क्या क्या सामान एकत्र कर रही हूँ यह वर्तमान का ज्ञान है। क्या क्या सामान एकत्र कर चुकी हूं व यह सामान कैसे व कब आया था व घर में कहाँ रक्खा था, जहाँ से लाकर अब रसोई में रक्खा है। ऐसा भूतकाल का ज्ञान भी है। तथा रसोई में अमुक अमुक वस्तु बनानी है, इतनी तैयार करनी है, इतने मानवों को जिमाना है, अमुक अमुक जीमेंगे, रसोई के पीछे मुझे कपड़े सीना है, अनाज फटकना है,

पुस्तक पढ़ना हैं, अमुक के घर सम्बन्धी होने के कारण एक रोगी की कुशल पूछने जाना है, अमुक से यह यह बातें करनी हैं ऐसा बहुत सा भविष्य का ज्ञान भी है। तीन काल का एक साथ ज्ञान हुए बिना सुनार गहना नहीं घड़ सकता, थवई या इन्जीनियर मकान नहीं बना सकता, अध्यापक पढ़ा नहीं सकता, एक यात्री किसी स्थान पर पहुँच नहीं सकता। पर्वत की चोटी पर पहुँच कर एक मन्दिर के दर्शन करने हैं, मैं अमुक स्थान से चलकर यहाँ आया हूं, पर्वत का मार्ग दो घण्टे में अमुक अमुक मार्ग से तय करूँगा, यह सब ज्ञान एक साथ होता है। इस ज्ञान को लिये हुए ही वह पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है।

अल्पज्ञानी को अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार थोडा त्रिकालज्ञान होता है तब सर्वज्ञ को व अनन्त ज्ञानी को व सर्व आवरण से रहित निर्मल प्रकाशमान ज्ञान ज्योति को त्रिकालगोचर सर्व विश्व की अनन्त द्रव्यो का व उनके गुणों का व उनकी पर्यायों का ज्ञान हो जावे तौ इसमें कोई आश्चर्य की व सशय की बात नहीं है। शुद्ध ज्ञान भी यदि कुछ न जाने तौ वह ज्ञान शुद्ध ही क्या हुआ, वह तो अवश्य कुछ या उतने अश अशुद्ध हुआ जितने अश वह नही जानता है। शुद्ध ज्ञान दोपहर के सूर्य के समान विश्वव्यापी ज्ञेय को एक साथ जानता है एक साथ प्रकाश किये हुए है उसको कुछ जानना शेष नहीं रहा।

सर्वज्ञत्व की शक्ति आत्मज्ञानी में भी है। जितना जितना अज्ञान का परदा हटता जाता है उतना उतना ज्ञान का विकास या ज्ञान का प्रकाश होता जाता है, उतना २ ज्ञान उन्नति रूप या वर्द्धमान होता जाता है। एक बालक जन्मते समय बहुत अल्प जानता है; वही जितना जितना अनुभव पाता है व जितना जितना विद्या पढ़ता है उतना उतना अधिक अधिक ज्ञानी होता जाता है। उसमें ज्ञान की वृद्धि कहीं बाहर से ज्ञान का संचय करके इस तरह नही हुई है जैसे द्रव्य को दूसरों से संचय करके बढ़ाया जाता है व फंले हुए पानी को एक सरोवर में एकत्र किया जाता है। ज्ञान एक ऐसा अद्भुत गुण है जो कोई किसी को दे नहीं सकता कोई किसी से ले नही सकता। यद्यपि लोक व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि इस आचार्य ने अपने शिष्य को बहुत ज्ञान दिया शिष्य ने आचार्य से बहुत ज्ञान पाया परन्तु यह वचन केवल व्यवहार मात्र है, वास्तव में

असत्य है। यदि आचार्य ज्ञान देते तो उनका ज्ञान घटता तब शिष्य का ज्ञान बढ़ता सो ऐसा नहीं हुआ है।

आचार्य ने जब से शिष्य को पढ़ाना प्रारम्भ किया और दस वर्ष तक पढ़ाया तब तक जो कुछ पढाया, समझाया, बताया वह सब ज्ञान आचार्य में बराबर स्थिर रहा। इतना ही नहीं, समझाते समझाते बताते बताते आचार्य का ज्ञान भी बढ़ता चला गया और पढने वाले शिष्य का ज्ञान भी बढता गया। जहां देनलेन के शब्दो का व्यवहार है वहां देन लेन कुछ नही हुआ तथापि दाता व प्राप्त कर्ता दोनों में ज्ञान बढ़ गया, ऐसा क्यों हुआ ? क्यों नही एक तरफ ज्ञान घटा तब दूसरी तरफ बढ़ा।

इसका सीधासाधा उत्तर यही है कि ज्ञान का सदा विकास या प्रकाश होता हैं। गुरु के समझाने से व पुस्तको के पढ़ने से जितना-जितना अज्ञान का परदा हटता है, जितना जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना-उतना ज्ञान अधिक-अधिक चमकता जाता है। यह भी जगत में कहने का व्यवहार है कि इसने अपने ज्ञान में बहुत उन्नति की, बहुत निर्मलता की, बहुत विकास किया। उन्नति या विकास शब्द वही प्रयोग मे आते हैं जहा शक्ति तो हो पर व्यक्ति न हो। व्यक्त होने ही को प्रकाश या विकास कहते हैं। सूर्य का प्रकाश हुआ या विकास हुआ अर्थात् सूर्य में प्रकाशक शक्ति है ही उसके ऊपर से अन्धकार हटा, मेघों का परदा हटा। सूर्य का प्रकाश इधर झलका यह रत्न चमक उठा। अर्थात् रत्नपाषाण में रत्न बनने की व चमकने की शक्ति तो थी ही, उसके मल को हटाने से वह रत्नरूप से चमक उठा। तेजाब में डालने से यह सुवर्ण का आभूषण चमक उठा। अर्थात् सुवर्ण के आभूषण में चमकने की शक्ति तो थी ही उस पर मैल छा गया था। तेजाब से जितना मैल कटता गया, सुवर्ण की चमकझलकती गई।

हर एक के ज्ञान में अनन्त पदार्थों के ज्ञान की अमर्यादित शक्ति है यह कभी सीमित नहीं किया जा सकता है कि इससे आगे ज्ञान प्रकाश न करेगा। आज के विश्व में पदार्थ विद्या ने कैसा अपूर्व विकास किया है जिससे हजारों मील शब्द पहुँच जाता है। अमेरिका में बैठे हुए भारत में गाया हुआ गाना सुना जा सकता है। हवाई विमानों से लाखों मन बोझा

आकाश में जा सकता है। बिना तार के सम्बन्ध से क्षणमात्र में हजारों मील सामान पहुँच जाते हैं। पदार्थों के भीतर अद्भुत् ज्ञान है, यह ज्ञान पदार्थ वेत्ताओं को कैसे होता है!! इसका पता लगाया जायगा तो विदित होगा कि पदार्थ के खोजी एकान्त में बैठकर अपने भीतर खोजते हैं। खोजते-खोजते कोई बात सूझ जाती है उसी का प्रयोग करते हैं। उसको ठीक पाते हैं तब और सोचते हैं और नई नई बातें सूझ जाती हैं वश प्रयोग से उन बातों को जमा कर नई खोज (New invention) प्रगट करदी जाती है। जितना २ मैले वर्तन को माजा जायगा वह उतना २ चमकता जायगा। इसी तरह जितना २ इस अपने शुद्ध ज्ञान को मांजा जायगा, इसमें खोज की जायगी उतना २ ज्ञान का विकास होता जायगा। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में यदि अमर्यादित ज्ञान न हो तो ज्ञान का विकास सम्भव ही न हो।

ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है। जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है, न कम जानना है, न अधिक जानना है, न विपरीत जानना है। शुद्ध ज्ञान छहों द्रव्यों के भिन्न-भिन्न स्वभावों को जानता है मूल स्वभावो को जानता है तथा वे द्रव्य परस्पर एक दूसरे को किस तरह सहायक होते हैं यह भी जानता है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल क्रिया रहित स्थिर हैं, स्वय विभावरूप या उपाधिरूप नही परिणमते हैं—केवल द्रव्यों के हलनचलन, थिर होने, अवकाश पाने व परिवर्तन मे उदासीन रूप से सहाय करते हैं। कर्मों से ससारी जीव अनादि काल से सम्बन्धित है—कर्म पुद्गल हैं—जीव और पुद्गल में पर के निमित्त से विभाव रूप होने की शक्ति है। इससे जीवो में कर्मों के उदय से विभाव भाव, रागादि भाव, अज्ञान भाव, असयत भाव होते हैं, उन भावो के निमित्त से कर्मपुद्गल आकर जीव के कार्मण शरीर के साथ बन्ध जाते हैं। उनका बन्ध किस तरह होता है, वे क्या-क्या व किस-किस तरह अपना असर दिखलाते हैं व कैसे दूर होते हैं, जीव और कर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक क्रिया से क्या-क्या होता है इस सर्व व्यवस्था को भी शुद्ध ज्ञान जानता है।

अभिप्राय यह है कि छः द्रव्यों को, उनके सामान्य व विशेष गुणों

को, उनकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को—जगत की सर्व व्यवस्था को शुद्ध ज्ञान ठीक-ठीक जानता हैं। जैसा सूर्य का प्रकाश घटपट, नगर द्वार, गली, महल, वृक्ष, पर्वत, कंकड़, पत्थर, तांबा, लोहा, पीतल, नदी, सरोवर, झील, खाई आदि सर्व पदार्थों को—उनके आकार को जैसा है वैसा दिखलाता है वैसे शुद्ध ज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सर्व पदार्थों का सब कुछ स्वरूप जैसा का तैसा जानता है और जैसे सूर्य सर्व को प्रकाश करता हुआ भी किसी पर राग द्वेष नहीं करता है। कोई सूर्य को अर्घ चढावे तो उस पर प्रसन्न नही होता है, कोई सूर्य की निन्दा करे तो उस पर अप्रसन्न या क्रोधित नही होता है—पूर्ण समदर्शी है। अपने ताप व प्रकाश से सर्व पदार्थो को गुणकारी हो जाता है—वह कुछ विचार नही करता है कि मैं किसी को लाभ पहुँचाऊँ व हानि पहुँचाऊँ। वह तो पूर्ण वीतरागता से प्रकाश करता है। भले ही कोई लाभ मान लो व कोई हानि मान लो। उसी तरह शुद्ध ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायों को यथार्थ जानते हुए भी न किसी से राग करता है न द्वेष करता है न प्रशसा किए जाने पर उन्मत्त होता है न निन्दा किये जाने पर रुष्ट होता है। पूर्ण समदर्शी, वीतरागी, निराकुल रहता है। जैसे सर्वज्ञ वीतरागपना सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है वैसे ही सर्वज्ञ वीतरागपना हरएक आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा के स्वभाव में मोह का किंचित् भी मल नही है इसलिए आत्मा का ज्ञान जानता हुआ भी न क्रोध करता है, न मान करता है, न माया करता है, न लोभ करता है, न हास्यभाव करता है, न रति करता है, न अरति करता है, न शोक करता है, न भय करता है, न जुगुप्सा या घृणा करता है, न कोई काम का विकार करता है। वह मोह मदिरा के संयोग बिना किंचित् भी मोहित नहीं होता, दोषित नहीं होता। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ वीतरागता है, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। विभावपना, अल्पज्ञानपना ज्ञानावरण कर्म के उदय से है। रागद्वेष, मोह, मोहनीय कर्म के उदय से हैं। जितनी कुछ अन्तरंग अवस्थाएँ आत्मा की वैभाविक

होती हैं वे सब चार घातीय कर्मों के उदय से हैं। जितनी कुछ बाहरी सामग्री का सयोग आत्मा से होता है, वह चार अघातीय कर्मों के उदय से है, यह सब जानना भी सम्यग्ज्ञान है। सिद्ध परमात्मा अरहन्त केवली परमात्मा के ज्ञान में और सम्यग्दृष्टी अविरति या विरती के ज्ञान में पदार्थों के स्वरूप के जानने की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। जैसा केवली जानते हैं, वैसा स्याद्वादी श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टी भी जानता है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, स्वभाव या विभाव पर्याय की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, यह सब ज्ञान जैसा केवलीभगवान को होता है, वैसा सम्यग्दृष्टी को होता है। मात्र अन्तर यह है कि केवली भगवान शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञान से जानते हैं और यह श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष जानता है। केवलज्ञानी अधिक पर्यायों को जानते हैं। श्रुतज्ञानी कम पर्यायोंको जानता है। परन्तु जितना कुछ श्रुतज्ञानी जानता है वह केवलज्ञानी के सदृश ही, अनुकूल ही जानता है प्रतिकूल नहीं जानता है और जैसे केवलज्ञानी सर्व कुछ जानते हुए भी पूर्ण वीतराग हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टी का ज्ञान भी वीतरागभाव से जानता है, वह भी रागद्वेष बिना किये हुए अपनी व दूसरों की कर्मजनित अवस्था को वस्तु स्वरूप से जानता है इसलिए सम्यग्दृष्टी को भी ज्ञाता कहते हैं, उदासीन कहते हैं।

केवल अन्तर यह है कि सम्यग्दृष्टी दो प्रकार के होते हैं—एक वीतराग दूसरे सराग। ध्यानस्थ आत्मलीन सम्यग्दृष्टी को वीतराग कहते हैं, वह सम्पूर्ण मन, वचन, काय की क्रियाओं से विरक्त रहता हुआ उसी तरह आत्मा के आनन्द का स्वाद ले रहा है जैसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा लेते हैं। सराग सम्यक्ती मन, वचन, काय की क्रियाओं को रागपूर्वक करता है। तथापि वह इन सर्व क्रियाओं का कर्ता अपने को नहीं मानता है। आत्मा ज्ञातादृष्टा है, यही बुद्धि रखता है, कषाय के उदय से उसे व्यवहार कार्यों को अपनी २ पदवी के अनुकूल करना पड़ता है। उनको वह अपना कर्तव्य नही जानता है, कर्मोदय जनित रोग जानता है। उस सराग सम्यक्ती का ज्ञान व श्रद्धान तो वीतराग सम्यग्दृष्टी के समान है, केवल चारित्र मोह के उदय का अपराध है, उसको वह

सम्यग्दृष्टी कर्म का उदय जानता है उसे पर ही अनुभव करता है। सर्व मन, वचन, कार्य की क्रियाओ को भी पर जानता है। इसलिए वह भी पूर्ण उदासीन है।

भावना यह है कि कब यह सरागता मिटे और मैं वीतराग हो जाऊं। तत्वज्ञानी सम्यक्ती का यह ज्ञान कि मैं निश्चय से परमात्मावत् शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा हूँ, आत्मज्ञान कहलाता है। यही आत्मज्ञान परम सुखसाधन है। इस आत्मज्ञान को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसी को जिनवाणी का सार भावश्रुतज्ञान कहते हैं। इसी आत्मज्ञान में उपयोग की थिरता को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं स्वानुभव कहते हैं या आत्मध्यान कहते हैं। भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव दुईज का चन्द्रमा है, वही अभ्यास के बल से बढ़ते२ पूर्णमासी का चन्द्रमा रूप केवल ज्ञान हो जाता है। जिस रत्नत्रय से सहजसुख की सिद्धि होती है, उसमें आत्मज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए द्रव्यश्रुत द्वारा छः द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है जिसके ज्ञान के लिए परमागम का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इस शास्त्राभ्यास को व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहते हैं।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान—जिनवाणी में बहुत से शास्त्रों का सग्रह है उनको चार अनुयोगो में विभाजित किया गया है, जिनको चार वेद भी कहा जा सकता है।

प्रथमानुयोग—प्रथम अवस्था के कम ज्ञानी शिष्यो को तत्वज्ञान की रुचि कराने मे जो समर्थ हो उसको प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमें उन महान पुरुषों के व महान स्त्रियों के जीवन चरित्र हैं जिन्होने धर्म धार के आत्मा की उन्नति की है। इसमें उन चरित्रो का भी कथन है जिन्होंने पाप बांधकर दुःख उठाया है व जिन्होंने पुण्य बांधकर सुख साताकारी साधन प्राप्त किया है। इस तरह के वर्णन को पढ़ने से यह असर बुद्धि पर पड़ता है कि हमको भी धर्म का साधन करके अपना हित करना

योग्य है।

दूसरा अनुयोग **करणानुयोग** है। इसमें चार गति का स्वरूप और लोक का स्वरूप बताया है तथा जीवों की अवस्था के भेद गुणस्थान व मार्गणास्थानों का कथन है तथा कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का निरूपण है। वह सब हिसाब बताया है जिससे आत्मा की अवस्थाएँ कर्म के संयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इस ज्ञान की अध्यात्म ज्ञान के लिये बहुत आवश्यकता है। जो गुणस्थानों को समझेगा वह ठीक-ठीक जानेगा कि सम्यग्दृष्टी किस अपेक्षा बन्धक है तथा किस अपेक्षा अबन्धक है। तथा कर्म बन्ध कौन से गुणस्थान तक होता है तथा कर्मों की अवस्था कैसे बदली जा सकती है। यह आत्मज्ञान का बड़ा ही सहकारी है। कर्म पुद्गल की संगति से जीव के सर्व व्यवहार नृत्य का दिग्दर्शन इस अनुयोग से होता है।

तीसरा अनुयोग **चरणानुयोग** है—मन वचन कार्य को थिर करने के लिये स्वरूपाचरणमयी निश्चय चारित्र में उपयुक्त होने के लिये जिस जिस व्यवहार चारित्र की आवश्यकता है वह सब इस अनुयोग में बताया है। साधु का क्या चारित्र है व गृहस्थ श्रावक का क्या चारित्र है, वह सब विस्तार पूर्वक इस तरह बताया गया है कि हर एक स्थिति का मानव अपनी योग्यतानुसार उसका आचरण कर सके तथा सहज सुख का साधन करता हुआ राज कर्तव्य, देश रक्षा कर्म, वाणिज्य कर्म, कृषि कर्म, शिल्प कर्म आदि गृहस्थ योग्य आवश्यक कर्म भी कर सके, देश परदेश में नाना प्रकार वाहन द्वारा भ्रमण कर सके। लौकिक उन्नति सर्व तरह से न्यायपूर्वक करते हुए सहज सुख का साधन किया जा सके। जैसे जैसे वैराग्य बढ़े वैसे वैसे चारित्र को अधिक अधिक पाला जा सके व अधिक अधिक आत्मध्यान की उन्नति की जा सके।

चौथा अनुयोग **द्रव्यानुयोग** है—इसमें छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ का व्यवहार नय से पर्यायरूप तथा निश्चय नय से द्रव्य रूप कथन है। इसीमें शुद्धात्मानुभव की रीतियाँ बताई हैं, जीवन्मुक्त रहने का साधन बताया है, अतीन्द्रिय सहज सुख की प्राप्ति का साक्षात्

उपाय बताया है। इन चार अनुयोगों के शास्त्रों को नित्य प्रति यथा सम्भव अभ्यास करना व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन है।

जैसे सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं वैसे इस सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं। यदि आठ अंगों के साथ शास्त्राभ्यास को किया जायगा तो ही ज्ञान की वृद्धि होगी, अज्ञान का नाश होगा। तथा भावों की शुद्धि होगी, कषायों की मन्दता होगी संसार से राग घटेगा, वैराग्य बढ़ेगा, सम्यक्त की निर्मलता होगी, चित्त निरोध की कला मालूम होगी। आठ अंगों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रो का अभ्यासी मन, वचन, काय को लीन कर लेता है—पढ़ते पढते आत्मानन्द की छटा छा जाती है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग (१) ग्रन्थ शुद्धि—शास्त्र के वाक्यो को शुद्ध पढ़ना। जब तक शुद्ध नही पढ़ेंगे तब तक उसका अर्थ नही भासेगा।

(२) **अर्थ शुद्धि**—शास्त्रका अर्थ ठीक ठीक समझना। जिन आचार्यों ने ग्रन्थ रचना की है उन्होने अपना ज्ञान पदों की स्थापना मे रख दिया है तब उन्हीं स्थापना रूप पदो के द्वारा वही ज्ञान ग्रहण कर लेना जरूरी है जो ज्ञान ग्रन्थ कर्ताओं के द्वारा उसमें भरा गया था या स्थापित किया गया था। जैसे दिशावर से आया हुआ पत्र जब ऐसा पढ़कर समझा जाता है कि जो मतलब भेजने वाले ने लिखा था वही जान लिया गया तब ही पत्र पढने का लाभ होता है इसलिए ग्रन्थ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है।

(३) **उभय शुद्धि**—ग्रन्थ को शुद्ध पढ़ना और शुद्ध अर्थ समझना, दोनो का ध्यान एक साथ रखना उभय शुद्धि है।

(४) **कालाध्ययन**—शास्त्रो को ऐसे समय पर पढ़ना जब परिणामों में निराकुलता हो। सन्ध्या का समय आत्म ध्यान तथा सामायिक करने का होता है उस समय को सवेरे दोपहर व साझ को बचा लेना चाहिये तथा ऐसे समय पर भी शास्त्र पढ़ने में उपयोग न लगेगा जब कोई घोर आपत्ति का समय हो, तूफान हो रहा हो, भूचाल हो रहा हो, घोर कलह या युद्ध हो रहा हो, किसी महापुरुष के मरण का शोक मनाया जा रहा

हो, ऐसे आपत्तियों के समय पर शान्ति से ध्यान करना योग्य है।

(५) विनय—बड़े आदर से शास्त्रों को पढ़ना चाहिये, बड़ी भक्ति भावों में रखनी चाहिये कि मैं शास्त्रों को इसीलिये पढ़ता हूँ कि मुझे आत्म ज्ञान का लाभ हो, मेरे जीवन का समय सफल हो। अन्तरंग प्रेम पूर्ण भक्ति को विनय कहते हैं।

(६) उपधान—धारणा करते हुए ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये। जो कुछ पढ़ा जावे वह भीतर जमता जावे जिससे वह पीछे स्मरण में आ सके। यदि पढ़ते चले गये और ध्यान में न लिया तो अज्ञान का नाश नहीं होगा। इसलिये एकाग्रचित्त होकर ध्यान के साथ पढ़ना, धारणा में रखते जाना उपधान है। यह बहुत जरूरी अंग है, ज्ञान का प्रबल साधन है।

(७) बहुमान—शास्त्र को बहुत मान या प्रतिष्ठा से विराजमान करके पढ़ना चाहिये। उच्च चौकी पर रखकर आसन से बैठकर पढ़ना उचित है तथा शास्त्र को अच्छे गत्ते वेष्टन से विभूषित करके जहाँ दीमक न लगे, शास्त्र सुरक्षित रहें, इस तरह विराजमान करना चाहिये।

(८) अनिह्नव—शास्त्रज्ञान अपने को हो उसको छिपाना नहीं चाहिये, कोई समझना चाहे तो उसको समझाना चाहिये। तथा जिस गुरु से समझा हो उसका नाम न छिपाना चाहिये। इस तरह जो आठ अंगों को पालता हुआ शास्त्रों का मनन करेगा वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन करता हुआ आत्म ज्ञान रूपी निश्चय सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा।

ज्ञान के आठ भेद—यद्यपि ज्ञान एक ही है, वह आत्मा का स्वभाव है, उसमें कुछ भेद नहीं है जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई भेद नहीं है तथापि सूर्य के ऊपर घने मेघ आ जावें तो प्रकाश कम झलकता है मेघ उससे कम हों तो और अधिक प्रकाश प्रगट होता, और अधिक कम मेघ हो तो और अधिक प्रकाश झलकता। और भी अधिक कम मेघ हो तो और भी अधिक प्रकाश प्रगट होता। बिल्कुल मेघ न हो तो पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है। इस तरह मेघों के कम व अधिक आवरण के कारण सूर्य प्रकाश के पाँच भेद हो सकते हैं। तथा और भी सूक्ष्म विचार करोगे तो सूर्य प्रकाश के अनेक भेद हो सकते हैं उसी तरह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के अनुसार ज्ञान के मुख्य पांच भेद हो गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि

ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, तथा केवलज्ञान। मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान जब मिथ्यादृष्टी को होते हैं—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहलाते हैं; सम्यग्दृष्टी के मति, श्रुत, अवधि कहलाते हैं। इस तरह तीन कुज्ञान को लेकर ज्ञान के आठ भेद हो जाते हैं।

मतिज्ञान—पांच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा सीधा किसी पदार्थ का जानना मतिज्ञान है। जैसे स्पर्शइन्द्रिय से स्पर्श करके किसी पदार्थ को ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, नरम, कठोर, हलका, भारी जानना। रसना इन्द्रिय से रसना द्वारा रसन योग्य पदार्थ को स्पर्श करके खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कसायला या मिश्रित स्वाद जानना। नासिका इन्द्रिय से गन्धयोग्य पदार्थ को छूकर सुगन्ध या दुर्गन्ध जानना। चक्षु इन्द्रिय से बिना स्पर्श किये दूर से किसी पदार्थ को सफेद, लाल, पीला, काला या मिश्रित रग रूप जानना। कानो से शब्द स्पर्श कर सुरीला व असुरीला शब्द जानना। मन के द्वारा दूर से किसी अपूर्व बात को यकायक जान लेना। इस तरह जो सीधा ज्ञान इन्द्रिय व मन से होता है उसको मति-ज्ञान (**direct knowledge through senses and mind**) कहते हैं। जितना मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उतनी ही अधिक मतिज्ञान की शक्ति प्रगट होती है। इसलिए सर्व प्राणियों का मतिज्ञान एकसा नहीं मिलेगा। किसी के कम, किसी के अधिक, किसी के मन्द, किसी के तीव्र। जानी हुई चीज का स्मरण हो जाना व एक दफे इन्द्रियों से व मन से जानी हुई चीज को फिर ग्रहण कर पहचानना कि वही है यह संज्ञा ज्ञान, तथा यह चिन्ता ज्ञान कि जहां २ धूम होगा वहां २ आग होगी। जहां २ सूर्य का प्रकाश होगा कमल प्रफुल्लित होंगे। तथा चिह्न को देखकर या जानकर चिह्नों का जानना, धूम को देखकर अग्नि का जानना यह अनुमान ज्ञान, ये सब भी मतिज्ञान हैं क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का या विषय का जानना श्रुतज्ञान है। जैसे कान से आत्मा शब्द सुना यह मतिज्ञान है। आत्मा शब्द से आत्मा के गुणपर्याय आदि का बोध करना

श्रुतज्ञान है। इसीलिए शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। हम अक्षरों को देखते हैं या सुनते हैं उनके द्वारा फिर मन से विचार करके शब्दों से जिन २ पदार्थों का संकेत होता है उनको ठीक २ जान लेते हैं यही श्रुत ज्ञान है, यह श्रुतज्ञान मन के ही द्वारा होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं— अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान। जो अक्षरों के द्वारा अर्थ विचारने पर हो वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है जैसे शास्त्र द्वारा ज्ञान। जो स्पर्शनादि इन्द्रियों से मतिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानकर फिर उस ज्ञान के द्वारा उस पदार्थ में हित रूप या अहित रूप बुद्धि हो सो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह एकेन्द्रियादि सब प्राणियों को होता है। जैसे वृक्ष को कुल्हाड़ी लगाने से कठोर स्पर्श का ज्ञान होना सो मति ज्ञान है। फिर उससे दुःख का बोध होना श्रुतज्ञान है। लटको रसना के द्वारा स्वाद का ज्ञान होना मतिज्ञान है, फिर उसे वह सुखदाई या दुःख-दाई भासना श्रुतज्ञान है। चींटी को दूर से सुगन्ध आना मतिज्ञान है फिर सुगन्धित पदार्थ की ओर आने की बुद्धि होना श्रुतज्ञान है। पतंग को आंख से दीपक का वर्ण देखकर ज्ञान होना मतिज्ञान है। वह हितकारी भासना श्रुतज्ञान है। कर्ण से कठोर शब्द सुनना मतिज्ञान है, वह अहित-कारी भासना श्रुतज्ञान है। मतिश्रुतज्ञान सर्व प्राणियो को सामान्य से होते हैं। एकेन्द्रियादि पचेन्द्रिय पर्यन्त सबके इन दो ज्ञानों से कम ज्ञान नहीं होते हैं। इन दो ज्ञानों की शक्ति होती है, परन्तु ये ज्ञान भी क्रम से काम करते हैं।

अवधिज्ञान—अवधि नाम मर्यादा का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए पुद्गलो को या पुद्गल सहित अशुद्ध जीवो का वर्णन जानना इस ज्ञान का काम है। द्रव्य से मतलब है कि मोटे पदार्थ को जाने कि सूक्ष्म को जाने, क्षेत्र से मतलब है कि कितनी दूर तक की जाने, १ कोस की या १०० या १००० या १०००० आदि कोस तक की जाने। काल से मतलब है कि कितने समय आगे व पीछे की जाने। १० वर्ष, १०० वर्ष, एक भव या अनेक भव को आगे पीछे। भाव से मतलब अवस्था विशेष या स्वभाव विशेष से है। अवधिज्ञान के बहुत से भेद हो सकते हैं, जिसको

जितना अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना कम या अधिक अवधिज्ञान होता है। इस ज्ञान के होने में मन व इन्द्रियों की जरूरत नहीं है। आत्मा स्वयं ही जानता है। देव तथा नारकियों को तो जन्म से ही होता है। पशुओं को व मानवों को सम्यक्त के व तप के प्रभाव से होता है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेष शक्ति का प्रकाश है जिससे अवधि-ज्ञानी किसी मानव को देखकर विचारता हुआ उसके पूर्व जन्म व आगामी जन्म की घटनाओं को जान सकता है। योगी तपस्वी ऐसा अधिक अवधि-ज्ञान पा सकते हैं कि सैकड़ों जन्म पूर्व व आगे की बातें जान लेवें। ज्ञान की जितनी निर्मलता होती है उतना ही उसका अधिक प्रकाश होता है।

मनःपर्ययज्ञान—दूसरो के मन में पुद्गल व अशुद्ध जीवों के सम्बन्ध में क्या विचार चल रहा है व विचार हो चुका है व विचार होवेगा उस सर्व को जो कोई आत्मा के द्वारा जान सके वह मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान बहुत सूक्ष्म बातों को जान सकता है, जिनको अवधिज्ञानी भी न जान सके इसलिए यह ज्ञान अवधिज्ञान से अधिक निर्मल है। यह ज्ञान ध्यानी, तपस्वी, योगियों के ही होता हैं—सम्यग्दृष्टी महात्माओं के ही होता है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के कम व अधिक क्षयोपशम के अनु-सार किसी को कम या किसी को अधिक होता है।

केवलज्ञान—सर्व ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान का प्रकाश होना केवलज्ञान है। यही स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान है, जो परमात्मा अरहन्त तथा सिद्ध में सदा व्यक्ति रूप से चमकता रहता है। संसारी जीवों में शक्तिरूप से रहता है उस पर ज्ञानावरण का परदा पडा रहता है। जब शुक्लध्यान के प्रभाव से सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तबही यह ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में सयोग केवली जिन को प्रगट होता है। एक दफे प्रकाश होने पर फिर यह मलीन नही होता है, सदा ही शुद्ध स्वभाव में प्रगट रहता है। पांच ज्ञानो में मति, श्रुत परोक्ष हैं क्योंकि इन्द्रिय व मन से होते हैं परन्तु तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं—आत्मा से ही होते हैं।

श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है—इन चार ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिससे शास्त्रज्ञान होकर आत्माका भेदविज्ञान होता है कि यह आत्मा भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि

से भिन्न है, सिद्धसम शुद्ध है। जिसको आत्मानुभव हो जाता है वही भाव-श्रुत ज्ञान को पा लेता है। यही आत्मानुभव ही केवलज्ञान को प्रकाश कर देता है। किसी योगी को अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान नहीं भी हो तो भी श्रुतज्ञान के बल से केवलज्ञान हो सकता है। अवधि मन:पर्ययज्ञान का विषय ही शुद्धात्मा नहीं है, ये तो रूपी पदार्थ को ही जानते हैं जबकि श्रुतज्ञान अरूपी पदार्थों को भी जान सकता है इसलिए श्रुतज्ञान प्रधान है। हम लोगों को उचित है कि हम शास्त्रज्ञान का विशेष अभ्यास करते रहें जिससे आत्मानुभव मिले। यही सहज सुख का साधन है व यही केवलज्ञान का प्रकाशक है।

चार दर्शनोपयोग—पहले हम बता चुके हैं कि जीव के पहचानने के आठ ज्ञान व चार दर्शन साधन हैं। दर्शन और ज्ञान में यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, दर्शन निराकार है। दर्शन में पदार्थ का बोध नही होता है। जब बोध होने लगता है तब उसे ज्ञान कहते हैं। जिस समय आत्मा का उपयोग किसी पदार्थ के जानने की तय्यारी करता है तब ही दर्शन होता है, उसके पीछे जो कुछ ग्रहण में आता है वह ज्ञान है। कर्ण में शब्द आते ही जब उपयोग उधर गया और शब्द को जाना नहीं तब दर्शन है। जब जान लिया कि शब्द है तब ज्ञान कहा जाता है। अल्पज्ञानियों के दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है, मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टी महात्माओं को अवधि दर्शनपूर्वक अवधिज्ञान होता है। केवलज्ञानी को केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ-साथ होता है। चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है। जैसे आंख ने घड़ी को जाना यह मतिज्ञान है। इसके घड़ी के आकार को जानने के पहले जो उपयोग चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जानने को तय्यार हुआ परन्तु जाना कुछ नहीं वह चक्षुदर्शन है। जब जान लिया कि यह घड़ी है तब यह मतिज्ञान है। इसी तरह चक्षु इन्द्रिय के सिवाय चार इन्द्रिय और मन से जो दर्शन होता है वह अचक्षु दर्शन है। अवधिदर्शन सम्यक्ती ज्ञानियों को आत्मा से होता है। केवलदर्शन सर्वदर्शी है, वह दर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से प्रगट होता है।

निश्चय और व्यवहारनय—प्रमाण जब वस्तु को सर्वांग ग्रहण

करता है तब नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है व बताता है। पहले कहे गए पांचो ज्ञान प्रमाण हैं व तीन कुज्ञान प्रमाणाभास है। जैसे कोई मानव व्यापारी है और मजिष्ट्रेट भी है, प्रमाणज्ञान दोनों बातों को एक साथ जानता है। नयकी अपेक्षा किसी समय वह व्यापारी कहा जायगा तब मजिष्ट्रेटपना गौण रहेगा व कभी मजिष्ट्रेट कहा जायगा तब व्यापारीपना गौण रहेगा। अध्यात्म शास्त्रों में निश्चयनय और व्यवहार-नय का उपयोग बहुत मिलता है। स्वाश्रयः निश्चयः पराश्रयः व्यवहारः जो नय एक ही वस्तु को उसी को पर की अपेक्षा बिना वर्णन करे वह निश्चयनय है। जो किसी वस्तु को पर की अपेक्षा से और का और कहे वह व्यवहारनय है। एक खड्ग सोने की म्यान के भीतर है, उसमें खड्ग को खड्ग और म्यान को म्यान कहना निश्चयनय का काम है। तथा सोने की खडग कहना व्यवहारनय का काम है। लोक में ऐसा व्यवहार चलता है कि परके सयोग से उस वस्तु को अनेक तरह से कहा जाता है।

जैसे दो खडग रक्खी हैं, एक चांदी के म्यान में है और एक सोने को म्यान में हैं। किसी को इनमें से एक ही खड्ग चाहिए थी, वह इतना लम्बा वाक्य नही कहता है कि सोने की म्यान में रक्खी हुई खड्ग लाओ; किन्तु छोटासा वाक्य कह देता है कि सोने की खडग लाओ। तब यह वचन व्यवहार में असत्य नही है, किन्तु निश्चय से असत्य है, क्योकि यह भ्रम पैदा कर सकता है कि खड्ग सोने का है जबकि खड्ग सोने की नही है। इसी तरह हमारी आत्मा मनुष्य आयु व गति के उदय से मनुष्य शरीर में है, आत्मा भिन्न है। तैजस कार्माण और औदारिक शरीर भिन्न हैं। निश्चयनय से आत्मा को आत्मा ही कहा जायगा। व्यवहार-नय से आत्मा को मनुष्य कहने का लोक व्यवहार है क्योंकि मनुष्य शरीर में वह विद्यमान है। आत्मा को मनुष्य कहना व्यवहार से सत्य है तो भी निश्चयनय से असत्य है; क्योंकि आत्मा मनुष्य नहीं है, उसका कर्म मनुष्य है, उसका देह मनुष्य है।

निश्चयनय को भूतार्थ, सत्यार्थ, वास्तविक असल मूल कहते हैं। व्यवहारनय को असत्यार्थ, अभूतार्थ, अयथार्थ, अवास्तविक कहते हैं।

ससारी आत्मा को समझने के लिये व पर के संयोग में प्राप्त किसी भी वस्तु को समझने के लिये दोनों नयों की आवश्यकता पड़ती है। कपड़ा मलीन है उसको शुद्ध करने के लिये दोनों नयों के ज्ञान की जरूरत है। निश्चय नय से कपड़ा उज्वल है, रुई का बना है, व्यवहार नय से मैला कहाता है क्योंकि मैल का संयोग है। यदि एक हो नय या अपेक्षा को समझें तो कपड़ा कभी स्वच्छ नहीं हो सकता है। यदि ऐसा मानलें कि कपड़ा सर्वथा शुद्ध ही है तब भी वह शुद्ध नहीं किया जायगा। यदि मानले कि मैला ही हैं तब भी वह शुद्ध नहीं किया जायगा। शुद्ध तब ही किया जायगा जब यह माना जायगा कि असल में मूल में तो यह शुद्ध है परन्तु मैल के सयोग से वर्तमान में इसका स्वरूप मैला हो रहा है। मैल पर है छुड़ाया जा सकता है ऐसा निश्चय होने पर हो कपड़ा साफ किया जायगा। इसी तरह निश्चय नय कहता है कि आत्मा शुद्ध है। व्यवहारनय कहता है कि आत्मा अशुद्ध है, कर्मों से बद्ध है–दोनों बातों को जानने पर ही कर्मों को काटने का पुरुषार्थ किया जायगा।

निश्चयनय के भी दो भेद अध्यात्म शास्त्रों में लिये गये गए हैं--- एक शुद्ध निश्चयनय, दूसरा अशुद्ध निश्चयनय। जिसका लक्ष्य केवल शुद्ध गुण पर्याय व द्रव्य पर हो वह शुद्ध निश्चयनय है व जिसका लक्ष्य उसी एक द्रव्य के अशुद्ध द्रव्य, गुण पर्याय पर हो वह अशुद्ध निश्चय है। जैसे जीव सिद्धसम शुद्ध है यह वाक्य शुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है। यह जीव रागी द्वेषी हैयह वाक्य अशुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है। राग द्वेष जीव के ही नैमित्तिक व औपाधिक भाव हैं। उन भावों में मोहनीय कर्म का उदय संयोग पा रहा है इसलिये वे भाव शुद्ध नहीं हैं, अशुद्ध भाव हैं। इन अशुद्ध भावों को आत्मा के भाव कहना अशुद्ध निश्चयनय से ठीक है, जबकि शुद्ध निश्चयनय से ठीक नहीं है। ये दोनों नय एक ही द्रव्य पर लक्ष्य रखते हैं।

व्यवहारनय के कई भेद है—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय। यह वह नय है कि पर वस्तु का किसी से संयोग होते हुए ही पर को उसका कहना। जैसे यह घी का घड़ा है। इसमें घी का संयोग है इसलिये

घड़े को घी का घड़ा कहते हैं। यह जीव पापी है, पुण्यात्मा है। यह जीव मानव है, पशु है। यह गोरा है, यह काला है। ये सब वाक्य इस नय से ठीक हैं; क्योंकि कार्माण व औदारिक शरीर का संयोग है इसलिये अनुपचरित हैं परन्तु हैं आत्मा के मूल स्वरूप से भिन्न इसलिये असद्भूत है। बिलकुल भिन्न वस्तु को किसी की कहना **उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है**। जैसे यह दूकान रामलाल की है, यह टोपी बालक की है, यह स्त्री रामलाल की है, यह गाय फतहचन्द की है यह कपड़े मेरे हैं, यह आभूषण मेरे हैं, यह देश मेरा है।

निश्चयनय का विषय जब वस्तु को अभेद रूप से अखण्ड रूप से ग्रहण करना हैं तब उसी को खण्ड रूप से ग्रहण करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। ऐसा भी शास्त्रों में विवेचन है। जैसे आत्मा को अभेद एक ज्ञायक मात्र ग्रहण करना निश्चयनय का अभिप्राय है तब आत्मा को ज्ञान रूप, दर्शन रूप, चारित्र रूप इस तरह गुण व गुणी भेद करके कहना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। कहीं कहीं इस सद्भूत व्यवहार को भी निश्चय नय में गर्भित करके कथन किया गया है क्योंकि यह सद्भूत व्यवहार भी एक ही द्रव्य की तरफ भेद रूप से लक्ष्य रखता है, पर की तरफ लक्ष्य नहीं हैं। जहा पर की तरफ लक्ष्य करके पर का कथन है वह असद्भूत व्यवहारनय है या सामान्य से ही व्यवहारनय है।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय—जो नय या अपेक्षा केवल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर वस्तु को कहे वह द्रव्यार्थिक है। जो द्रव्य की किसी पर्याय को लक्ष्य में लेकर कहे वह पर्यायार्थिक है। जैसे द्रव्यार्थिकनय से हर एक आत्मा समान रूप से शुद्ध है, निज स्वरूप में है। पर्यायार्थिकनय से आत्मा सिद्ध है, संसारी है, पशु है, मानव है, वृक्ष है, इत्यादि। यह आत्मा नित्य है द्रव्यार्थिकनय का वाक्य है यह आत्मा संसारी अनित्य है, यह पर्यायार्थिक नय का वाक्य है; क्योंकि द्रव्य कभी नाश नहीं होता है, पर्याय क्षण में बदलती है।

नैगमादि सप्तनय—जगत में अपेक्षावाद के बिना व्यवहार नहीं हो सकता है । भिन्न-भिन्न अपेक्षा से वाक्य सत्य माने जाते हैं। उन अपेक्षाओ को या नयों को बताने के लिये जिनसे लोक में व्यवहार होता है, जैन सिद्धान्त में सात नय प्रसिद्ध हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत । इनमें पहले तीन नय द्रव्यार्थिक में गर्भित हैं क्योकि इनकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, शेष चार नय पर्यायार्थिक में गर्भित हैं क्योकि उनकी दृष्टि पर्याय पर रहती है । तथा अन्त के तीन नयों की दृष्टि शब्द पर रहती है इसलिये वे शब्द नय हैं । शेष चार की दृष्टि पदार्थ पर मुख्यता से रहती है इससे वे अर्थनय हैं ।

नैगमनय—जिसमें संकल्प किया जावे वह नैगमनय है । भूतकाल की बात को वर्तमान में संकल्प करना यह भूतनैगमनय है । जैसे कार्तिक सुदी १४ को कहना कि आज श्री वर्द्धमान स्वामी का निर्वाण दिवस है । भावी नैगमनय भविष्य की बात को वर्तमान में कहता है जैसे अर्हन्त अवस्था में विराजित किसी केवली को सिद्ध कहना । वर्तमान नैगमनय वह है जो वर्तमान की अधूरी बात को पूरी कहे जैसे—कोई लकड़ी काट रहा है, उससे किसी ने पूछा क्या कर रहे हो ? उसने कहा किवाड़ बना रहा हूं क्योकि उसका उद्देश्य लकड़ी काटने में किवाड़ ही बनाने का है ।

संग्रहनय—जो एक जाति के बहुत से द्रव्यों को एक साथ बतावे वह संग्रहनय है जैसे कहना कि सत् द्रव्य का लक्षण है । यह वाक्य सब द्रव्यों को सत् बताता है । जीव का उपयोग लक्षण है यह वाक्य सब जीवो का लक्षण उपयोग सिद्ध करता है ।

व्यवहारनय—जिस अपेक्षा से संग्रहनय से ग्रहीत पदार्थों का भेद करते चले जावे वह व्यवहार नय है । जैसे कहना कि द्रव्य छः हैं । जीव संसारी और सिद्ध हैं । संसारी स्थावर व त्रस हैं । स्थावर पृथ्वी आदि पांच प्रकार के हैं । इत्यादि ।

ऋजुसूत्रनय—जो सूक्ष्म तथा स्थूल पर्याय मात्र को जो वर्तमान में है उसी को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे स्त्री को स्त्री, पुरुष को पुरुष, श्वान को श्वान, अश्व को अश्व, क्रोध पर्याय सहित को क्रोधी, दया भाव सहित को दयावान कहना।

शब्द नय—व्याकरण व साहित्य के नियमों की अपेक्षा से शब्दों को व्यवहार करना शब्दनय है। उसमें लिंग, वचन, कारक, काल आदि का दोष झलकता हो तो भी उसे नही गिनना सो शब्द नय है। जैसे स्त्री को संस्कृत में दारा, भार्या, कलत्र कहते हैं। यहां दारा शब्द पुल्लिंग है, कलत्र नपुन्सक लिंग है तो भी ठीक है। कोई महान् पुरुष आ रहा है उसे प्रतिष्ठावाचक शब्द में कहते हैं—वे आ रहे हैं। यह वाक्य यद्यपि बहु वचन का प्रयोग एक वचन में है तथापि शब्दनय से ठीक है। कहीं की कथा का वर्णन करते हुए भूतकाल में वर्तमान का प्रयोग कर देते हैं जैसे सेना लड़ रही हैं, तोपें चल रही है, रुधिर की धारा बह रही है, मृतकों के मुण्ड लोट रहे हैं, ये सब वाक्य भूतकाल के वर्तमान काल में प्रयोग करना शब्दनय से ठीक है। शब्दनय में शब्दों पर ही दृष्टि है कि शब्द भाषा साहित्य के अनुसार व्यवहार किया जावे।

समभिरूढ़ नय—एक शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक अर्थ को लेकर किसी के लिए व्यवहार करना समभिरूढ़ नय है। जैसे गो शब्द के अर्थ नक्षत्र, आकाश, बिजली, पृथ्वी, वाणी आदि हैं, तौ भी गाय के लिए भी व्यवहार करना समभिरूढ़ नय से ठीक है। यद्यपि गो शब्द के अर्थ जाने वाले के हैं। तथापि सोई, बैठी हुरएक दशा में गाय पशु को गो कहना समभिरूढ नय से ठीक हैं या एक पदार्थ के अनेक शब्द नियत करना, चाहे उनके अर्थों में भेद हो, यह भी समभिरूढ़ नय से है। जैसे स्त्री को स्त्री, अबला, नारी आदि कहना। अथवा इन्द्र को शक्र, पुरन्दर, इन्द्र, सहस्राक्षी आदि कहना। यहां इन शब्दों के भिन्न २ अर्थ हैं तौ भी एक व्यक्ति के लिए व्यवहार करना समभिरूढ़ नय से ठीक है।

एवंभूत—जिस शब्द का जो वास्तिवक अर्थ हो उसी समान क्रिया करते हुए को उसी शब्द से व्यवहार करना एवंभूतनय है। जैसे वैद्यक करते हुए वैद्य को वैद्य कहना, दुर्बल स्त्री को ही अबला कहना, पूजन

करते को पुजारी कहना, राज्यकरते हुए न्याय करते हुएको राजा कहना। लोक व्यवहार में इन नयों की बड़ी उपयोगिता है।

स्याद्वादनय या सप्तभंगवाणी—पदार्थ में अनेक स्वभाव रहते हैं जो साधारण रूप से विचारने में विरोध रूप भासते हैं परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षा से पदार्थ में पदार्थरूप से पाए जाते हैं उनको समझाने का उपाय स्याद्वाद या सप्तभंग है।

हरएक पदार्थ में अस्ति या भावपना, नास्ति या अभावपना ये दो विरोधी स्वभाव हैं। नित्यपना तथा अनित्यपना ये भी दो विरोधी स्वभाव हैं। एकपना और अनेकपना ये भी दो विरोधी स्वभाव हैं। एक ही समय में एक ही स्वभाव को वचन द्वारा कहा जाता है तब दूसरा स्वभाव यद्यपि कहा नही जाता है तौ भी पदार्थ में रहता अवश्य है, इसी बात को जताने के लिए स्याद्वाद है।

स्यात् अर्थात् कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना सो स्याद्वाद है। जैसे एक पुरुष पिता भी है पुत्र भी है उसको जब किसी को समझावेंगे तब कहेंगे कि स्यात् पिता अस्ति। किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा से) पिता है। यहा स्यात् शब्द बताता है कि वह कुछ और भी है। फिर कहेंगे स्यात् पुत्रः अस्ति—किसी अपेक्षा से (अपने पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। वह पुरुष पिता व पुत्र दोनों है ऐसा दृढ़ करने के लिए तीसरा भंग कहा जाता है 'स्यात् पिता पुत्रश्च।'

किसी अपेक्षा से यदि दोनों को विचार करें तो वह पिता भी है, पुत्र भी है। वह पिता व पुत्र तो एक ही समय में है परन्तु शब्दों में यह शक्ति नही है कि दोनों स्वभावों को एक साथ कहा जा सके। अतएव कहते हैं चौथा भग—स्यात् अवक्तव्यं। किसी अपेक्षा से यह वस्तु अवक्तव्य है, कथनगोचर नहीं है। यद्यपि यह पिता व पुत्र दोनों एक समय में है, परन्तु कहा नहीं जा सकता। सर्वथा अवक्तव्य नहीं है इसी बात को दृढ़ करने के लिए शेष तीन भंग हैं। स्यात् पिता अवक्तव्यं च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता है, स्याद् पुत्रः अवक्तव्यं च।

किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पुत्र हैं। स्यात् पिता पुत्रश्च 'अवक्तव्यं च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता व पुत्र दोनों है। इस तरह दो विरोधी स्वभावों को समझाने के लिए सात भग शिष्यों को दृढ ज्ञान कराने के हेतु किए जाते हैं। वास्तव में उस पुरुष में तीन स्वभाव हैं—पिता पना, पुत्र पना व अवक्तव्य पना। इसी के सात भंग ही हो सकते हैं न छः, न आठ। जैसे—(१) पिता, (२) पुत्र, (३) पिता पुत्र, (४) अवक्तव्य, (५) पिता अवक्तव्य, (६) पुत्र अवक्तव्य, (७) पिता पुत्र अवक्तव्य।

यदि किसी को सफेद, काला, पीला तीन रंग दिए जावें और कहा जावे कि इसके भिन्न २ रंग बनाओ तो वह नीचे प्रमाण सात ही बना देगा।

१—सफेद, २—काला, ३—पीला, ४—सफेद काला, ५—सफेद पीला, ६—काला पीला, ७—सफेद पीला। इससे कम व अधिक नहीं बन सकते हैं।

आत्मा के स्वभाव को समझने के लिए इस स्याद्वाद की बड़ी जरूरत है। आत्मा में अस्तित्व या भावपना अपने अखण्ड द्रव्य, अपने असख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र, अपनी स्वाभाविक पर्याय रूप काल व अपने शुद्ध ज्ञानानन्दमय भाव की अपेक्षा हैं उसी समय इस अपने आत्मा में सम्पूर्ण अन्य आत्माओ के, सर्व पुद्गलो के, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के द्रव्य,क्षेत्र, काल तथा भाव का नास्तिपना या अभाव भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व न हो तो यह आत्मा है। यह श्री महावीरस्वामी का आत्मा है अन्य नहीं है यह बोध ही न हो। आत्मा में आत्मापना तो है, परन्तु आत्मा में भाव कर्म रागादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनका तथा अन्य सर्व द्रव्यों का नास्तित्व हैं या अभाव है ऐसा जानने पर आत्मा का भेदविज्ञान होगा,आत्मानुभव हो सकेगा। इसी को सात तरह से कहेंगे—

१—स्यात् अस्ति आत्मा, २—स्यात् नास्ति आत्मा, ३—स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा, ४—स्यात् अवक्तव्यं, ५—स्यात् अस्ति आत्मा अवक्तव्यं च, ६—स्यात् नास्ति आत्मा अवक्तव्यं च, ७—स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा अवक्तव्यं च। इसी तरह यह आत्मा अपने द्रव्य व स्वभाव

की अपेक्षा ध्रुव है नित्य है तब ही यह पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इस तरह एक ही समय में आत्मा में नित्यपना तथा अनित्यपना दोनों स्वभाव हैं इसी को सात भंगों द्वारा समझाया जा सकता है।

(१) स्यात् नित्यं, (२) स्यात् अनित्यं, (३) स्यात् नित्यं अनित्यं (४) स्यात् अवक्तव्यं, (५) स्यात् नित्यं अवक्तव्यं च, (६) स्यात् अनित्यं अवक्तव्यं च, (७) स्यात् नित्य अनित्यं अवक्तव्यं च।

इसी तरह आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है,इसलिए एक रूप है। वही आत्मा उसी समय ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान रूप है, सम्यक्त गुण की अपेक्षा सम्यक्तरूप है, चारित्रगुण की अपेक्षा चारित्र रूप है, वीर्य गुण की अपेक्षा वीर्यरूप है। जितने गुण आत्मा में हैं वे सर्व आत्मा में व्यापक हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा आत्मा अनेक रूप है। इसी के सप्त-भंग इस तरह करेंगे—स्यात् एकः, स्यात् अनेकः, स्यात् एकः अनेकश्च, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् एकः अवक्तव्यं च, स्यात् अनेकः अवक्तव्यं च, स्यात् एकः अनेकः अवक्तव्यं च।

यह संसारी आत्मा स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है, उसी समय कर्म संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। इसके भी सात भंग बनेंगे। स्यात् शुद्धः, स्यात् अशुद्धः, स्यात् शुद्धः अशुद्धः, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् शुद्धः अवक्तव्यं च, स्यात् अशुद्धः अवक्तव्य च, स्यात् शुद्धः अशुद्धः अवक्तव्यं च।

स्याद्वाद के बिना किसी पदार्थ के अनेक स्वभावों का ज्ञान अज्ञानी शिष्य को न होगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक सिद्धान्त है, आत्मा के भेदविज्ञान के लिए तो बहुत जरूरी है। तथा यह स्याद्वाद का सिद्धान्त अनेक एकान्त मत के धारी हठ करने वालों को उनका एकान्त हठ छुड़ा कर उनमें प्रेम व ऐक्य स्थापन करने का भी साधन है।

जैसे दूर से किसी का मकान पांच आदमियों को दिखलाई दिया, वह मकान भिन्न २ स्थानों पर पांच तरह के रंगों से रंगा है। जिसकी दृष्टि सफेदी पर पड़ी वह कहता है मकान सफेद है, जिसकी दृष्टि लाल रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान लाल है, जिसकी दृष्टि पीले रंग पर

पड़ी वह कहता है, मकान पीला है, जिसकी दृष्टि नीले रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान नीला है, जिसकी दृष्टि काले रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान काला है। इस तरह आपस में झगड़ते थे, तब एक समझदार ने कहा कि क्यों झगड़ते हो, तुम सब एकांश से सच्चे हो परन्तु पूर्ण सत्य नहीं हो। यह मकान पांच रंग का है, ऐसा तुम समझो। जब पांचों ने यह बात समझ ली तब उन सबका एकान्त हट गया तब सबको बड़ा आनन्द हुआ। इसी तरह अनेकान्त मय—अनेक स्वभाव वाले पदार्थ को अनेक स्वभाव वाला बताने को स्याद्वाद दर्पण के समान है व परस्पर विरोध मेटने को एक अटल न्यायाधीश के समान है। सहज सुख साधन के लिए तो बहुत ही उपयोगी है। कल्पित इन्द्रिय सुख को त्यागने योग्य व अतीन्द्रिय सुख को ग्रहण योग्य बताने वाला है।

सम्यग्ज्ञानका फल—निश्चयनयसे आत्मा को आत्मा रूपही जानना सम्यग्ज्ञान है। जैसे सूर्य पर मेघों के आ जाने से प्रकाश अत्यल्प प्रगट हैं तौ भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश उतना ही नहीं है, वह तो दोपहर के समय मेघ रहित जैसा पूर्ण प्रकाशमान रहता है वैसा ही हैं। मेघो के कारण कम प्रकाश हैं। सूर्य का स्वभाव ऐसा नहीं है। ऐसा जो सूर्य के असली प्रकाश को—पूर्ण प्रकाश को भले प्रकार बिना किसी संशय के जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है, इसी तरह अपने आत्मा पर ज्ञानावरणादि कर्मों के मेघ होने पर ज्ञान का प्रकाश कम व मलीन हो रहा है। रागी द्वेषी अज्ञानमय हो रहा है तौभी यह आत्मा वास्तव में सर्वज्ञ वीतराग है, पूर्ण ज्ञानानन्दमय है ऐसा जो संशय रहित, विपरीतता रहित, अनध्यवसाय (आलस्य) रहित जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है।

आत्मा द्रव्य चाहे वह वृक्ष में हो चाहे वह कीट मे, पतंग में, श्वान में, अश्व में, मानव में, नीच में, ऊंच में, राजा में, रंक में, निरोगी में, रोगी में, कुरूप में, सुरूप में, वृद्ध में, बाल में, युवा में, किसी भी सजीव प्राणी में हो, सबका आत्मा एक समान शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य,

सुख आदि गुणों का धारी, भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नो कर्म शरीरादि रहित परमात्मा के समान है। ऐसा यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। रुई के (१००) सौ वस्त्र सौ प्रकार के रंगों से रंगे हुए रक्खे हैं। जो उन सबको एक रूप सफेद रुई के वस्त्र देखता है और भिन्न-भिन्न रंगों को उनसे भिन्न देखता है, वही ज्ञानी है। इसी तरह पुद्गल के संयोग से विचित्र रूप दीखने वाले नाना प्रकार आत्माओं को जो एक समान शुद्ध ज्ञानानन्दमय देखता है और पुद्गल को भिन्न देखता है, वही सम्यग्ज्ञानी है।

इस सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव जागृत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, सहज सुख का साधन बन जाता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख शान्ति का लाभ होता है, आत्मबल बढ़ता है, कर्म का मैल कटता है, परम धैर्य प्रकाशित होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। अतएव हरएक स्वहित वांछक को जिनेन्द्रप्रणीत परमागम के अभ्यास से आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान का लाभ लेकर सदा सुखी रहना चाहिए।

आगे सम्यग्ज्ञान के महात्म्य व स्वरूप के सम्बन्ध में जैनाचार्यों के वाक्यों को पाठकगण मनन करके आनन्द उठावें —

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥२१-१॥

भावार्थ—केवल ज्ञान में परिणमन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त परमात्मा को सर्व द्रव्य तथा उनकी सर्व पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो जाती हैं जैसे—स्फटिक मणि के अन्दर तथा बाहर में प्रगट पदार्थ दीखते हैं उसी तरह भगवान को सब प्रत्यक्ष है। वे भगवान उन द्रव्य व पर्यायों को अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान द्वारा पर की सहायता से व क्रम पूर्वक नहीं जानते हैं, एक समय में सब को जानते हैं।

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स ।।२२-१।।

भावार्थ—उन केवली भगवान के कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं है। एक ही समय सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को प्रत्यक्ष जानते हैं व भगवान इन्द्रियों से अतीत हैं, इन्द्रियों से नहीं जानते हैं। सर्व इन्द्रियों के विषयों को क्रम क्रम से जाना जाता है, उसको वे एकदम सब जानते हैं तथा यह ज्ञान स्वयं ही केवली का प्रकाशित है। यह स्वाभाविक है, परजन्य नहीं हैं।

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२८-१।।

भावार्थ—ज्ञान गुण आत्मा ही रूप कहा गया है। आत्मा को छोड़ कर ज्ञान गुण और कहीं नहीं रहता है इसलिये ज्ञान गुण जीव रूप है और जीव ज्ञान स्वरूप है तो भी गुण गुणी के भेद की अपेक्षा से नामादि भेद से ज्ञान अन्य है आत्मा अन्य है परन्तु प्रदेश भेद नही है। जहा आत्मा है वही ज्ञान सर्वांग व्यापक है।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ।।२९-१।।

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभाव को रखने वाला है। तथा सर्व पदार्थ उस ज्ञानी द्वारा ज्ञेय रूप हैं, जानने योग्य हैं। यह ज्ञानी ज्ञेयों को इसी तरह जानते हैं जिस तरह आंख रूपी पदार्थों को जानती है। आंख पदार्थों में नहीं जाती पदार्थ आख में नही प्रवेश करते हैं उसी तरह केवलज्ञानी का ज्ञान ज्ञेय पदार्थों में नही जाता और ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में आकर प्रवेश नही कर जाते हैं। आत्मा अपने स्थान पर है पदार्थ अपने स्थान पर रहते हैं। ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध से आत्मा का शुद्ध ज्ञान सर्व ज्ञेयों को जान लेता है।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समन्तदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।३२-१।।

भावार्थ—केवल ज्ञानी सर्वज्ञ देव ज्ञेय रूप परपदार्थों को न तो ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उन रूप बदलकर होते हैं। वे भगवान

सर्व पदार्थों को सर्वांग पूर्ण रूप से मात्र देखते व जानते हैं। किसी पर राग द्वेष नहीं करते हैं। जैसे आंख देखती मात्र है किसी को ग्रहण नहीं करती है और न कुछ त्यागती है। भगवान सर्वज्ञ वीतरागता पूर्वक सर्व को जानते देखते हैं।

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे,विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७-१॥

भावार्थ—उन प्रसिद्ध जीवादि द्रव्य जातियों की वे सर्व विद्यमान तथा अविद्यमान पर्यायें निश्चय से ज्ञान में भिन्न भिन्न भेद लिये वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायों की तरह वर्तती हैं या झलकती हैं।

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंत्ति हि के परूविंति॥३९-१॥

भावार्थ—यदि केवल ज्ञान के भीतर द्रव्यों की भावी पर्यायें और भूतकाल की पर्यायें प्रत्यक्ष प्रगट न होवें उस ज्ञान को उत्कृट या प्रशंसनीय निश्चय से कौन कहता? केवल ज्ञान की यही अनुपम अद्भुत महिमा है जो त्रिकालगोचर पर्यायें हस्तरेखावत झलकती हैं।

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समन्तदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७-१॥

भावार्थ—केवल ज्ञान को क्षायिक ज्ञान इसीलिये कहा है कि वहां कोई अज्ञान नहीं रहा तथा वह ज्ञान वर्तमान काल सम्बन्धी व भूत व भावी काल सम्बन्धी सर्व पर्यायों को सर्वांग व अनेक प्रकार मूर्तीक व अमूर्तीक पदार्थों को एक ही समय में जानता है। कोई भी विषय केवल ज्ञान से बाहर नहीं है।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥४८-१॥

भावार्थ—जो पुरुष तीन लोक में स्थित अतीत अनागत वर्तमान इन तीन काल सम्बन्धी पदार्थों को एक ही समय में नहीं जानता है उस पुरुष के अनन्त पर्यायों के साथ एक द्रव्य को भी जानने की शक्ति नहीं हो सकती है। जो अपने आत्मा के द्रव्य गुण व अनन्त पर्यायों को जान सकता है वह ज्ञान सर्व द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायों को जान सकता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ।।२२९।।
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ।।२३०।।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी आत्मा कर्मवर्गणाओ के मध्य पड़ा हुआ भी शरीरादि सर्व पर द्रव्यों में राग, द्वेष, मोह नहीं करता हुआ उसी तरह कर्म रज से नहीं बंधता है जिस तरह सुवर्ण कीचड़ में पड़ा हुआ नही बिगड़ता है—सोने में जंग नही लगती, परन्तु मिथ्या दृष्टि अज्ञानी कर्मों के मध्य पडा हुआ सर्व पर द्रव्यों मे रागभाव करता हुआ कर्म रज से बंध जाता है जैसे लोहा कोचड़ में पडा हुआ बिगड़ जाता है। आत्मज्ञान की बडी महिमा है वह अपने स्वभाव को ही अपना समझता है, इसको परमाणु मात्र भी ममत्व परभाव से नही है, सराग सम्यक्ती के यदि कुछ कर्म बन्ध होता भी है वह रज ऊपर पड़ने के समान है जो शीघ्र झड़ जाने वाला है, अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व से ही भव भ्रमणकारी कर्मबन्ध होता है, अन्य कषायो से बहुत अल्प बन्ध होता है जो बाधक नही है।

णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि ।
महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो ।।३३९।।

भावार्थ—ससार शरीर भोगों से वैराग्य भाव रखने वाले महात्मा कर्मों के नाना प्रकार मीठे व कड़वे फल को—साताकारी व असाताकारी उदय को जानता मात्र है। उनमें रंजायमान नही होता है इसलिए वह अभोक्ता कहा गया है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ।
जाणदि पुण कम्मफलं बन्धं पुण्णं च पावं च ।।३४०।।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी महात्मा नानाप्रकारके कर्मों को तन्मयहोकर नहीं करता है, न कर्मों को बांधता है और न कर्मों के सुख दुःखरूप फल को तन्मय होकर भोगता है, वह अपने ज्ञानबल से मात्र जानता है, यह

कर्मों का फल हुआ, यह बन्ध है, यह पुण्य है, यह पाप है। कर्मों के उदय से नाना प्रकार की मन, वचन, काय की अवस्थाएँ होती हैं उन सबको ज्ञाता होकर जानता है। शरीर में रोग हुआ सो भी जानता है। शरीर ने भोजन किया यह भी जानता है। ज्ञानी केवल मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्ता व भोक्ता है, पर का कर्ता भोक्ता नहीं होता है। मन, वचन, काय का जो कुछ परिणमन होता है उसे कर्मोदय का विकार जान कर ज्ञाता दृष्टा साक्षीभूत रहता है।

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदिय बन्धमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३४१॥

भावार्थ—जैसे आंख की दृष्टि अग्नि को देखती मात्र है, न अग्नि को बनाती है न अग्नि का ताप भोगती है, वैसे ज्ञानी महात्मा न तो कर्मों को करते हैं न भोगते हैं, केवल मात्र बन्ध, मोक्ष, कर्मों का उदय और कर्मों की निर्जरा को जानते ही हैं। ज्ञानी मन, वचन, काय, आठ कर्म सबको भिन्न जानता है। उनकी जो कुछ भी अवस्थाएँ होती हैं उनको अपने आत्मा की नहीं जानता है, उनको परकी समझ कर उनमें रागी नही होता है, उदासीन भाव से जानता रहता है कि कर्म क्या-क्या नाटक खेलते हैं—वह संसार नाटक को दृष्टा होकर देखता मात्र है, उनका स्वामी व कर्ता व भोक्ता नहीं बनता है। निश्चय से वह बिल्कुल अपना सम्बन्ध उनसे नहीं जोड़ता है। उसका आत्मरसिकपना उसे अलिप्त रखता है।

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥४१२॥
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४२४॥
जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४२५॥

भावार्थ—शास्त्र जो पुद्गलमय ताड़पत्र या कागज, स्याही आदि है या वाणी रूपी द्रव्यश्रुत है सो ज्ञान नही है, क्योंकि पुद्गल जड़मई द्रव्य शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है। इसलिए शास्त्र अन्य है व जानने वाला ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं।

रागादि कलुष भावरूप अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वह कर्मों का उदयरूप विपाक सदा ही अचेतन है। इसलिए ज्ञान अन्य है और कलुषरूप अध्यवसान अन्य है। क्योंकि यह नित्य ही जानने वाला है इसलिए जीव ही ज्ञायक है। ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नहीं है, उसी का स्वभाव है, ऐसा जानना योग्य है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं—

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं ॥४३॥

भावार्थ—ज्ञान गुण से आत्मा ज्ञानी भिन्न नहीं है। नाना प्रकार जानने योग्य पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान अनेक प्रकार हैं। ज्ञान विश्वरूप है सर्व को जानता है तब ज्ञानी द्रव्य भी विश्वरूप कहा गया है। जैसे ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ज्ञानी आत्मा भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है अर्थात् ज्ञान सर्व को जानने वाला है।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड में कहते हैं—

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्व ॥२०॥

भावार्थ—सयम से युक्त और ध्यान के योग्य जो मोक्ष का मार्ग है उसका लक्ष्य—जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है सो सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान का स्वरूप जानना योग्य है।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

भावार्थ—ज्ञान का लाभ पुरुष को होता है परन्तु जो मानव विनय सहित है वही ज्ञान का प्रकाश कर सकता है। ज्ञान के ही मनन से मोक्ष के मार्ग को पहचानता हुआ ध्यान का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप उसको भले प्रकार समझ लेता है।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते हैं—

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्म।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

भावार्थ—हे मुने ! तू रातदिन निर्मल भाव से भक्तिपूर्वक शास्त्र रूपी श्रुतज्ञान का मनन कर, जो अनुपम है व जिसे मूल में तीर्थंकरों ने कहा है उसको जानकर गणधरों ने भले प्रकार शास्त्र में गूंथा हैं।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

भावार्थ—आत्मज्ञान रूपी जल को पीकर कठिनता से दूर होने योग्य तृष्णा की दाह व जलन को मिटाकर भव्य जीव सिद्ध हो जाते हैं और तीन लोक के शिखर पर सिद्धालय में अनन्त काल वास करते हैं।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

भावार्थ—भव्य जीव भावसहित आत्मज्ञानमई निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधरूप मरणकी वेदना की दाह को शमनकर सिद्ध होजाते हैं।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

भावार्थ—यह आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है तथा यही केवलज्ञान स्वरूप है ऐसा जानो, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अन्तोमुहुत्तेण ॥५३॥

भावार्थ—मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मों को बहुत जन्मों में क्षय करता है उन कर्मों को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर डालता है।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ॥५४॥

भावार्थ—शुभ पदार्थों के संयोग होने पर जो कोई साधु रागभाव से पर पदार्थ में प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है। जो सम्यग्ज्ञानी है वह शुभ संयोग होने पर भी राग नहीं करते हैं, समभाव रखते हैं।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ।।५९।।

भावार्थ—तप रहित जो ज्ञान है व सम्यग्ज्ञान रहित जो तप है सो दोनों ही मोक्ष साधन में अकार्यकारी हैं इसलिए जो साधु सम्यग्ज्ञान सहित तप पालते हैं वे ही निर्वाण को पा सकते हैं।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसुए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ।।६६।।

भावार्थ—जब तक यह मनुष्य इन्द्रियों के विषयों मे आसक्त होकर प्रवर्तता है तब तक वह आत्मा को नही पहचान सकता है। जो योगी विषयों से विरक्तचित्त होते हैं वे ही आत्मा को जानकर अनुभव कर सकते है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ।।६८।।

भावार्थ—जो कोई साधु विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जान कर उसकी बार-बार भावना करते हैं और तप व मूलगुणो को पालते हैं वे चार गतिरूप संसार से मुक्त हो जाते है।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ।।६९।।

भावार्थ—जो कोई मोह से परद्रव्यों मे परमाणु मात्र भी रागभाव रखता है वह मूढ अज्ञानी है, वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत वर्तन करता है। आत्मज्ञानी वही है जो आत्मा को आत्मारूप जाने और अपना मोह किसी भी पर द्रव्य से रचमात्र भी न करे।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार में कहते हैं—

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ।।७२।।

भावार्थ—जो साधु जिनवाणी में परम भक्तिवन्त है तथा जो भक्ति पूर्वक गुरु की आज्ञा को मानते हैं वे मिथ्यात्व से अलग रहते हुए व शुद्ध भावों में रमते हुए ससार से पार हो जाते हैं।

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणिमरणाणि ।
मरिहन्ति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणन्ति ।।७३।।

भावार्थ—जो जिनवाणी के रहस्य को नहीं जानते हैं ऐसे सम्यग्ज्ञान रहित प्राणी बार-बार अज्ञान मरण करते हैं, वे बार-बार बिना चाहे हुए ही अकाल में मरते हैं। उन बिचारों को मरण का दुःख बार-बार सहना पड़ता है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूदं ।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।८५।।

भावार्थ—यह जिनवाणी का पठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रिय विषय के सुख से वैराग्य पैदा कराने वाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत को पिलाने वाली है; जरा, मरण व रोगादि से उत्पन्न होने वाले सर्व दुःखों को क्षय करने वाली है।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के पंचाचार अधिकार में कहते हैं -

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ।।८८।।

भावार्थ—जो कोई शास्त्रो के वाक्यों को व शास्त्रों के अर्थ को तथा दोनो को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध पढता है उसीके ज्ञान को शुद्धता होती है।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ।।८९।।

भावार्थ—जो विनय पूर्वक शास्त्रो को पढा हो और प्रमाद से कालान्तर में भूल भी जावे तो भी परभव में शीघ्र याद हो जाता है— थोड़े परिश्रम से आ जाता है तथा विनय सहित शास्त्र पढ़ने का फल केवल ज्ञान होता है।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ।।१७१।।

भावार्थ—जो ज्ञानी होकर दूसरे को सिखाता है ज्ञान का पुनः पुनः मनन करता रहता है, ज्ञान से दूसरों को धर्मोपदेश करता है, तथा ज्ञान पूर्वक चारित्र पालता है वही सम्यग्ज्ञान की विनय करता है।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक में कहते हैं :—

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ।।८९।।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यग्ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यग्ज्ञानी ही नये कर्म नही बांधता है। सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र होता है इसलिये ज्ञान की विनय करनी योग्य है।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना में कहते हैं :—

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ।।६२।।

भावार्थ—जो साधु ज्ञान के प्रकाश को रखने वाले हैं वे ज्ञान की ज्योति से परमार्थ जो परमात्म तत्व है उसको जानने वाले होते हैं। उनके भीतर जिन भाषित पदार्थों में शंका नही होती है तथा वे ग्लानि रहित होते हैं तथा वे ही आत्मबल से साहस पूर्वक मोक्ष का साधन करते हैं।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ।।६७।।

भावार्थ—वे ही मुनि मोक्षरूपी परम पद के स्वरूप को जानने वाले होते हैं जो अपने कानो को शास्त्र रूपी रत्नो से विभूषित रखते हैं अर्थात् जो जिन वाणी को रुचि से सुनते हैं, जो प्रमाण और नय के ज्ञाता हैं, विशाल बुद्धिशाली हैं तथा सर्व शास्त्र के ज्ञान में कुशल हैं।

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ।।६८।।
उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ।।६९।।

भावार्थ—जो मुनि मान के स्तम्भ से रहित हैं, जाति, कुल आदि के मद से रहित हैं, उद्धतता रहित हैं, शान्त परिणामी हैं, इन्द्रिय विजयी हैं, मार्दव धर्म से युक्त हैं, आत्मा व अनात्मा के ज्ञाता हैं, विनयवान हैं, पुण्य पाप के स्वरूप के ज्ञाता हैं, जिन शासन में दृढ़ श्रद्धानी हैं, द्रव्य

पर्यायों के ज्ञाता हैं, तेरह प्रकार चारित्र से संवर युक्त हैं अथवा दृढ़ आसन के धारी हैं वे ही साधु ध्यान के लिये उद्यमी रहते हैं।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकारमें कहते हैं:-

सज्झायं कुव्वंत्तो पंचिदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खु ।।७८।।

भावार्थ—शास्त्र स्वाध्याय करने वाले के स्वाध्याय करते हुए पांचों इन्द्रिय वश में होती है, मन, वचन, कार्य स्वाध्याय में रत हो जाते हैं, ध्यान में एकाग्रता होती है, विनय गुण से युक्त होता है, स्वाध्याय परमोपकारी है।

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठ ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं।।७६।।

भावार्थ—तीर्थ करो द्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतरी बारह प्रकार तप में स्वाध्याय तप के समान कोई तप नहीं है न होवेगा इसलिये स्वाध्याय सदा करना योग्य है।

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ।।८०।।

भावार्थ—जैसे सूत के साथ सुई हो तो कभी प्रमाद से भी खोई नही जा सकती है वैसे ही शास्त्र का अभ्यासी पुरुष प्रमाद के दोष होते हुए भी कभी ससार में पतित नही होता है--अपनी रक्षा करता रहता है। ज्ञान बड़ी अपूर्व वस्तु है।

(१२) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुः
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।।१४।।

भावार्थ—हे सभवनाथ भगवान्! आपने अनेकांत वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद नय से उपदेश किया है इसीलिये आपके दर्शन में बन्ध तत्व, मोक्ष तत्व सिद्ध होता है, दोनों का साधन भी ठीक२ सिद्ध होता है। बद्ध व मुक्त

आत्मा की भी सिद्धि होती है व मुक्ति का फल भी सिद्ध होता है। परन्तु जो वस्तु को एकांत मानते हैं उनके यहां ये सब बातें सिद्ध नहीं हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने से ही ये सब बातें नहीं बनेगी द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानने से ही बन्ध व मोक्ष सिद्ध हो सकते हैं।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणोतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ।२५।

भावार्थ—हे सुमतिनाथ भगवान! आपका यह कथन ठीक सिद्ध होता है कि पदार्थ में किसी अपेक्षा से अस्तिपना है व दूसरी किसी अपेक्षा से नास्तिपना है। इनका वर्णन स्याद्वाद द्वारा मुख्य व गौण रूप से किया जाता है। इसी से हमारे द्वारा आप स्तुति योग्य हैं।

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषमात्मविद्विषाम् ॥१०२॥

भावार्थ—हे अरहनाथ! आपके स्याद्वाद न्याय में जो स्यात् शब्द है वह एक स्वभाव को जिसकी ओर वर्णन है यथार्थ प्रकाश करता हैं तो भी पदार्थ सर्वथा ऐसा ही हैं इस एकान्त को निषेध करता है। यही वस्तु का स्वरूप है। जो एकांती स्याद्वाद के ज्ञान से शून्य हैं वे अपने आपके अनिष्ट करने वाले हैं। एकान्त मान के यथार्थ वस्तु स्वरूप को नही पाते हैं।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

भावार्थ—जो वस्तु के स्वरूप को न कम जाने न अधिक जाने, न विपरीत जाने, किंतु जैसा का तैसा सन्देह रहित जाने उसको आगम के ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान इस प्रकार जानता है कि

इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों के साधन का कथन है, जीवन चरित्र है व त्रेसठ महापुरुषों का पुराण है। जिससे पुण्य का आश्रय मिलता है व जिसमें रत्नत्रय व ध्यान का भन्डार है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण को त्रेसठ महापुरुष कहते हैं।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैतिकरणानुयोगं च ।।४४।।

भावार्थ—करणानुयोग उसको कहते हैं जो लोक और अलोक के विभाग को काल की पलटन को, चार गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रगट करता है—सम्यग्ज्ञान ऐसा जानता है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।४५।।

भावार्थ—जिसमें गृहस्थ और मुनियों के आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा का कथन हो वह चरणानुयोग है ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ।।४६।।

भावार्थ—द्रव्यानुयोग रूपी आगम वह है जो जीव अजीव तत्वों को पुण्य व पाप के स्वरूप को, बन्ध तथा मोक्ष को तथा भाव श्रुत के प्रकाश को अर्थात् आत्मज्ञान को प्रगट करे।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसा में कहते हैं—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ।।१०१।।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका केवलज्ञान प्रमाण ज्ञान है। इसमें एक ही साथ सर्व पदार्थ झलकते हैं। जो अल्प ज्ञानियों में क्रमवर्ती ज्ञान होता है वह भी प्रमाणीक है, यदि वह ज्ञान स्याद्वाद नय द्वारा संस्कृत हो अर्थात् स्याद्वाद से सिद्ध हो सके।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

भावार्थ—केवलज्ञान होने का फल वीतराग भावो का होना है। अन्य अल्पज्ञानियो के होने वाले प्रमाणरूप ज्ञान का फल त्यागने योग्य व ग्रहण योग्य के भीतर विवेक बुद्धि का प्राप्त करना है तथा वीतराग भाव भी है। सर्व ही मतिज्ञान आदि का फल अपने-अपने विषय में अज्ञान का नाश है।

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके मत में तथा श्रुत केवलियों के मत में स्याद्वाद में जो स्यात् शब्द है वह अव्यय है उसका अर्थ किसी अपेक्षा से है। यह शब्द बताता है कि जो वाक्य कहा गया है उसमे किसी विशेष स्वभाव की तो मुख्यता है, दूसरे स्वभावो को गौणता है। यह वाक्य ही प्रगट करता है कि वस्तु अनेकान्त है, अनेक धर्मों को रखने वाली है जैसे स्यात् अस्ति घट· इस वाक्य मे किसी अपेक्षा से घट है ऐसा कहते हुए घट में भावपने की मुख्यता हैं तब अभावपने की गौणता है, ऐसा स्यात् शब्द बताता है।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्योगात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

भावार्थ—यह स्याद्वाद न्याय है वह किसी अपेक्षा से एक स्वभाव को कहने वाला है तथापि वस्तु सर्वथा ऐसी ही है इस एकान्त को निषेध करने वाला है। मुख्य गौण कथन की अपेक्षा उसके सात भंग हो जाते हैं, जैसा पहले बताया जा चुका है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

भावार्थ—जैसे केवलज्ञान सर्व तत्वों को प्रकाश करता है वैसे स्याद्वादनय गर्भित श्रुतज्ञान भी सर्व तत्वों को प्रकाश करता है। इन दोनों में भेद इतना ही है कि केवलज्ञान जब प्रत्यक्ष जानता है तब श्रुतज्ञान

परोक्ष जानता है। इनके सिवाय जो कुछ ज्ञान है वह वस्तु का स्वरूप यथार्थ नहीं है।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ।।५७।।

भावार्थ—वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न व्यय होती है, वह बराबर नित्य प्रगटरूप से बनी रहती है तथापि पर्याय की अपेक्षा उपजती विनशती है। आपके सिद्धान्त में जो सत् पदार्थ है वह एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य है उसी समय पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।५९।।

भावार्थ—वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है इसी का दृष्टात है कि कोई मानव सुवर्ण के घट को तोड कर मुकुट बना रहा था उसी समय तीन आदमी आए, जो सुवर्ण के घट को लेना चाहता था, वह घट को तोडते हुए देखकर शोक में हो जाता है। जो मुकुट का अर्थी है वह हर्षित होता है परन्तु जो केवल सुवर्ण को ही लेना चाहता है वह उदासीन है। क्योकि सुवर्ण द्रव्य घटरूप से नष्टहोकर मुकुटरूप में बदल रहा है तथापि सुवर्ण वही है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।।६०।।

भावार्थ—दूसरा दृष्टांत है कि कही पर दही और दूध दोनो रक्खे थे। जिस किसी को दही का त्याग था दूध का त्याग न था वह दूध को पीता है। जिसे दूध का त्याग था दही का त्याग न था वह दही को पीता है। परन्तु जिसे गोरस का ही त्याग था वह दोनो को ही नही खाता है। दूध की पर्याय पलट कर दही बना तथापि गोरसपना दोनो में है। इसलिए हरएक वस्तु सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है, नित्य अनित्य रूप है जिसकी सिद्धि स्याद्वाद से भले प्रकार की जाती है।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं—

णिउणं विउलं सुद्धं, णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं, अहो व रत्ति च पठिदव्वं ।।१०१।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! इस जिनवाणी को रात्रिदिन पढ़ना चाहिये। यह जिनेन्द्र का वचन प्रमाण के अनुकूल पदार्थों को कहनेवाला है, इससे निपुण है तथा बहुत विस्तारवाला है, पूर्वापर विरोध से रहित दोषरहित शुद्ध है, अत्यन्त दृढ़ है अनुपम है तथा सर्व प्राणी मात्र का हितकारी है और रागादि मल को हरने वाला है।

आदहिदपरिण्णाणभा, वसंवरोणवणवो य संवेगो ।
णिक्कम्पदा तवोभावणा, य परदेसिगत्तं च ।।१०२।।

भावार्थ—जिनवाणी के पढ़ने से आत्म हित का ज्ञान होता है, सम्यक्त आदि भाव सवर की दृढता होती है, नवीन नवीन धर्मानुराग बढता है, धर्म में निश्चलता होती है, तप करने की भावना होती है और पर को उपदेश देने की योग्यता आती है।

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं अण्णाणियस्स जा सोधी ।
तत्तो बहुगुणदरिया,होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ।।१११।।

भावार्थ—शास्त्र ज्ञान के मनन बिना जो अज्ञानी को बेला, तेला, चौला आदि उपवास के करने से शुद्धता होती हैं उससे बहुतगुणी शुद्धता सम्यग्ज्ञानी को आत्म ज्ञान को मनन करते हुए जीमते रहने पर भी होती है।

अक्खेविणी कहा सा, विज्जाचरण उवदिस्सदेजत्थ ।
ससमयपरसमयगदा, कहा दु विक्खेविणी णाम ।।६५९।।
संवेयणी पुण कहा, णाणचरित्ततववीरियइट्टिगदा ।
णिव्वेयणी पुण कहा, सरीरभोगे भवघेए ।।६६०।।

भावार्थ—सुकथा चार प्रकार की होती हैं—(१) **आक्षेपिणी**—जो ज्ञान का व चारित्र का स्वरूप बताकर दृढ़ता कराने वाली हो। (२) **विक्षेपिणी**—जो अनेकान्त मत की पोषक व एकान्त मत को खण्डन करने वाली हो। (३) **संवेजिनी कथा**—जो ज्ञान चारित्र तप वीर्य में प्रेम बढ़ाने

वाली व धर्मानुराग कराने वाली कथा हो, (४) **निर्वेदिनी**—जो संसार शरीर भोगों से वैराग्य बढ़ाने वाली हो।

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं।
णाणं अंकुसभूदं, मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७६३॥

भावार्थ—ज्ञान का उपयोग सदा करना चाहिये। जो शास्त्र ज्ञान का मनन नहीं करते वे चित्त को रोक नहीं सकते। मन रूपी मदोन्मत्त हाथी के लिये ज्ञान ही अंकुश है।

उवसमइ किण्हसप्पो, जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो, सुट्ठुवउत्तेण णाणेण ॥७६५॥

भावार्थ—जैसे विधि से प्रयोग किये हुए मन्त्र से काला सांप भी शान्त हो जाता है वैसे भले प्रकार मनन किये हुए ज्ञान के द्वारा मन रूपी काला सांप शान्त हो जाता है।

णाणपदीवो पज्जलइ जस्स हियए वि सुद्धलेसस्स।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासयभयं ण तस्सत्थि ॥७७०॥

भावार्थ—जिस शुद्ध लेश्या या भावों के धारी के हृदय में सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक जलता रहता है उसको जिनेन्द्रकथित मोक्ष मार्ग में चलते हुए कभी भी भ्रष्ट होने का व कुमार्ग में जाने का भय नहीं है।

णाणुज्जोएण विणा, जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगन्तुं।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि, अंधलयो अंधयारम्मि ॥७७४॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष मार्ग में जाना चाहता है वह अन्धा होकर महान अन्धकार मे अति दुर्गम स्थान में जाना चाहता है।

भावे सगविसयत्थे, सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तधा जुगवं, केवलणाणं पयासेदि ॥२१३८॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने विषय में तिष्ठते हुए सर्व पदार्थों को एक साथ प्रकाश करता है वैसे केवल ज्ञान समस्त पदार्थों को प्रकाश करता है।

(१६) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं :—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ।।२३।।

भावार्थ—अज्ञान स्वरूप शरीरादि की या अज्ञानी गुरुकी या मिथ्या शास्त्र की आराधना करने से मोह भ्रम से देहादि अज्ञान की ही प्राप्ति होगी किन्तु ज्ञान स्वभावी आत्मा की या सम्यग्ज्ञानी गुरु की या सम्यक् शास्त्र की आराधना करने से आत्म ज्ञान व आत्मानुभव की प्राप्ति होगी ।

(१७) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधि शतक में कहते हैं :—

अविद्याऽभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ।।३७।।

भावार्थ—अविद्या या मिथ्या ज्ञान के अभ्यास से यह मन अपने वश में न रहकर अवश्य आकुलित होगा—पर पदार्थ में रमेगा, वही मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वय ही आत्मतत्व के रमण में ठहर जायगा ।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।।५०।।

भावार्थ—ज्ञानी को उचित है कि आत्मज्ञान के सिवाय और कार्य को बुद्धि मे चिरकाल धारण न करे। प्रयोजन वश कुछ दूसरा काम करना पडे तो वचन व कार्य से करले,मन को उसमें आशक्त न करे।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ।।८६।।

भावार्थ—जो कोई अव्रती हो वह व्रती होकर आत्मज्ञान के अभ्यास मे लीन हो। जिसको परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह इसीका अनुभव करता है वह अवश्य परमात्मा हो जाता है ।

बिदिताऽशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ।।९४।।

भावार्थ—जो देहमें आत्मा की बुद्धि रखता है ऐसा वहिरात्मा अज्ञानी जीव सर्व शास्त्रों को पढ चुका है तथा जाग रहा है तो भी वह कर्मों से

मुक्त नहीं हो सकता है किन्तु जो आत्मज्ञानी है वह सोते हुए हैं व कदाचित उन्मत्त हैं—गृहस्थ में फँसा है तो भी कभी न कभी मुक्त हो जायगा।

(१८) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।।१७०।।

भावार्थ—बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह इस मन रूपी बन्दर को शास्त्ररूपी वृक्ष में प्रतिदिन रमावे। इस शास्त्ररूपी वृक्ष में अनेकान्त स्वरूप अनेक स्वभाव व गुण व पर्यायरूपी फल-फूल हैं उनसे यह नम्रीभूत है। यह वृक्ष वचनरूपी पत्रों से व्याप्त है। सैकड़ों महान नयो या अपेक्षाओ की शाखाओ से शोभित है, तथा इस शास्त्ररूपी वृक्ष का बहुत बड़ा विस्तार है तथा इसका मूल प्रखर मतिज्ञान है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ।।१७६।।

भावार्थ—जैसे रत्न अग्नि मे पड़कर विशुद्ध हो जाता है व शोभता है वैसे भव्य जीव रुचिवान शास्त्र में रमण करता हुआ विशुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। परन्तु जैसे अगारा अग्नि में पड़ कर कोयला हो जाता है या राख हो जाता है वैसे दुष्ट मानव शास्त्र को पढ़ता हुआ भी रागी, द्वेषी होकर कर्मों से मैला हो जाता है।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।१७७।।

भावार्थ—अध्यात्म का ज्ञाता मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैला कर जैसे पदार्थों का स्वरूप है वैसा उनको देखता हुआ राग व द्वेष को दूर करके आत्मा को ध्याता है।

(१९) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं—

सत्थं पढंतह ते वि जड़ अप्पा जे ण मुणंति ।
तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति ।।५२।।

भावार्थ—जो कोई शास्त्रों को पढ़ते हैं परन्तु आत्मा को नहीं जानते हैं वे जीव कभी भी निर्वाण को नहीं पा सकते हैं।

जह लोयम्मिय णियडहा तह सुणम्मिय जाणि ।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ।।७१।।

भावार्थ—वे ही ज्ञानी हैं जो पुण्य व पाप को सुवर्ण की तथा लोहे की बेड़ी जानते हैं। दोनों को बन्धन मानते हैं।

सुव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ।।६८।।

भावार्थ—सर्व ही जीव शुद्ध ज्ञानमई हैं ऐसा जो जानता है वही समभाव का धारी है इसी के सामायिक जानो ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(२०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं—

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलं ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांत्रमुर्हूर्त्ततः ।।६६।।

भावार्थ—आत्मध्यान श्रुतज्ञान का ध्यान है। द्वादशागवाणी का सार आत्मज्ञान है। उसी का अनुभव श्रुतज्ञान का अनुभव है तथा वही ध्यान है। यह वीतरागरूप, यथार्थ, अति निश्चल एक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है जिसका फल स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्विकं ।।६८।।

भावार्थ—क्योंकि योगीगण मन द्वारा श्रुतज्ञान के बल से ध्यान करते हैं, इसलिए स्थिर मन ही ध्यान है, यही निश्चय तत्वरूप श्रुत-ज्ञान है।

ज्ञानादर्थान्तरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूत्वं ज्ञानमात्मेति कीर्तितं ।।६९।।

भावार्थ—ज्ञान कहो चाहे आत्मा कहो दोनो एक ही बात है क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा से ही होता है, किसी अन्य द्रव्य से नहीं

होता है। यह ज्ञान गुण जो बराबर पूर्वापर चला आ रहा है वही आत्मा है ऐसा कहा गया है।

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥२३५॥

भावार्थ—सर्व जीवों का स्वभाव अपने को व पर को एक साथ उसी तरह प्रकाश करता है जैसा सूर्यमण्डल अपनेको तथा परको प्रकाश करता है। उन जीवों में ज्ञान का प्रकाश स्वाभाविक है, दूसरे पदार्थ से नहीं है जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशरूप है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ—जब सर्व कर्म का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा अपने स्वरूप में ही ठहर जाता है और एक समय में ही स्वपर को जानता है। जैसे योग्य कारणो से ससर्ग में आया हुआ मल निकल जाने पर मणि स्वभाव से चमक उठती है।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—अरहन्त व सिद्ध परमात्मा घाति कर्मों के क्षय होने पर न तो किसी पर मोह करते हैं, न सशय किसी बात में करते हैं, न उनके भीतर अनध्यवसाय (ज्ञान में प्रमाद) है, न वह राग करते हैं न द्वेष करते हैं। किन्तु सदा ही प्रतिक्षण ही अपने ही शुद्ध स्वरूप मे स्थित हैं।

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥

भावार्थ—वे केवलज्ञानी परमात्मा अपने आत्मा को तथा तीन काल के ज्ञेय पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है वैसा पूर्णपने जानते देखते हुए वीतरागी रहते हैं।

(२१) श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

भावार्थ—निश्चयनय वह हैं जो सत्यार्थ मूल पदार्थ को कहे। व्यवहारनय वह है जो असत्यार्थ पदार्थ को कहे। प्रायः सर्व ही संसारी प्राणी निश्चयनय से कथन योग्य सत्यार्थ वस्तु के ज्ञान से बाहर होरहे हैं।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

भावार्थ—जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को जानकर मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य जिनवाणीके उपदेशका पूर्ण फल पाता है।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवन्तों ने सम्यग्ज्ञान को कार्य तथा सम्यग्दर्शन को कारण कहा है। इसलिए सम्यग्दर्शन के पीछे ज्ञान की आराधना करना उचित है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

भावार्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी तरह जैसे दीपक से प्रकाश होता है तोभी जैसे दीपक कारण है, प्रकाश कार्य है, वैसे सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

भावार्थ—व्यवहार नय से सत्रूप व अनेक धर्म स्वरूप तत्वों को संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जानना चाहिए। वही सम्यग्ज्ञान है। निश्चयनय से यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान को आठ अंग सहित सेवन करना चाहिए। (१) ग्रन्थशुद्धि—शुद्ध पढ़ना (२) अर्थ शुद्धि—अर्थ शुद्ध करना, (३) उभय शुद्धि—शब्द व अर्थ शुद्ध पढ़ना, (४) कालाध्ययन—ठीक समय पर पढ़ना, (५) विनय, (६) उपधान—धारणा सहितपढ़ना, (७) बहुमानेनसमन्वित-बहुत मान से पढ़ना, (८) अनिह्नव—गुरु को व ज्ञान को न छिपाना।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनम् भवति ॥२१३॥

भावार्थ—जितने अश किसी के परिणाम में सम्यग्ज्ञान होता है उतने अश से कर्म का बन्ध नही होता हैं किन्तु जितने अंश राग होता है उतने अश कर्म का बन्ध होता है। सम्यग्ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है, बन्ध का कारण औदयिक भाव रागद्वेष मोह है।

(२२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार में कहते हैं—

वाचनापृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ॥१६-७॥
वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ॥१७-७॥
तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा ।
परं प्रत्यनुयोगाय प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥१८-७॥
आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।
कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥१९-७॥
साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०-७॥

भावार्थ—शास्त्रों का स्वाध्याय व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, सो स्वाध्याय पाँच प्रकार जिनेन्द्रों ने कहा है। वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा। किसी ग्रन्थ का व उसके पद्य का तथा उसके अर्थ का या दोनो का दूसरे पात्र को सुनाना या स्वयं पढना, वाचना है। सशय दूर करने को, पदार्थ को निश्चय करने को व दूसरों को समझाने के लिये जो पूछना उसे जिनों ने पृच्छना कहा है। शुद्ध शब्द व अर्थ को घोखकर कण्ठ करना आम्नाय कहा जाता है। धर्म कथा आदि का उपदेश करना धर्म देशना है। भले प्रकार जाने हुए पदार्थ का मन से बार-बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥३२-७॥

भावार्थ—ज्ञान को बहुत मान व आदर से ग्रहण करना, अभ्यास करना व स्मरण करना, मनन करना आदि ज्ञान की विनय कही जाती है।

(२३) श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री समयसार कलश में कहते हैं :—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।४।।

भावार्थ—निश्चय नय और व्यवहार नय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी में जो रमण करते हैं, उनका मिथ्यात्व भाव स्वयं गल जाता है। तब वे शीघ्र ही अतिशय करके परम ज्योति स्वरूप, प्राचीन, किसी भी खोटी युक्ति से अखण्डित शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ही लेते है।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ।।१३।।

भावार्थ—शुद्ध निश्चय नय के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान अनुभव है ऐसा जान करके जब कोई अपने आत्मा को अपने आत्मा मे निश्चल रूप से धारण करता है तब वहाँ सर्व तरफ से नित्य ही एक ज्ञान घन आत्मा ही स्वाद में आता है।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ।।१४-३।।

भावार्थ—ज्ञान के ही प्रताप से आत्मा और पर का भेद विज्ञान जाना जाता है। जैसे दूध और पानी अलग-अलग हैं। ज्ञानी अपनी

निश्चल चैतन्य धातुमयी मूर्ति में सदा दृढ़ निश्चय रखता हुआ जानता ही है, कुछ भी करता नहीं है।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ।।१५-३।।

भावार्थ—ज्ञानके ही प्रतापसे गर्म पानीमे यह झलकता है कि पानी का स्वभाव शीतल है तथा उष्णता अग्नि की है। ज्ञान के ही प्रताप से किसी बने हुए साग में साग का स्वाद अलग और लवण का स्वाद अलग भासता है। यह ज्ञान का ही प्रभाव है जिससे क्रोध का मैं कर्ता हू, इस अज्ञान का नाश होकर ऐसा झलकता है कि मै क्रोधादिकी कलुषतासे भिन्न अपने आत्मीक रस से नित्य भरा हुआ चैतन्य धातुमय आत्मा मात्र हूँ।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्ज्जनशीलः।
लिप्यतेसकलकर्मभिरेषः कर्म्ममध्यपतितोऽपि ततो न१७-७

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावो से भिन्न अपने को अनुभव करता है। इसलिये कर्मो के मध्य पड़े रहने पर भी कर्म बन्ध से नही बधता है। यह आत्मज्ञान की महिमा है।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ।।५-१०।।

भावार्थ—अज्ञानी सदा ही कर्म की प्रकृतियों के स्वभावो में अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है उसमें लीन होकर सुख दुःख का भोक्ता हो जाता है। ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् कर्मो के उदय से विरक्त रहता है, इसलिये कभी भी भोक्ता नही होता है, वह ज्ञाता रहता है। ऐसा नियम समझकर अज्ञानपना त्याग देना चाहिये, और शुद्ध एक आत्मा की निश्चल ज्योति में थिर होकर ज्ञान भाव का सेवन करना चाहिये।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः २२-१०

भावार्थ—जो शुद्ध द्रव्य के विचार में है और तत्व को देखने वाला है उसके मत में एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता है। जो शुद्ध आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेय या जानने योग्य पदार्थों को जानता है सो यह उस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है तब फिर अज्ञानी जन आत्मा को छोड़कर परद्रव्य के ग्रहण के लिये आकुल व्याकुल होकर आत्मतत्व के अनुभव से क्यों पतन कर रहे हैं ? ज्ञान में कोई पदार्थ आता नहीं, ज्ञान किसी पदार्थ में जाता नहीं, तो भी ज्ञान सर्व ज्ञेयों को अपने स्वभाव से जानता है। यह ज्ञान के प्रकाश का महात्म्य है।

स्याद्वादवीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥६—१२॥

भावार्थ—स्याद्वाद के द्वारा मेरे भीतर आत्म तेज का प्रकाश हो गया है। जब मेरे में शुद्ध स्वभाव की महिमा प्रगट हो रही है तब वहाँ बन्ध मार्ग व मोक्ष मार्ग सम्बन्धी भावों से क्या प्रयोजन रहा ? कुछ भी नहीं। इसलिये सदा ही यह मेरा उत्कृष्ट स्वभाव मेरे में प्रकाशमान रहो। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा सदा ही एकाकार शुद्ध अनुभव में आता है। वहाँ बन्ध व मोक्ष के विचार की कोई जगह नहीं है।

(२४) श्री अमितिगति महाराज तत्त्व भावना में कहते हैं :—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो ।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि ॥
दत्तोत्पत्तिमनस्तमस्ततिहतेर्दीप्यत्वे सर्वदा ।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते ।८५॥

भावार्थ—जिनके भीतर सम्यक् दर्शन को पवन से प्रेरित सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि की तीव्र ज्वाला सर्व तत्वों को स्पष्ट दिखाती हुई, पाप रूपी ईंधन को जलाती हुई, मन के अन्धकार के प्रसार को दूर करती हुई सदा जलती है वे नाना प्रकार चारित्र का पालन करते हैं। जिनको देखकर किसको आश्चर्य न आयेगा? अर्थात् वे अद्भुत चारित्र का पालन करते हैं।

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रिये ।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति शृण्वंति च ।।
लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः ।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते ।।१०५।।

भावार्थ—जो कोई परमार्थ स्वरूप बताने वाली, उत्कृष्ट सम्यक्-दर्शन को देनेवाली, मोक्ष रूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढते हैं, सुनते हैं व उस पर रुचि करते हैं ऐसे सज्जन इस कषायो के दोषो से मलीन लोक में दुर्लभ हैं—कठिनता से मिलते हैं और जो उस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम बुद्धि करते हैं उनकी बात क्या कही जावे? वे तो महान दुर्लभ हैं। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ।।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः।१२०।

भावार्थ—परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोकादि दोषों से रहित है, अपने स्वभाव से पूर्ण है, सर्व कर्म मलरहित है, नाश रहित नित्य है। जो लोग चतुर हैं, इन्द्रियो के विजयी हैं, जन्म मरण से भयभीत हैं, ससार की यात्रा को नही चाहते हैं उनको ऐसे शुद्ध आत्मा का चिन्तवन बाधा रहित, अतीन्द्रिय, स्थिर व शुद्ध सुख की प्राप्ति के लिये करना योग्य है। निश्चय से अपना आत्मा भी ऐसा ही है। अपने आत्मा को भी परमात्मा के समान जानकर सदा अनुभव करना चाहिये, जिससे सहज सुख का लाभ हो।

(२५) श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुति में कहते हैं :—

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेकं परम् ।।१४।।

भावार्थ—जिस पुरुष की मति स्याद्वाद रूपी जल के भरे समुद्र में स्नान करने से धोई गई है—निर्मल हो गई है वही शुद्ध व मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा वह उसी स्वरूप को ग्रहण करने योग्य साक्षात् मानता है। व्यवहार से सिद्ध में व संसारी में भेद किया हुआ है। यदि निश्चय से इस भेद को दूर कर दिया जावे तो जो सिद्ध स्वरूप है वही इस अपने आत्मा का स्वभाव है, उसी ही को अनुभव करना योग्य है।

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानेकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ।।२४।।

भावार्थ—जो पुरुष विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्री सिद्ध परमात्मा को जानता है वही सर्व बुद्धिमानो में शिरोमणि है। जो सिद्ध परमात्मा के ज्ञान से शून्य होकर तर्क व्याकरण आदि शास्त्रो को जानता है तो उससे क्या प्रयोजन होगा ? बाण तो उसे ही कहते हैं जो निशानी को वेध सके अन्यथा व्यर्थ है। आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, उसके बिना अनेक विद्याएँ आत्म हितकारी नहीं हैं।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय में कहते हैं :—

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः ।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः।।३६।।

भावार्थ—इस जगत में जब तक परमात्मा का ज्ञान मानव के हृदय में नहीं विराजता है तबतक ही बुद्धि रूपी नदी, शास्त्र रूपी समुद्र की तरफ आगे आगे दौड़ती रहती है। आत्मा का अनुभव होते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गतासा सती न सदृशी कुयोषिता।३८।

भावार्थ—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी कुल घर से निकलकर बाहरी शास्त्रों के वन मे विहार करती हुई नाना विकल्प करने वाली हैं वह बुद्धि सती स्त्री के समान पतिव्रता नही है किन्तु खोटी स्त्री के समान व्यभिचारिणी है। बुद्धि वही सफल है जो अपने ही आत्मा मे रमण करे, अनेक शास्त्रो के विकल्प भी न करे।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य सांप्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति।४६।।

भावार्थ—यह मानव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा से सो रहा है। अब तो उसे अध्यात्म शास्त्र को जानना चाहिए और आत्मज्ञान को जागृत करना चाहिए ।

(२७) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपचाशत् में कहते हैं—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ।।८।।

भावार्थ– व्यवहारनय अज्ञानी को समझाने के लिए है परन्तु शुद्ध निश्चयनय कर्मों के क्षय के लिए है। इसलिए मै मोक्ष का इच्छुक होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिए "उस शुद्ध निश्चयनय के आश्रित ही कुछ कहूंगा।"

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिद्धयति सम्यग्बोधादृते जातु ।।१६।।

भावार्थ—जो मुनि अहिंसा धर्म पालता हुआ, एकाकी सर्व प्रकार के कष्टों को व उपसर्गो को सहता हुआ वन मे रहता है परन्तु आत्मज्ञानमई सम्यग्ज्ञान से शून्य है वह मुक्त नही हो सकता। वह बन में वृक्ष के समान ही रहने वाला है।

(२८) श्री पद्मनन्दि मुनि परमार्थविंशति में कहते हैं—

यत्सातं यदसातमंगिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैवतदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिनः ।

ईदृग्भेदविभावनाकृतधियां तेषां कुतोहं सुखी ।
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ।।१२।

भावार्थ—प्राणियों के साता तथा असाता होती है सो कर्मों के उदय का कार्य है। इसलिए वह कार्य भी कर्मरूप ही है। वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न है ऐसा योगीगण जानते हैं। उनके भीतर भेदज्ञान की बुद्धि होती है तब यह विकल्प कि मैं सुखी हूं या मैं दुःखी हूं उनके मन में कैसे हो सकता है ?

(२९) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ।।४।।

भावार्थ—यह जीव पाचों इन्द्रियो के विषयों से विरक्त होकर विनय और आचार सहित ज्ञान की भावना करने से आत्मा के कल्याण को प्राप्त करता है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च ।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ।।५।।

भावार्थ—हे भव्य जीव ! नित्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना ज्ञान के साथ विनयपूर्वक करो नहीं तो मरने पर बहुत पश्चात्ताप होगा कि कुछ न कर सके। मरण का समय निश्चित नहीं है इससे आत्मज्ञान की भावना सदा करनी योग्य है।

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ।।७।।

भावार्थ - मानव जन्म का यही सार फल है जो सम्यग्ज्ञान की भावना की जावे और अपने वीर्य को न छिपाकर संयम का धारण किया जावे।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ।।८।।

भावार्थ—हे भाई ! यदि अपने आत्मा का हित चाहते हो तो ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा सदा ही ज्ञान का मनन करो और तप की रक्षा करो।

ज्ञानादीत्यो हृदियंस्य नित्यमुद्योतकारकः ।
तस्य निर्मलतां याति पंचेन्द्रियदिगंगना ।।१०।।

भावार्थ— जिसके हृदय में ज्ञान सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है उसकी पांचो इन्द्रियों की दिशारूपी स्त्री निर्मल रहती है। अर्थात् इन्द्रियां विकार रहित अपना २ काम ऐसा करती हैं जिससे आत्मा का अहित न हो।

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृतं सदापेयं चित्ताल्हादनमुत्तमम् ।।१२।।

भावार्थ—अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी को निश्चिन्त होकर सर्व राग द्वेषादि के झगड़े छोड़कर चित्त को आनन्द देने वाले उत्तम आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान सदा करना चाहिए।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ।।१३।।
अधुना तत्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुत्तम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीविषयास्वादलालसः ।।१४।।

भावार्थ—आत्म ज्ञान रूपी महा रत्न है उसको अब तक कभी भी तूने इस अनेक दुःखों से भरे हुए भयानक ससार मे भ्रमते हुए नही पाया। उस महारत्न को आज तूने सम्यग्दर्शन सहित प्राप्त कर लिया है तब आत्मज्ञान का अनुभव कर विषयो के स्वाद की लालसा में पड़कर प्रमादी मत बन।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य यातिू स पंडितः ।।१८।।

भावार्थ—वही पडित है जिसका आत्मा का वीर्य शुद्ध तप में खर्च होता है जो ज्ञान को कर्मों के क्षय में लगाता है तथा जिसका धन योग्य पात्रो के काम आता है।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्धयानचिन्तया ।
श्रुतं यस्य समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ।।१९।।

भावार्थ—वही पुण्यात्मा हैं जिसका जन्म गुरु की सेवा करते हुए

बीतता है,जिसका मन धर्मध्यान की चिन्ता में लीन रहता है तथा जिसके शास्त्र का अभ्यास साम्य भाव की प्राप्ति के लिए काम में आता है।

नियतं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मन्त्रपदैर्यथा ॥११३॥

भावार्थ—भयानक भी काम का दाह, आत्मध्यान व स्वाध्याय में ज्ञानोपयोग के बल से नियम से शांत हो जाता है जैसे मन्त्र के पदों से सर्प का विष उतर जाता है।

प्रज्ञांगना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा।
हेयोपादेयतत्वज्ञा या रता सर्वकर्मणि ॥२५८॥

भावार्थ—प्रज्ञा या भेदविज्ञानमई विवेक बुद्धि सर्व कार्यों में त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्व को जानने वाली रहती है इसलिये हरएक पुरुष को उचित है कि इस सुखकारी प्रज्ञारूपी स्त्री की सदा सेवा करें।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति।
गुरुशुश्रूषया काय: शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

भावार्थ—वाणी की शुद्धि सत्य वचन से रहती है, मन सम्यग्ज्ञान से शुद्ध रहता है, गुरुसेवा से शरीर शुद्ध रहता है, यह सनातन से शुद्धि का मार्ग है।

(३०) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं:—

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१-७॥

भावार्थ—जिसमे तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय संयुक्त पदार्थ अतिशय रूप से प्रतिभासित होते हैं उसी को ज्ञानियों ने ज्ञान कहा है। ज्ञान वही है जो सब ज्ञेयों को जान सके।

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥१०-७॥

भावार्थ - केवलज्ञान ज्योति का स्वरूप योगियों ने ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान के अनन्तानन्त भाग में ही सर्व चर अचर लोक तथा अलोक प्रतिभासित हो जाता है। ऐसे अनन्त लोक हों तो भी उस ज्ञान में झलक जावे। इतना विशाल व आश्चर्यकारी केवल ज्ञान है।

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ।।११-७।।

भावार्थ— जिस मिथ्यात्व के अन्धकार को चन्द्रमा नही मेट सकता सूर्य नही भेद — सकता उस अज्ञानांधकार को सम्यग्ज्ञान मेट देता है, ऐसा कहा गया है।

बोध एव दृढ़ः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ।।१४-७।।

भावार्थ—इन्द्रियरूपी मृगो को बाधने के लिये सम्यग्ज्ञान ही दृढ फासी है और चित्तरूपी सर्प को वश करने के लिये सम्यक्ज्ञान ही एक गारुड़ी महामन्त्र है।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ।।१९- ७।।

भावार्थ— इस पृथ्वी पर जो साधु अज्ञानपूर्वक आचरण पालता है वह दीर्घ काल तक तप करता रहे तो भी अपने को कर्म से बाधेगा। अज्ञान पूर्वक तप बन्ध ही का कारण है।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठान निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ।।२०—७।।

भावार्थ— जिस मुनि का सर्व आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उसके कर्मों का बन्ध किसी भी क्षण में नही होता है।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं ।
मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातंगसिंहं ।।
व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं ।
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ।।२२—७।।

भावार्थ—हे भव्य जीव ! सम्यग्ज्ञान की आराधना करो। यह सम्यग्ज्ञान पापरूपी अन्धकार के हरने को सूर्य के समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिए कमल के समान है, कामरूपी सर्प के कीलने को मंत्र के समान है, मनरूपी हाथी के वश करने को सिंह के समान है, आपदारूपी मेघों को उड़ाने के लिए पवन के समान है, समस्त तत्वों को

प्रकाश करने के लिए दीपक के समान है, तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों को पकड़ने के लिए जाल के समान है।

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।

विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ।।२२-२३।।

भावार्थ— भले प्रकार विचार करके हे धीर प्राणी ! तू निश्चय से आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय ले जिस सूर्य के प्रकाश के होने से रागरूपी नदी सूख जाती है।

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।

वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम्।।३१-४२।।

तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।

अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदं ।।३२-४२।।

भावार्थ—केवलीभगवान चार घातीयकर्म के नाश होने पर जिनको पहले कभी प्रगट नही किया था उन केवलज्ञान व केवलदर्शन गुणों को प्रगट कर सर्व लोक और अलोक यथावत् देखते जानते हैं तब ही वे भगवान् सर्व काल प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि विभूतियों के प्रथम स्वामी होते हैं।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं—

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।

निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ।।३-१।।

भावार्थ—जो सर्व पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है इसी रुप से एक ही साथ देखता है व जानता है तथा जो निराकुल है और गुणों का भण्डार है, उसे शुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा कहते हैं।

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।

ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ।।८-८।।

ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः।

ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ।।६-८।।

भावार्थ—इस लोक में शुद्ध चैतन्य के स्वरुप की रुचि रखने वाला मानव दुर्लभ है, उससे भी कठिन चैतन्य स्वरुप के बताने वाले शास्त्र का

मिलना है। उससे भी कठिन उसके उपदेशक गुरु का लाभ होना है। वह भी मिल जाय तौभी चिन्तामणि रत्न के समान भेदविज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि कदाचित् भेदविज्ञान हो जाय तो आत्मकल्याण में प्रमाद न करना चाहिए।

अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥१३-८॥

भावार्थ—सर्वशास्त्रों का ज्ञाता विद्वान को उचित है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए लगातार धारावाही भेदविज्ञान की भावना करे, आत्मा को अनात्मा से भिन्न मनन करे।

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥७-१२॥

भावार्थ—वही सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है जिसको विश्वास है कि सर्व वस्तु सतरूप हैं तथा जो स्यात् शब्द के साथ वाणी बोलता है अर्थात् जो अनेकान्त पदार्थ को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक-एक स्वभाव को बढाता है तथा जिसको यह विश्वास है कि ज्ञान अपने विषय की अपेक्षा जगत व्यापी है।

स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥१२-१२॥

भावार्थ---अपने शुद्ध आत्म स्वरुप का जानना वह श्रेष्ठ निश्चय सम्यग्ज्ञान है। इसही से कर्मों का क्षय होता है तथा इसी को मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का साधन जानो।

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजेत्तत्त्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्बहिरन्तरसंगमुक्तस्य ॥१३-१२॥

भावार्थ—बाहरी भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रह से रहित साधु के मोह के अभाव होने पर जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरुप का अनुभव होता है वह उत्कृष्ट निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः।
तस्यावलम्बनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०-१५॥

भावार्थ—शास्त्र को मनन कर, सद्गुरु के उपदेश से व साधर्मी भाइयों की संगति से अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसीका आलम्बन लेकर तिष्ठ, उसीका मनन ध्यान और चिन्तवन कर, परपदार्थों की संगति छोड़।

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत्।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥८-१७॥

भावार्थ—जानने योग्य पदार्थों का देखना व जानना सिद्ध और संसारी दोनो के होता है। सिद्धो के वह ज्ञानदर्शन निर्विकल्प है, निराकुल स्वाभाविक समभाव रूप हैं, जब कि संसारी जीवो के ज्ञान दर्शन सविकल्प है, आकुलता सहित है।

(३२) पं० बनारसीदास जी समयसार नाटक में कहते हैं :—

सवैया २३

जोग धरें रहे जोगसु भिन्न, अनन्त गुणातम केवल ज्ञानी।
तासु हृदे द्रहसो निकसी, सरिता समव्है श्रुत सिन्धु समानी॥
याते अनन्त नयातम लक्षण, सत्य सरूप सिद्धान्त बखानी।
बुद्धि लखे न लखे दुर्बुद्धि, सदा जगमाहि जगे जिनवाणी॥ ३॥

सवैया ३१

निहचे में एक रूप व्यवहार में अनेक,
याही नय विरोध ने जगत भरमायो है।
जग के विवाद नाशिवे को जिन आगम है,
ज्यामें स्याद्वादनाम लक्षण सुहायो है॥
दर्शन मोह जाको गयो है सहज रूप,
आगम प्रमाण ताके हिरदे में आयो है।
अनय सो अखण्डित अनूतन अनन्त तेज,
ऐसो पद पूरण तुरन्त तिन पायो है॥ ५॥
परम प्रतीति उपजाय गणधर की सी,
अन्तर अनादि की विभावता विदारी है।
भेद ज्ञान दृष्टि सों विवेक की शकति साधि,
चेतन अचेतन की दशा निरवारी है॥
करम को नाशकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिये में हरखि निज शुद्धता सम्भारी है।

अन्तराय नाश गयो शुद्ध परकाश भयो,
ज्ञान को विलास ताको बन्दना हमारी है ।। २ ।।

कवित्त

ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहिं होय।
ज्ञेयरूप षट द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय ।।
जाने भेद भाण सुविक्षण, गुण लक्षण सम्यक् द्दग जोय।
मूरख कहे ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलक लखे नहि कोय ।।५२।।

(३३) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं—

सवैया २३

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयो दुखदाता ।।
सो जडरूप सरूप नही मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नाश करौं पल में सबकौं अब जाय, बसौं सिवखेत विख्याता ।।६५।।
सिद्ध हुए अब होइ जु होइगे, ते सब ही अनुभौगुनसेती।
ताबिन एक न जीव लहैं सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ।।
ज्यौं तुषमांहि नहिं कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती।
यौं लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनाश कला शुभ एती ।।६६।।

सवैया ३१

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजौ परउतपात है।
तातै एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातैं सिव पद लहौ यही ठीक बात है।।
भाव कौ दुखायौ जीव भावहीसौं सुखी होय।
भाव ही कौं फेरि फेरै मोखपुर जात हैं।
यह तौ नीकौ प्रसग लोक कहै सरवंग,
आग ही को दाधौ अग आग ही सिरात हैं ।।१०७।।
केई केई बार जीव भूपति प्रचड भयौ,
केई केई बार जीव कीटरूप धरयौ है।
केई केई बार जीव नौग्रीवक जाय बस्यौ,
केई बार सातमें नरक अवतरयौ है ।।

केई केई बार जीव राघौ मच्छ होइ चुक्यौ,
केई बार साधारन तुच्छ काय धरयौ है।
सुख और दुःख दोऊ पावत हैं जीव सदा,
यह जान ग्यानवान हर्ष सोक हरयौ है ॥११५॥
बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झग में।
आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पन्चइन्द्रीविषैसुखलीन पगपग में।
पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भमैं सिष्टमग में।
जागि जगवासी तू उदासी व्है के विषय सौं,
लागि शुद्ध अनुभौ ज्यों आवै नाहिं जग में ॥११७॥

छप्पै

तिय मुख देखनि अन्ध, मूक मिथ्यात मनन कौं।
बधिर दोष पर सुनन, लुंज षटकाय हनन कौं।
पंगु कुतीरथ चलन, सुन्न हिय लेन धरन कौं।
आलसि विषयनि माहि, नाहि बल पाप करन कौं॥
यह अंगहीन किह काम कौ, करै कहा जग बैठकें।
द्यानत तातैं आठौं पहर, रहैं आप घर पैठ कैं॥५॥
होनहार सो होय, होय नहिं अन-होना नर।
हरष सोक क्यों करै, देख सुख दुःख उदैकर॥
हाथ कछू नहि परै, भाव-ससार बढ़ावै।
मोह करम कौं लियौ, तहा सुख रच न पावै॥
यह चाल महा मूरखतनी, रोय रोय आपद सहै।
ग्यानी विभाव नासन निपुन, ग्यानरूप लखि सिव लहै॥६॥

कवित्त।

देव गुरु सुभ धर्म कौं जानियै, सम्यक आनियै मोखनिसानी।
सिद्धनितें पहलें जिन मानियै, पाठ पढ़ें हूजियै स्रुतग्यानी॥
सूरज दीपक मानक चन्दतें, जाय न जो तम सो तम हानी।
द्यानत मोहि कृपाकर दो वर, दो कर ज्योरि नमौं जिनवानी॥२०॥

सवैया २३

जाहीकौं ध्यावत ध्यान लगावत, पावत हैं रिसि पर्म पदीकौं ।
गा थुति इन्द फनिंद नरिंद, गनेस करें सब छांडि मदीकौं ।।
जाही कौं वेद पुरान बतावत, धारि हरें जमराज बदीकौं ।
द्यानत सो घट मांहि लखौ नित, त्याग अनेक विकल्प नदी कौं ।।३३।।

(३४) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास में कहते हैं—

सवैया ११

जो पै तोहि तरिवे की इच्छा कछु भई भैया,
तौ तौ वीतरागजू के वच उर धारिए ।
भौ समुद्रजल में अनादि ही तें बूड़त हो,
जिननाम नौका मिली चित्ततें न टारिए ।।
खेवट विचार शुद्ध थिरतासौं ध्यान काज,
सुख के समूह को सुदृष्टिसौं निहारिए ।
चलिए जो इह पन्थ मिलिए श्यौ मारग में,
जन्मजरामरन के भय को निवारिए ।।८।।

× × × ×

वीतराग वानी की न जानी बात प्रानी मूढ,
ठानी ते क्रिया अनेक आपनी हठाहठी ।
कर्मन के बन्ध कौन अन्ध कछु सूझै तोहि,
रागदोष पर्णतसो होत जो गठागठी ।।
आतमा के जीत की न रीत कहूं जानै रच,
ग्रन्थन के पाठ तू करै कहा पठापठी ।
मोह को न कियौ नाश सम्यक न लियौ भास,
सूत न कपास करै कारोसो लठालठी ।।१०।।

× × × ×

सुन जिनवानी जिहूं प्रानी तज्यो रागद्वेष,
तेई धन्य धन्य जिन आगम में गाए हैं ।
अमृत समानी यह जिहूं नाहिं उर आनी,
तेई मूढ़ प्रानी भांवभवरि भ्रमाए हैं ।।
याही जिनवानी को सवाद सुखचाखों जिन,
तेही महाराज भए करम नसाए हैं ।
तातें हग खोल भैया लेहु जिनवानी लखि,
सुख के समूह सब याही में बताए हैं ।।४।।

× × × ×

केवली के ज्ञान में प्रमाण आन सब भासै,
लोक औ अलोकन की जेती कछु बात है।
अतीत काल भई है अनागत में होयगी,
वर्तमान समैकी विदित यों विख्यात है ॥
चेतन अचेतन के भाव विद्यमान सबै,
एक ही समै में जो अनंत होत जान हैं।
ऐसी कछु ज्ञान की विशुद्धता विशेष बनी,
ताको धनी यहै हस कैसे विललात है ॥२५॥

छप्पै।

ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषायें।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखाए ॥
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ॥
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानद चेतन धरम ॥८॥

कवित्त।

ग्यारह अंग पढ़े नव पूरव, मिथ्या बल जिय करहिं बखान।
दे उपदेश भव्य समुझावत, ते पावत पदवी निर्वान ॥
अपने उर में मोह गहलता, नहिं उपजै सत्यारथ ज्ञान।
ऐसे दरवश्रुतके पाठी, फिरहिं जगत भाखै भगवान ॥११॥

नौवां अध्याय

सम्यक्‌चारित्र और उसका महात्म्य।

यह बात बताई जा चुकी है कि यह संसार असार है, दुःखों का सागर है, शरीर अपवित्र व नाशवन्त है, भोग अतृप्तिकारी व आकुलतामय हैं। अतीन्द्रिय सहज सुख ही ग्रहण करने योग्य सच्चा सुख है। वह सुख आत्मा ही का स्वभाव है। इसलिए सहज सुख का साधन आत्मानुभव है या आत्म ध्यान है। इसी आत्मानुभव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र की एकता कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का निश्चयनय तथा व्यवहारनय से कुछ स्वरूप कहा जा चुका है। अब इस अध्याय में सम्यक्‌चारित्र का कुछ संक्षिप्त कथन किया जाता है।

निश्चयनय से सम्यक्‌चारित्र—अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना, राग-द्वेष, मोह के विकल्पों से रहित हो जाना, निश्चय सम्यक्‌चारित्र है। आत्मा का स्वभाव यदि विचार किया जावे तो वह शुद्ध अखण्ड ज्ञानानन्दमय द्रव्य है। वही परमात्मा, वही भगवान्, वही

ईश्वर, वही परब्रह्म, वही परम ज्योतिस्वरूप है। उसका यह स्वभाव कभी मिटा नहीं, मिटता नही, मिटेगा नही। उस आत्मा के स्वभाव में न कुछ बन्ध हैं जिससे मुक्ति करने की कल्पना हो, न कोई रागादि भाव है जिनको मिटाना हो, न कोई ज्ञानावरणादि कर्म हैं जिनसे छूटना हो, न कोई शरीरादि नोकर्म हैं जिनकी सगत हटाना हो।

यह आत्मा विकारों से रहित यथार्थ एक ज्ञायक स्वरूप परम शुद्ध समयसार है, स्वसमय है, निराबाध है, अमूर्तिक है, शुद्ध निश्चयनय से उसमें किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वह सदा ही सहजानन्द स्वरूप है। वहां सहज सुख के साधन की कोई कल्पना नही है। यह सब द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध द्रव्य का विचार है। इस दृष्टि में किसी भी साधन की जरूरत नही है। परन्तु पर्यायार्थिक नय या पर्याय की दृष्टि देख रही है। और ठीक-ठीक देख रही है कि इस ससारी आत्मा के साथ तैजस कार्माण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से साथ-साथ चले आ रहे हैं। इस कार्माण शरीर के ही कारणों से रागद्वेष, मोह आदि भाव कर्म पाये जाते हैं तथा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व अन्य बाहरी सामग्रीरूपी नोकर्म का संयोग है।

इस अवस्था के कारण ही इस जीव को जन्म मरण करना पड़ता है, दुःख व सुख के जाल मे फसना पड़ता है, बार-बार कर्म बन्ध करके उसका फल भोगते हुए इस संसार में ससरण करना पड़ता है। इसी पर्याय दृष्टि से या व्यवहार नय से सहज सुख साधन का विचार है। रत्नत्रय का साधन इसी दृष्टि से करने की जरूरत हैं, सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा मे, प्रतीति में, रुचि में जम जाता है, सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप सशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय जाना जाता है, तब सम्यक्चारित्र से इसी श्रद्धा व ज्ञान सहित शुद्ध आत्मीक भाव में रमण किया जाता है, चला जाता है, परिणमन किया जाता है, तिष्ठा जाता है। यही सम्यक्चारित्र है।

इसीलिए चारित्र की बडी भारी आवश्यकता है। किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही सन्तोषित न हो जाना चाहिए। किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिए। बिना चारित्र के श्रद्धान और ज्ञान अपने अभीष्ट फल को नही दे सकते।

एक मनुष्यको श्रद्धान व ज्ञान है कि यह मोती की माला है,पहरने योग्य है, पहरने से शोभा होगी परन्तु जबतक वह उसको पहनेगा नही तबतक उसकी शोभा नही हो सकती। बिना पहरे हुए ज्ञान श्रद्धान व्यर्थ हैं। एक मानव के सामने रसीले पकवान बरफी, पेड़ा, लाडू आदि पदार्थ रक्खे हैं वह उनका ज्ञान व श्रद्धान रखता है कि ये सेवने योग्य हैं, इसका सेवन लाभकारी है, स्वादिष्ट है; परन्तु जब तक वह उन मिष्ट पदार्थों का सेवन एकाग्र होकर न करेगा तबतक उसका श्रद्धान व ज्ञान कार्यकारी नहीं है।

एक मानव के सामने पुष्पों का गुच्छा पड़ा हुआ है। वह जानता है व श्रद्धान रखता है कि यह सूंघने योग्य है। सूंघने से शरीर को लाभ होगा परन्तु यदि वह सूंघे नहीं तो उसका ज्ञान व श्रद्धान कुछ भी काम का न होगा। एक मानव को श्रद्धान है व ज्ञान है कि बम्बई नगर देखने योग्य है। परन्तु जब तक वह बम्बई में आकर देखेगा नही तब तक उसका ज्ञान श्रद्धान सफल न होगा।

एक मानव को श्रद्धान व ज्ञान है कि लाला रतनलाल जी बड़ा ही मनोहर गाना बजाना करते हैं, बहुत अच्छे भजन गाते हैं। जबतक उनको सुनने का प्रबन्ध न किया जाय तबतक यह गाने बजाने का ज्ञान व श्रद्धान उपयोग नहीं दे सकता है। बिना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान की सफलता नहीं।

एक मन्दिर पर्वत के शिखर पर है। हमको यह श्रद्धान व ज्ञान है कि उस मन्दिर पर पहुँचना चाहिए व उसका मार्ग इस प्रकार है, इस प्रकार चलेंगे तो अवश्य मन्दिर में पहुँच जावेंगे, परन्तु हम आलसी बने बैठे रहें, चलने का पुरुषार्थ न करें तो हम कभी भी पर्वत के मन्दिर पर पहुँच नहीं सकते हैं। जो कोई अयथार्थ तत्वज्ञानी अपने को परमात्मावत् ज्ञाता दृष्टा अकर्ता, अभोक्ता, बन्ध व मोक्ष से रहित मान कर, श्रद्धान कर, जान कर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और स्वच्छन्द होकर राग-द्वेष वर्द्धन कारक कार्यों में प्रवृत्ति रखते रहते हैं कभी भी आत्मानुभव का या आत्म ध्यान का साधन नहीं करते हैं वे कभी भी अपने श्रद्धान व ज्ञान का फल नहीं पा सकते। वे कभी भी सहज सुख का लाभ नहीं कर सकते। वे कभी भी कर्मों से मुक्त स्वाधीन नहीं हो सकते।

यथार्थ तत्वज्ञानी स्वतत्व रमण को ही मुख्य सहज सुख का साधन

व मुक्ति का मार्ग मानते हैं। यही जैन सिद्धान्त का सार है। अतएव निश्चय सम्यक्चारित्र के लाभ की आवश्यकता है, स्वात्म रमण की जरूरत है, आत्म ध्यान करना योग्य है। इसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धान होते हुए जितने अंश में स्वस्वरूप में थिरता, एकाग्रता, तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक् चारित्र है।

जैन सिद्धान्त ने इसीलिये स्वात्मानुभव की श्रेणियां बताकर अविरत सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभव को दोयज का चन्द्रमा कहा है। वही पाँचवे देशविरत गुणस्थान में अधिक प्रकाशित होता है। छठे प्रमत्त विरत में इससे अधिक, अप्रमत्त विरत में इससे अधिक--श्रेणी में उससे अधिक, क्षीणमोह गुणस्थान में उससे अधिक,सयोग केवली परमात्माके पूर्णमासीके चन्द्रमा के समान स्वात्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। इसी स्वानुभव को ही धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते हैं। इसीको शुद्ध योग कहते हैं। इसीको कारण समयसार कहते हैं, परमात्मा के स्वानुभव को कार्य समयसार कहते हैं। इसीको सहज सुख साधन कहते हैं। परमात्मा के स्वानुभव पूर्ण अनन्त सुख को सहज सुख साध्य कहते हैं।

वास्तव में मन, वचन, कायो की चचलता राग द्वेष मोह से या कषायों के रंग से रंगी हुई स्वात्मानुभव में बाधक है। जितनी-जितनी यह चंचलता मिटती जाती है उतनी-उतनी ही स्वात्मानुभव की कला अधिक-अधिक चमकती जाती है। जैसे पवन के झोंकों से समुद्र क्षोभित होकर थिर नही रहता है, जितना-जितना पवन का झोंका कम होता जाता है उतना-उतना क्षोभपना भी कम होता जाता है। जब पवन का सचार बिलकुल नही रहता है तब समुद्र बिलकुल थिर हो जाता है उसी तरह राग द्वेष या कषायो के झकोरे जितने अधिक होते हैं उतना ही आत्मा का उपयोग रूपी जल क्षोभित व चचल रहता है। जितना-जितना कषायो का उदय घटता जाता है, चंचलता कम होती जाती है, कषायों का अभाव शुद्धात्मचर्या को निष्कम्प प्राप्त करा देता है।

निश्चय सम्यक् चारित्र या आत्मानुभव की प्राप्ति का एक सहज उपाय यह है कि विश्व को व स्वपर को व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखा जावे। निश्चयनय की दृष्टि में जीव, पुद्गल, धर्म,

अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य पृथक्-पृथक अपने मूल स्वभाव में ही दिखलाई पड़ेंगे। धर्म, अधर्म,काल, आकाश तो सदा ही स्वभाव में रहते हैं, वे वैसे ही दीख पड़ेंगे। पुद्गल रूप शुद्ध परमाणु रूप दिखलाई देंगे। उनकी शोभनीक व अशोभनीक मकान मन्दिर महल,वस्त्र आभूषण बर्तन आदि की अवस्थाएँ बिलकुल नहीं दिखलाई देंगी। तथा जितने जीव हैं सब शुद्ध परमात्मा के समान दिखलाई पड़ेंगे। आप भी परमात्मा रूप अपने को मालूम पड़ेगा। इस दृष्टि से देखते हुए राग द्वेष की उत्पत्ति के सब कारण हट जावेंगे। छोटे बड़े, ऊँच नीच की, स्वामी सेवक की, मित्र शत्रु की, बन्धु अबन्धु की, स्त्री पुरुष की, मानव या पशु की सर्व कल्पनाएँ दूर हो जायेंगी। सिद्ध संसारी का भेद भी मिट जायगा। अशुचि व शुचि पदार्थ की कल्पना भी चली जायगी। फल यह होगा कि परम समता भाव जागृत हो जायगा, समभाव रूपी सामायिक का उदय हो जायगा।

यह स्वात्मानुभव की प्राप्ति की सीढ़ी है। फिर वह समदृष्टि ज्ञाता आत्मा केवल अपने ही आत्मा की तरफ उपयुक्त हो जाता है। कुछ देर के पीछे निर्विकल्पता आ जाती है, स्वरूप में स्थिरता हो जाती है, स्वानुभव हो जाता है, यही निश्चय सम्यक् चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र स्वात्मानुभव रूप ही है। न यहाँ मन का चिन्तवन है न वचन का जल्प या मनन है, न काय का हलन चलन है—मन, वचन, काय की क्रिया से अगोचर है। वास्तव मे स्वात्मानुभव होते हुए मन का मरण ही हो जाता है या लोप ही हो जाता है या उसका अस्त ही हो जाता है। मन, वचन, काय के विकारों के मध्य में पड़ा हुआ निर्विकार आत्मा आत्मा रूप से झलक जाता है, विकार सब मिट जाते हैं।

सम्यक्चारित्र बड़ा ही उपकारी है। इसीका अभ्यास वीतराग विज्ञानमय भाव की उन्नति करता है व सराग व अज्ञानमय भाव को दूर करता है। यह बात साधक को बराबर ध्यान में रखनी चाहिये कि जब तक आत्मानुभव न हो तब तक निश्चय सम्यक्चारित्र का उदय नहीं हुआ। जैसे व्यापारी को हर एक व्यापार करते हुए धनागम पर लक्ष्य है, कुटुम्ब के भीतर सर्व प्राणियों का परिश्रम करते हुए, मकान में अन्नादि सामग्री एकत्र करते हुए, बर्तनादि व लकड़ी जमा करते हुए, रसोई का प्रबन्ध करते हुए, यही लक्ष्य रहता है कि हमारा सब का क्षुधारोग मिटे।

इसी तरह साधक का लक्ष्य स्वात्मानुभव रहना चाहिए। सम्यक्चारित्र जितने अश हैं वह एक अपूर्व आत्मोक भावका झलकाव है जहां सम्यक्दर्शन व सम्यग्ज्ञान भी गर्भित हैं।

वास्तव में उपयोगात्मक या भाव निक्षेप रूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान वही होते हैं जहां सम्यक् चारित्र होता है। जब स्वानुभव में एकाग्रता होती है वही सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों की एकता है, वही मोक्षमार्ग है, वही कर्मों के संवर करने का उपाय हैं। वही ध्यान की अग्नि है जो पूर्वबद्ध कर्मों को दग्ध करती है। जैसे अग्नि की ज्वाला जलती हुई किसी चूल्हे में एक साथ दाहक, पाचक, प्रकाशक का काम कर रही है, वैसे स्वात्मानुभव की ज्योति जलती हुई सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी परिणमन करती हुई अपना काम कर रही है।

अग्नि की ज्वाला एक साथ लकड़ी को जला रही है, भोजन को पका रही है, अन्धकार को नाश कर रही है। इसी तरह स्वात्मानुभव रूप सम्यक्चारित्र से एक साथ ही कर्म जलते हैं, आत्मबल बढ़ते हुए आत्मानन्द का स्वाद आता है तथा आत्मज्ञान की निर्मलता होती है, अज्ञान का अन्धकार मिटता जाता है। इसी सम्यक्चारित्र के धारावाही अभ्यास से मोहकर्म दग्ध हो जाता है फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म जल जाते हैं। अनन्त बल, अनन्त सुख का प्रकाश हो जाता है, अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान झलक जाता है, आत्मा परमात्मा हो जाता है। सम्यक्चारित्र ही जीव को संसारी से सिद्ध अवस्था में बदल देता है।

निश्चय सम्यक्चारित्र की तरफ प्रेमभाव, प्रतिष्ठाभाव, उपादेय भाव, भक्तिभाव, आराधक भाव, तीव्र रुचिभाव रहना चाहिए, तब ही इसकी वृद्धि होती जायगी। यह भी याद रखना चाहिए कि निश्चय सम्यक्चारित्र आत्मा के पूर्ण थिरतारूप चारित्र का उपादान कारण है— मूल कारण है। जैसे सुवर्ण की थोड़ी शुद्धता अधिक शुद्धता का उपादान कारण है। जैसे सुवर्ण की शुद्धता के लिए मसाले की व अग्नि की सहायता की जरूरत है, केवल सुवर्ण अपने आप ही शुद्ध नहीं हो सकता। हर एक कार्य के लिए उपादान तथा निमित्त दो कारणो की आवश्यकता है। उपादान कारण कार्यरूप वस्तु स्वयं हुआ करती है, निमित्त कारण बहुत से सहकारी कारण होते हैं। गेहूं से रोटी अपने ही उपादान कारण

से पलटती हुई बनी है परन्तु निमित्त कारण चक्की, बेलन, तवा, अग्नि आदि मिले हैं। इसी तरह निश्चय सम्यक्चारित्र के लिए किन्ही निमित्तों की जरूरत है, जिससे उपयोग, निश्चिन्त होकर—निराकुल होकर स्वरूप रमण कर सके। ऐसे निमित्तों को मिलाने के लिए व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र की सहायता से जितना जितना मन व इन्द्रियों पर विजय लाभ किया जायगा, जितना जितना मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका जायगा, जितना जितना इच्छा को घटाया जायगा, जितना जितना जगत के चेतन व अचेतन पदार्थों से सम्पर्क या संयोग दूर किया जायगा, जितना जितना ममता का घटाव किया जायगा, जितना जितना समता का बढ़ाव किया जायगा, उतना उतना निश्चय सम्यक्चारित्र के प्रकाश का साधन बनता जायगा। इसीलिए व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र—जो असली चारित्र तो न हो परन्तु चारित्र के प्रकाश में सहायक हो उसको ही व्यवहारचारित्र कहते हैं। यदि कोई व्यवहारचारित्र पाले परन्तु उसके द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ न कर सके तो वह व्यवहारचारित्र यथार्थ नहीं कहा जायगा, सम्यक् नही कहा जायगा। जैसे कोई व्यापार वाणिज्य तो बहुत करे परन्तु धन का लाभ नही कर सके तो उस व्यापार को यथार्थ व्यापार नहीं कहा जायगा।

जैसे कोई भोजनादि सामग्री तो एकत्र करे परन्तु रसोई बनाकर पेट में भोजन न पहुँचा सके तो उसका आरम्भ यथार्थ नही कहा जायगा। जहां निश्चय सम्यक्चारित्ररूप स्वात्मानुभव पर लक्ष्य है, उसी की खोज है, उसी के रमण का प्रेम है और तब उसमें निमित्त साधनों का संग्रह किया जाता है तो उसको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जायगा। व्यवहार सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है—एक अनगार या साधुचारित्र दूसरा सागार या श्रावकचारित्र।

अनगार या साधुचारित्र—यहा संक्षेप से सामान्य कथन किया जाता है। यह प्राणी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के वशीभूत होकर रागी, द्वेषी होता हुआ अपने स्वार्थ साधन के लिए पाच प्रकार के

पापकर्म किया करता है। हिंसा, असत्य, चोरो, अब्रह्म तथा परिग्रह (धन धान्यादि में मूर्छा) इन्ही का पूर्ण त्याग करना साधु का चारित्र है। इन्हीं के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं, इन्हीं की दृढ़ता के लिए पांच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन किया जाता है। अतएव तेरह प्रकार का व्यवहारचारित्र साधु का धर्म कहलाता है। इनमें पांच महाव्रत मुख्य हैं—

पांच अहिंसादि महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, ये पाच महाव्रत हैं। यद्यपि ये पांच हैं तथापि एक अहिंसा महा व्रत में शेष चार गर्भित हैं, असत्य बोलने से, चोरी करने से, कुशील भाव से, परिग्रह की तृष्णा से आत्मा के गुणो का घात होता है। अतएव ये सब हिंसा के ही भेद हैं। जहां हिंसा का सर्वथा त्याग है वहां इनका भी त्याग हो जाता है। शिष्य को खुलासा करने के लिए इनका विस्तार इस इस प्रकार है—

अहिंसा का बहुत साधारण स्वरूप तो यह है कि जो बात हम अपने लिए नही चाहते हैं वह बात हम दूसरो के लिए न चाहें, हम नही चाहते हैं, हमारे सम्बन्ध मे कोई बुरा विचार करे, कोई हमें झूठ बोल के व अन्य तरह से ठगे; हमें अपशब्द कहे, हमें मारे-पीटे व हमारी जान लेवे व हमारी स्त्री पर कोई कुदृष्टि करे, वैसे उनको भी दूसरों का बुरा न विचारना चाहिए। दूसरों को असत्य बोल कर व अन्य तरह न ठगना चाहिए, अपशब्द न कहना चाहिए, न दूसरों को मारना पीटना चाहिये न प्राण हरण करना चाहिये, न पर की स्त्री पर कुभाव करना चाहिये।

इन सब बुरे कामो की प्रेरणा भीतर अशुद्ध भावो से होती है। इस लिये जिन रागद्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि या प्रमाद भाव से आत्मा के शुद्ध शान्तभाव का घात होता है उन भावों को **भावहिंसा** कहते हैं तथा अपने व दूसरे के द्रव्य प्राणो का घात करना **द्रव्य हिंसा** है। द्रव्य प्राणो का स्वरूप जीव द्रव्य के वर्णन में हो चुका है। भावहिंसा द्रव्यहिंसा का कारण है। जिस समय क्रोध भाव उठता है वह उस आत्मा के शान्त भाव का घात कर देता है। तथा क्रोधी के मन, वचन, काय आदि द्रव्य प्राणो में भी निर्बलता हो जाती है। पीछे जब वह क्रोधवश किसी को मारता पीटता है व हानि पहुंचाता है तब दूसरे के भाव प्राणों की व

द्रव्य प्राणों की हिंसा होती है। क्योंकि जब सब जीव सुख शांति चाहते हैं व जीते रहना चाहते हैं। तब अहिंसा महाव्रत ही सब की इस भावना को सिद्ध कर सकता है। जो पूर्ण अहिंसा को पा लेगा वह अपने भावों में क्रोधादि न आने देगा व वह ऐसा वर्तन करेगा जिससे कोई भी स्थावर व त्रस प्राणी के प्राण न घाते जावें।

यही साधुओं का परम धर्म है जो अनेक प्रकार कष्ट दिए जाने पर भी कष्टदाता पर क्रोधभाव नहीं लाते हैं, जो भूमि निरखकर चलते हैं व वृक्ष की एक पत्ती भी नही तोडते हैं। हिंसा दो प्रकार की है—**संकल्पी** और **आरम्भी**। जो प्राणघात हिंसा के सकल्प से किया जावे वह संकल्पी हिंसा है, जैसे धर्म के नाम से पशुबलि करना, शिकार खेलना, मांसाहार के लिए पशुओ को कटवाना आदि।

आरम्भी—हिंसा वह है जो गृहस्थी को आवश्यक ससारी कामों में करनी पडती है। वहा हिंसा करने का सकल्प नही होता है किन्तु संकल्प अन्य आवश्यक आरम्भ का होता है, परन्तु उनमे हिंसा हो जाती है। इस हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते हैं। इस हिंसा के तीन भेद हैं —

(१) **उद्यमी**—जो आजीविका साधन के हेतु असिकर्म (शस्त्रकर्म), मसिकर्म (लिखना), कृषिकर्म, वाणिज्यकर्म, शिल्पकर्म और विद्याकर्म (arts) इन छ: प्रकार के कामो को करते हुए होती है।

(२) **गृहारम्भी**—जो गृह में आहार पान के प्रबन्धार्थ, मकान बनाने, कूप खुदाने, बाग लगाने आदि में होती है।

(३) **विरोधी**—जो दुष्टो के द्वारा व शत्रुओ के द्वारा आक्रमण किये जाने पर उनसे अपनी, अपने कुटुम्ब की, अपने माल की, अपने देश की रक्षार्थ और कोई उपाय न होने पर उसको मारकर भगाने में होती है।

अहिंसा महाव्रती इस सकल्पी और आरम्भी दोनो ही प्रकार की हिंसा को त्याग कर देते हैं। त्रस व स्थावर सर्व की रक्षा करते हैं, भावों में अहिंसात्मक भाव को पालते हैं, कषायभावो से अपनी रक्षा करते हैं।

सत्य महाव्रत– में चार तरह का असत्य नही कहते हैं—(१) जो वस्तु हो उसको नही है ऐसा कहना। (२) जो वस्तु न हो उसको है ऐसा कहना। (३) वस्तु कुछ हो कहना कुछ और (४) गर्हित, अप्रिय व सावद्य

वचन जैसे कठोर, निन्दनीक, गाली के शब्द व हिंसामई आरम्भ बढ़ाने वाले वचन। महाव्रती साधु सदा हित मित मिष्ट वचन शास्त्रोक्त ही बोलते हैं।

अचौर्य महाव्रत—में बिना दिए हुए किसी की कोई वस्तु नही ग्रहण करते हैं, जल मिट्टी भी व जगल की पत्ती भी बिना दी नहीं लेते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—में मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदना से कभी भी कुशील का सेवन नही करते हैं। कामभाव से अपने परिणामो की रक्षा करते हैं।

परिग्रह त्याग महाव्रत—में मूर्छा भाव का त्याग करते हैं, चौबीस प्रकार परिग्रह को त्यागते है। चौदह अन्तरग विभावभाव जैसे—मिथ्या दर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, दशप्रकार बाहरी परिग्रह जैसे—क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन (गो आदि), धान्य, दासी, दास, कपडे, बर्तन।

पांच समिति—इन पाच महाव्रतो की रक्षा के हेतु पांच समिति पालते हैं। प्रमाद रहित वर्तन को समिति कहते हैं।

ईर्या समिति—जन्तु रहित प्राशुक व रौंदी भूमि पर दिन के प्रकाश में चार हाथ आगे देखकर चलना।

भाषा समिति—शुद्ध, मिष्ट, हितकारी, भाषा बोलना।

एषणा समिति—शुद्ध भोजन, भिक्षा वृत्ति से लेना जो साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो।

आदान निक्षेपण समिति—कोई वस्तु को देखकर रखना व उठाना।

प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति—मलमूत्र निर्जंतु भूमि पर देखकर करना।

तीन गुप्ति—मनको वश रखके धर्मध्यान में जोडना **मनोगुप्ति** है। मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना **वचनगुप्ति** है—एकासन से बैठना व ध्यान स्वाध्याय में काय को लगाना **काय गुप्ति** है, यह तेरह प्रकार साधु का चारित्र है। साधु निरन्तर ध्यान व स्वाध्याय में लीन रहते हैं।

इन पांच महाव्रतों की दृढ़ता के लिए एक-एक व्रत की ५—५ भावनाएँ हैं जिन पर व्रती ध्यान रखते हैं।

(१) **अहिंसाव्रत की पांच भावनाएं**—(१) वचनगुप्ति, (२) मनो गुप्ति, (३) ईर्या समिति, (४) आदान निक्षेपण समिति, (५) आलोकित पान भोजन—भोजन देखभाल कर करना।

(२) **सत्यव्रत की पांच भावनायें**—(१) क्रोध का त्याग, (२) लोभ का त्याग, (३) भय का त्याग, (४) हास्य का त्याग। क्योंकि इन्हीं चारों के वश असत्य बोला जाता है, (५) अनुवीची भाषण, शास्त्रोक्त वचन कहना।

(३) **अचौर्यव्रत की पांच भावनायें**—(१) **शून्यागार**—शूने स्थान में ठहरना, (२) **विमोचितावास**—छोड़े हुए---उजडे हुए स्थान पर ठहरना, (३) **परोपरोधाकरण**—आप जहां हो दूसरा आवे तो मना न करना व जहां कोई मना करे वहां न ठहरना, (४) **भैक्ष्यशुद्धि**—भिक्षा शुद्ध अन्तराय व दोष टालकर लेना, (५) **साधर्मी अविसंवाद**—साधर्मी धर्मात्माओ से विसम्वाद या झगड़ा न करना।

(४) **ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनायें**—(१) **स्त्री राग कथा श्रवण त्याग**—स्त्रियों के राग बढानेवाली कथाओं के सुनने का त्याग, (२) **तन्मोहरांगनिरीक्षण त्याग**—स्त्रियों के मनोहर अगों के देखने का त्याग, (३) **पूर्वरतानुस्मरण**—पहले किए हुए भोगो का स्मरण त्याग, (४) **वृष्येष्टरस त्याग**—कामोद्दीपक पुष्टरस का त्याग, (५) **स्वशरीर संस्कार त्याग**—अपने शरीर के शृंगार का त्याग।

(५) **परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनायें**—मनोज्ञ व अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के पदार्थों को पाकर रागद्वेष न रखकर सन्तोष पालना। साधुओं का कर्तव्य है कि दशलाक्षणी धर्म की, बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना भावे, बाइस परीषहों को जीते, पाच प्रकार चारित्र को बढावे तथा बारह प्रकार तप का साधन करें। उनका सक्षिप्त स्वरूप यह है—

दशलाक्षणी धर्म—कषायों को पूर्णपने निग्रह करके दश धर्मों को पूर्णपने पालें। कष्ट पाने पर भी उनकी विराधना न करें। (१) **उत्तम क्षमा**, (२) **उत्तम मार्दव**—मान का अभाव, (३) **उत्तम आर्जव**—मायाचार का अभाव, (४) **उत्तम सत्य**, (५) **उत्तम शौच**—लोभ का अभाव, (६) **उत्तम संयम**—मन इन्द्रियों पर विजय व छः काय के प्राणियों पर दया, (७) **उत्तम तप**—इच्छानिरोध करके तप पालना, (८) **उत्तम त्याग**—ज्ञान दान व अभयदान देना, (९) **उत्तम आकिञ्चन्य**—सर्व से ममता छोड़कर एकाकी स्वरूप को ही अपना मानना, (१०) **उत्तम ब्रह्मचर्य**।

बारह भावनाएं—(१) **अनित्य**—धन धान्य, स्त्री पुत्र, शरीरादि सर्व क्षणभंगुर हैं, नाशवन्त हैं, (२) **अशरण**—मरण से व तीव्र कर्मोदय से कोई बचाने वाला नहीं, (३) **संसार**—चार गतिरूप संसार दुःखों का भण्डार है, (४) **एकत्व**—यह जीव अकेला है। अपनी करणी का आप ही मालिक है, (५) **अन्यत्व**—इस जीव से शरीरादि सब पर हैं, (६) **अशुचि**—यह शरीर अपवित्र है, (७) **आस्रव**—इन इन भावों से कर्म आते हैं, (८) **संवर**—इन इन भावों से कर्म रुकते हैं, (९) **निर्जरा**—तप से कर्म झड़ते हैं, (१०) **लोक**—यह जगत अनादि अनन्त अकृत्रिम है, छः द्रव्यों का समूह है, द्रव्यापेक्षा नित्य व पर्यायापेक्षा अनित्य है। (११) **बोधिदुर्लभ**—रत्नत्रय का लाभ बहुत कठिन है,(१२) **धर्म**—आत्मा का स्वभाव धर्म है, यही परम हितकारी है।

बाईस परीषह जय—नीचे लिखी बाईस परीषहों के पड़ने पर शान्ति से सहना (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक—डांस मच्छरादि पशु बाधा, (६) नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री (९) चर्या—चलने की, (१०) निषद्या—बैठने की, (११) शय्या, (१२) आक्रोश—गाली, (१३) वध, (१४) याचना—मांगने के अवसर पर भी न मांगना, (१५) अलाभ—भोजन अन्तराय पर सन्तोष, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार—आदर निरादर, (२०) प्रज्ञा—ज्ञान का मद

न करना, (२१) अज्ञान—अज्ञान पर खेद न करना, (२२) अदर्शन—श्रद्धा न बिगाड़ना।

चारित्र पांच प्रकार—(१) **सामायिक**—समभाव रखना (२) **छेदोप-स्थापना**—सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक में स्थिर होना (३) **परिहार विशुद्धि**—ऐसा आचरण जिसमें विशेष हिंसा का त्याग हो (४) **सूक्ष्म सांपराय**—दशवें गुणस्थानवर्ती का चारित्र, जहां मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है, (५) **यथाख्यात**—पूर्ण वीतराग चारित्र।

बारह तप—छः बाहरी (१) **अनशन**—उपवास खाद्य, स्वाद्य, लेह्य (चाटने की) पेय चार प्रकार आहार का त्याग। (२) **ऊनोदर**—भूख से कम खाना, दो भाग अन्नादि से एक भाग जल से एक भाग खाली रखना। (३) **वृत्तिपरिसंख्यान**—भिक्षा को जाते हुए कोई प्रतिज्ञा लेना, पूर्ण होने पर ही आहार लेना। (४) **रसपरित्याग**—मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तेल इन छः रसों में से एक व अनेक का त्याग। (५) **विविक्त शय्यासन**—एकान्त में शयन व आसन रखना। (६) **कायक्लेश**—शरीर का सुखियापना मेटने को कठिन-कठिन स्थानों पर जाकर तप करना। छः अन्तरंग (७) **प्रायश्चित**—कोई दोष लगने पर दण्ड लेकर शुद्ध होना। (८) **विनय**—धर्म व धर्मात्माओं की प्रतिष्ठा। (९) **वैय्यावृत्य**—धर्मात्माओं की सेवा करनी। (१०) **स्वाध्याय**—शास्त्रों का पठन पाठन व मनन। (११) **व्युत्सर्ग** शरीरादि से ममता त्याग। (१२) **ध्यान**—धर्म ध्यान व शुक्लध्यान करना।

साधुओं का कर्तव्य है कि इन पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, बारह प्रकार तप से मन, वचन, काय को ऐसा स्वाधीन करें जिससे निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ कर सकें। स्वरूप में ही रमण सामायिक चारित्र है। गृहस्थ का कारावास चिन्ताओं का स्रोत है। अतएव निराकुल होने के लिये गृहस्थ त्यागकर साधु वृत्ति में रहकर विशेष सहज सुख का साधन कर्तव्य है।

सागार या श्रावक का एक देश चारित्र—अनगार का चारित्र जैसे पाँच महाव्रत हैं वैसे सागार का एक देश चारित्र पाँच अणुव्रत पालन है। महाव्रत व अणुव्रत का अन्तर इस तरह जानना योग्य है कि यदि १००

एक सौ अंश महाव्रत के करें उनमें से एक अंश से लेकर ९९ अंश तक अणुव्रत है १०० अंश महाव्रत है।

पांच अणुव्रत— जहाँ संकल्पी हिंसा का त्याग हो, आरम्भी हिंसा का त्याग न हो वह **अहिंसा अणुव्रत** है। अहिंसा अणुव्रत धारी राज्य कार्य, राज्य प्रबन्ध, देश रक्षार्थ युद्ध, सज्जन पालन, दुर्जन दमन, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि सर्व आवश्यक गृहस्थ के कर्म कर सकता है। समुद्र यात्रा, विदेश गमन आदि भी कर सकता है। वह संकल्पी हिंसा से बचे, शिकार न खेले, मास न खाए, मांस के लिये पशु वध न करावे। जिस असत्य से राज्य दण्ड हो—जो दूसरों के ठगने के लिये, विश्वासघात के लिये कहा जावे ऐसा असत्य वचन न कहना, तथा प्रिय हितकारी सज्जनों के योग्य वचन कहना **सत्य अणुव्रत** है। ऐसा श्रावक जिस सत्य वचन से कलह हो जावे, हिंसा की प्रवृत्ति हो जावे, पर का बुरा हो जावे उस सत्य वचन को भी नही बोलता है। न्याय व धर्म की प्रवृत्ति में हानि न आवे व वृथा किसी प्राणी का वध न हो, उसको कष्ट न पहुँचे इस बात को विचार कर मुख से वचन निकालता है।

गिरी, पडी, भूली किसी की वस्तु को नही लेना **अचौर्य अणुव्रत** है। विश्वासघात करके, छिप करके, धमकी देकर के, वध करके किसी की सम्पत्ति को श्रावक नही हरता है। न्यायपूर्वक अल्प धन में सन्तोष रखता है। अन्याय से सग्रहीत विपुल धन की इच्छा नही करता है। जिस वस्तु की राज्य से व प्रजा से मनाही नही है केवल उन ही वस्तुओ को बिना पूछे लेता है। जैसे नदी का जल, हाथ धोने को मिट्टी, जंगल के फल व लकड़ी आदि। यदि मनाई हो तो वह ग्रहण नही करेगा।

अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखकर सर्व पर स्त्रियों को बड़ी को माता समान, बराबर वाली को बहन के समान, छोटी को पुत्री के समान जो समझता है वह **ब्रह्मचर्य अणुव्रत** को पालता है। श्रावक वीर्य को शरीर का राजा समझकर स्वस्त्री में परिमित सन्तोषके साथ उपभोग करता है जिससे निर्बलता न हो।

दश प्रकार के परिग्रह को जो अपनी आवश्यकता, योग्यता व इच्छा के अनुकूल जन्मपर्यन्त के लिए प्रमाण कर लेना उससे अधिक की लालसा त्याग देना सो **परिग्रह प्रमाण अणुव्रत** है। जितनी सम्पत्ति का प्रमाण किया हो उस प्रमाण के पूरा हो जाने पर वह श्रावक व्यापारादि बन्द कर देता है फिर सन्तोष से अपना समय धर्म साधन व परोपकार में व्यतीत करता है। इन पांच अणुव्रतों के मूल्य को बढ़ाने के लिए श्रावक सात शील, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत भी पालता है।

तीन गुणव्रत—जो पांच अणुव्रतों का मूल्य गुणन करे बढ़ादे उनको गुणव्रत कहते हैं जैसे ४ को ४ से गुणा करने से १६ और १६ को १६ से गुणा करने से २५६ होते हैं।

दिग्विरति—जन्म पर्यन्त के लिए लौकिक प्रयोजन के हेतु दश दिशाओं में जाने का वव्यापारादि करने का नियम कर लेना उससे अधिक में जाने की व व्यापार करने की लालसा को त्याग देना दिग्विरति है। इससे फल यह होता है कि श्रावक नियम किए हुए क्षेत्र के भीतर ही आरम्भ करेगा उनके बाहर आरम्भी हिंसा भी नहीं करेगा।

देशविरति—जन्म पर्यन्त के लिए जो प्रमाण किया था उसमें से घटा कर एकदिन, दो दिन, एक सप्ताह के लिए जाने का व्यवहार करने का नियम करना देशविरति है। इससे इतना अधिक लाभ होगा कि वह नियमित काल के लिए नियमित क्षेत्र ही में आरम्भ करेगा, उसके बाहर आरम्भी हिंसा से बचेगा।

अनर्थदण्ड विरति—नियमित क्षेत्र में भी प्रयोजनभूत कार्य के सिवाय व्यर्थ के आरम्भ करने का त्याग अनर्थदण्ड विरति है। इसके पांच भेद हैं—(१) **पापोपदेश**—दूसरे को पाप करने का उपदेश देना, (२) **हिंसादान**—हिंसाकारी वस्तुएँ दूसरोंको मांगे देना, (३) **प्रमादचर्या**—प्रमाद या आलस्य से वृथा वस्तुओं को नष्ट करना, जैसे वृथा वृक्ष के पत्ते तोड़ना, (४) **दुःश्रुति**—राग द्वेष बढ़ाने वाली, विषय भोगों में फंसानेवाली खोटी कथाओं को पढ़ना सुनना, (५) **अपध्यान**—दूसरों के अहित का विचार करके हिंसक परिणाम रखना। वृथा पापों के त्याग से व सार्थक काम करने से अणुव्रतों का मूल्य विशेष बढ़ जाता है।

चार शिक्षाव्रत—जिन व्रतो के अभ्यास से साधुपद में चारित्रपालने की शिक्षा मिले उनको शिक्षाव्रत कहते हैं। (१) **सामायिक**—एकान्त में बैठ कर रागद्वेष छोडकर समताभाव रखकर आत्म-ध्यान का अभ्यास करना प्रातःकाल, मध्याह्नकाल या सायकाल यथासम्भव ध्यान करना सामायिक है।

(२) **प्रोषधोपवास**—एक मास में दो अष्टमी, दो चौदस प्रोषध दिन हैं। उनमें उपवास या एकासन करके धर्मध्यान मे समय को बिताना प्रोषधोपवास है।

(३) **भोगोपभोग परिमाण**—जो एक दफे भोगने में आवे सो भोग है। जो वार-बार भोगने में आवे सो उपभोग है। ऐसे पांचों इन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थों की सख्या प्रतिदिन प्रात.काल एक दिन रात के लिए सयम की वृद्धि हेतु कर लेना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

(४) **अतिथि संविभाग**—साधुओ को या अन्य धर्मात्मा पात्रो को भक्तिपूर्वक तथा दु:खित भुखित को करुणापूर्वक दान देकर आहार कराना अतिथि सविभाग शिक्षाव्रत है। इस तरह एक श्रावक को पाच अणुव्रत और सात शील ऐसे बारह ब्रत पालने चाहिए। तथा तेरहवें व्रत की भावना भाना चाहिए। वह है—

(१३) **सल्लेखना**—मरन के समय आत्मसमाधि व शान्तभाव से प्राण छूटे ऐसी भावना करनी सल्लेखना या समाधिमरण व्रत है। ज्ञानी श्रावक अपने धर्मात्मा मित्रो का वचन ले लेते हैं कि परस्पर समाधिमरण कराया जावे।

इन तेरह व्रतों को दोष रहित पालने के लिए इनके पाँच पाच अतीचार प्रसिद्ध हैं। उनको दूर करना श्रावक का कर्तव्य है।

(१) **अहिंसा अणुव्रत के पांच अतीचार**—(१) **बन्ध**—कषाय द्वारा किसी को वाधना या बन्धन मे डाल देना, (२) **वध**—कषाय से किसी को पीटना, घायल करना, (३) **छेद**—कषाय से किसी के अंग व उपंग छेद कर स्वार्थ साधना, (४) **अति भारारोपण**—मर्यादा से अधिक भार लाद

देना, (५) **अन्नपान निरोध**—अपने आधीन मानव या पशुओं का अन्नपान रोक देना।

(२) **सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार**—(१) **मिथ्योपदेश**—दूसरे को मिथ्या कहने का उपदेश दे देना, (२) **रहोभ्याख्यान**—स्त्री पुरुष की एकांत गुप्त बातों का प्रकाश कर देना, (३) **कूट लेख क्रिया**—कपट से असत्य लेख लिखना, (४) **न्यासापहार**—दूसरे की धरोहर को असत्य कहकर कुछ न देना, (५) **साकार मन्त्रभेद**—किसी की गुप्त सम्मति को अंगों के हलन-चलन से जानकर प्रकाश कर देना। इन सब में कषाय भाव हेतु होना चाहिए।

(३) **अचौर्य अणुव्रत के पांच अतीचार**—(१) **स्तेन प्रयोग**—दूसरे को चोरी करने का मार्ग बता देना, (२) **तदाहृतादान**—चोरी का लाया हुआ माल जान बूझ कर के लेना व शका से लेना, (३) **विरुद्ध राज्यातिक्रम**—राज्य का प्रबन्ध न होने पर मर्यादा को उल्लंघ करके अन्याय पूर्वक लेना देना, (४) **हीनाधिकमानोन्मान**---कमती तौल नाप के देना व बढ़ती तौल नाप के लेना, (५) **प्रतिरूपक व्यवहार**---झूठा सिक्का चलाना व खरी में खोटी मिला कर खरी कहकर विक्रय करना।

(४) **ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतीचार**—(१) **पर विवाह करण**—अपने पुत्र पौत्रादि सिवाय दूसरों के सम्बन्ध जोड़ना। (२) **परिग्रहीता इत्वरिका गमन**—विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्री के पास जाना, (३) **अपरिग्रहीता इत्वरिका गमन**---बिना विवाही वेश्यादि के पास आना जाना, (४) **अनंगक्रीड़ा**---काम सेवन के अंग छोड़ कर अन्य अंगो से काम सेवन करना, (५) **कामतीव्राभिनिवेश**---काम सेवन की तीव्र लालसा स्व स्त्री में भी रखना।

(५) **परिग्रह प्रमाण व्रत के पांच अतीचार**---दस प्रकार के परिग्रह के पांच जोड़े होते हैं जगह मकान, चांदी सोना, धन धान्य, दासी दास, कपड़े बर्तन, इनमें से किसी एक जोड़े में एक को घटा कर दूसरे को मर्यादा बढ़ा लेना ऐसे पांच दोष हैं।

(६) **दिग्विरति के पांच प्रतिचार**---(१) **ऊर्ध्व व्यतिक्रम**---ऊपर जितनी दूर जाने का प्रमाण किया था उसको किसी कषायवश उल्लघकर आगे चले जाना, (२) **अधः व्यतिक्रम**---नीचे के प्रमाण को उल्लघकर आगे चले जाना, (३) **तिर्यक् व्यतिक्रम**---अन्य आठ दिशाओ के प्रमाण को उल्लंघ कर आगे चले जाना, (४) **क्षेत्र वृद्धि**---क्षेत्र की मर्यादा एक तरफ घटा कर दूसरी ओर बढा लेना, (५) **स्मृत्यन्तराधान**---मर्यादा को याद न रखना।

(७) **देशविरति के पांच अतीचार**---(१) **आनयन**---मर्यादा के बाहर से वस्तु मगाना। (२) **प्रेष्य प्रयोग**---मर्यादा के बाहर कुछ भेजना। (३) **शब्दानुपात**---मर्यादा के बाहर बात कर लेना। (४) **रूपानुपात**---मर्यादा के बाहर रूप दिखाकर प्रयोजन बता देना। (५) **पुद्गलक्षेप**---मर्यादा से बाहर पत्र व ककड आदि फेंक कर प्रयोजन बता देना।

(८) **अनर्थ दण्ड विरति के पांच अतीचार**--(१) **कन्दर्प**--भड वचन असभ्यतापूर्ण बोलना। **कौत्कुच्य**---भण्ड वचनो के साथ साथ काय की कुचेष्टा भी करना। (३) **मौखर्य**---बहुत बकवाद करना। (४) **असमीक्ष्य अधिकरण**---बिना विचारे काम करना। (५) **उपभोग परिभोगानर्थक्य**---भोग व उपभोग के पदार्थ वृथा सग्रह करना।

(९) **सामायिक के पांच अतीचार**---(१) **मनः दुःप्रणिधान**---सामायिक को क्रिया से बाहर मन को चलन करना। (२) **वचन दुःप्रणिधान**-सामायिकके पाठादि सिवाय और कोई बात करना (३ **काय दुःप्रणिधान**--शरीर को थिर न रख कर आलस्यमय प्रमादी रखना। (४) **अनादर**---सामायिक करने में आदर भाव न रखना। (५)**स्मृत्यनुपस्थान**---सामायिक के समय सामायिक का पाठादि भूल जाना।

(१०) **प्रोषधोपवास के पांच अतीचार**---१, २, ३ **अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग, आदान, संस्तरोपक्रमण**---बिना देखे बिना झाड़े मल मूत्रादि करना, उठाना व चटाई आदि बिछाना। (४) **अनादर**---उपवास

में आदर भाव न रखना। (५) **स्मत्यनुपस्थान**---उपवास के दिन धर्मक्रिया को भूल जाना।

(११) **भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पांच अतीचार**—जो कोई श्रावक किसी दिन सचित्त का बिल्कुल त्याग करे या कुछ का त्याग करे उसकी अपेक्षा ये पांच अतीचार हैं। (१) **सचित्त**---त्यागे हुए सचित्त को भूल से खा लेना। (२) **सचित्त सम्बन्ध**---त्यागे हुए सचित्त से मिली हुई वस्तु को खा लेना। (३) **सचित्त सम्मिश्र**---त्यागे हुए सचित्त को अचित्त में मिला कर खाना। (४) **अभिषव**---कामोद्दीपक पौष्टिक रस खाना। (५) **दुःपक्वाहार**---कम पका व अधिक पका व न पचने लायक आहार करना।

(१२) **अतिथि सविभाग व्रत के पांच अतीचार**—साधु को आहार देते हुए ये अतीचार हैं(१) **सचित्त निक्षेप**—सचित्त पर रखकर कुछ देना। (२) **सचित्त अपधान**—सचित्त से ढकी हुई वस्तु दान करना। (३) **परव्यपदेश**—आप दान न देकर दूसरे को दान की आज्ञा करनी। (४) **मात्सर्य**—दूसरे दातार से ईर्ष्याभाव रख कर दान देना। (५) **कालातिक्रम**—दान का काल उल्लंघकर अकाल में देना।

(१३) **सल्लेखना के पांच अतीचार**—(१) **जीवित आशंसा**—अधिक जीते रहने की इच्छा करना। (२) **मरणाशंसा**---जल्दी मरने की इच्छा करना। (३) **मित्रानुराग**---लौकिक मित्रों से सासारिक राग बताना। (४) **सुखानुबन्ध**—भोगे हुए इन्द्रिय सुखों का याद करना। (५) **निदान**—आगामी विषय भोगों की इच्छा करना।

ये साधारण तेरह व्रत श्रावक के हैं। विशेष यह है कि दिगम्बर जैन शास्त्रों में ग्यारह प्रतिमाएं व श्रेणियां श्रावक की बताई हैं जिनको क्रम से पार करते हुए साधुपद की योग्यता आती है। ये ग्यारह श्रेणियां पंचम देशविरति गुणस्थान में हैं। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में यद्यपि चारित्र का नियम नहीं होता है तथापि वह सम्यक्ती अन्याय से बच कर न्यायरूप प्रवृत्ति करता है। पाक्षिक श्रावक के योग्य कुछ स्थूल

रूप नियमों को पालता है। वे नियम नीचे इस प्रकार हैं—

१—मास नही खाता है, २—मदिरा नही पीता है, ३—मधु नहीं खाता है, ४—बरगद का फल नही खाता है, ५—पीपल का फल नहीं खाता है, ६—गूलर का फल नही खाता है, ७—पाकर का फल नहीं खाता है, ८—अंजीर का फल नहीं खाता है, ९—जुआ नहीं खेलता है, १०—चोरी नही करता है, ११—शिकार नही खेलता है, १२—वेश्या का व्यसन नही रखता है, १३—परस्त्री सेवन का व्यसन नही रखता है। पानी दोहरे कपड़े से छान कर शुद्ध पीता है, रात्रि के भोजन के त्याग का यथाशक्ति उद्योग रखता है। तथा गृहस्थ के यह छः कर्म साधता है—

(१) **देवपूजा**—श्री जिनेन्द्र की भक्ति करता है, (२) **गुरुभक्ति**—गुरु की सेवा करता है, (३) **स्वाध्याय**—शास्त्र नित्य पढ़ता है, (४) **तप**—रोज सामायिक प्रतिक्रमण करता है, (५) **संयम**—नियमादि लेकर इन्द्रिय दमन करता है, (६) **दान**—लक्ष्मी को आहार, औषधि, विद्या, अभयदान में व परोपकार मे लगाता है, दान करके भोजन करता है।

ग्यारह प्रतिमा स्वरूप—ग्यारह श्रेणियो में पहले का चारित्र आगे आगे बढ़ता जाता है। पहले के नियम छूटते नही हैं।

(१) **दर्शन प्रतिमा**—इस श्रेणी में पाक्षिक श्रावक के योग्य नियम जो ऊपर कहे हैं उनको पालता हुआ सम्यग्दर्शन को निर्मल रखता है, उसको आठ अग सहित पालता है। निःशंकितादि का वर्णन सम्यग्दर्शन अध्याय में किया जा चुका है। यहां अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वस्त्रीसन्तोष तथा परिग्रह प्रमाण इन पांच अणुव्रतो का अभ्यास करता है स्थूलपने पालता है, अतीचार नही बचा सकता है।

(२) **व्रत प्रतिमा**—इस श्रेणी में पहले के सर्व नियमों को पालता हुआ पांच अणुव्रतों के पच्चीस अतीचारों को बचाता है तथा सात शीलों को भी पालता है। उनके अतीचार पूरे नहीं टलते हैं अभ्यास करता है। सामायिक शिक्षाव्रत में कभी रागादि के कारण न भी करे व प्रोषधोपवास में भी कभी न कर सके तो न करे, एकासन या उपवास शक्ति के

अनुसार करे।

(३) **सामायिक प्रतिमा**—इस श्रेणी में पहले के नियम पालता हुआ श्रावक नियम से प्रातःकाल मध्यान्हकाल व सायकाल सामायिक करता है। दो घड़ी या ४८ मिनट से कम नहीं करता है किसी विशेष कारण के होने पर अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनट से कुछ कम भी कर सकता है। सामायिक के पाँचो अतीचारो को बचाता है।

(४) **प्रोषधोपवास प्रतिमा**---इस श्रेणी में नीचे के नियमों को पालता हुआ नियम से मास में चार दिन प्रोषध पूर्वक उपवास करता है। अतीचारों को बचाता है, धर्मध्यान में समय बिताता है। इसकी दो प्रकार की विधि है। एक तो यह है कि पहले व आगे के दिन एकासन करे, बीच के दिन उपवास करे, १६ प्रहर तक धर्म ध्यान करे। यह उत्तम है। मध्यम यह है कि १२ प्रहर का उपवास करे, सप्तमी की सन्ध्या से नौमी के प्रातःकाल तक आरम्भ छोडे, धर्म में समय बितावे। जघन्य यह है कि उपवास तो १२ प्रहर तक करे परन्तु लौकिक आरम्भ आठ प्रहर ही छोडे---अष्टमी को दिन रात।

दूसरी विधि यह है कि उत्तम तो पूर्ववत् १६ प्रहर तक करे। मध्यम यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे परन्तु तीन प्रकार के आहार का त्याग करे, आवश्यकतानुसार जल लेवे। जघन्य यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे, जल आवश्यकतानुसार लेते हुए बीच में एक भुक्त भी करले। इन दो प्रकार को विधियो में अपनी शक्ति व भाव को देखकर प्रोषधोपवास करे।

(५) **सचित्त त्याग प्रतिमा**—इस श्रेणी में नीचे के नियमोंको पालता हुआ सचित्त पदार्थ नहीं खावे। कच्चा पानी, कच्चा साग आदि न खावे, प्राशुक या गर्म पानी पीवे। सूखी, पकी, गर्म की हुई व छिन्न-भिन्न की हुई वनस्पति लेवे। पानी का रंग लवंगादि डालने से बदल जाता है तब वह पानी प्राशुक हो जाता है। सचित्त के व्यवहार का इसके त्याग नहीं है।

(६) **रात्रि भोजन त्याग**—इस श्रेणी में नीचे के नियमों को पालता

हुआ रात्रि को नियम से न तो आप चार प्रकार का आहार करता है न दूसरों को कराता है। मन, वचन, काय से रात्रि भोजन के करने कराने से विरक्त रहता है।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—स्वस्त्री का भी भोग त्याग कर **ब्रह्मचारी** हो जाता है, सादे वस्त्र पहनता है, सादा भोजना खाता है, घर में एकान्त में रहता है या देशाटन भी कर सकता है। पहले के सब नियमों को पालता है।

(८) **आरम्भ त्याग प्रतिमा**—पहले के नियमों को पालता हुआ इस श्रेणी में सर्व ही लौकिक आरम्भ व्यापार कृषि आदि त्याग देता है। आरम्भी हिंसा से विरक्त हो जाता है देखकर भूमि पर चलता है, वाहनों का उपयोग नही करता है, निमन्त्रण पाने पर भोजन कर लेता है, परम सन्तोषी हो जाता है।

(९) **परिग्रह त्याग**—पहले के नियमो को पालता हुआ इस श्रेणी में धन धान्य, रुपया पैसा मकानादि परिग्रह को देता है या दान कर देता है। थोडे से आवश्यक कपडे व खानपान के दो तीन बर्तन रख लेता है। घर से वाहर उपवन या नसिया में रहता हैं। निमन्त्रण से भोजन करता है।

(१०) **अनुमति त्याग प्रतिमा**---यह श्रावक यहाँ से पहले तक लौकिक कार्यों में गुण दोष बताता हुआ सम्मति देता था, अब यहाँ सांसारिक कार्यों की सम्मति देना भी त्याग देता है। भोजन के समय निमन्त्रित होकर जाता है। पहले के सब नियम पालता है।

(११) **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**---इस श्रेणी में पहले के नियम पालता हुआ निमन्त्रण से भोजन नहीं करता है भिक्षावृत्ति से जाकर ऐसा भोजन लेता है जो गृहस्थी ने अपने ही कुटुम्ब के लिये तैयार किया हो। उसके उद्देश्य से न बनाया हो। तब ही इस प्रतिमा को उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कहते हैं।

इसके दो भेद हैं---(१) **क्षुल्लक**---जो श्रावक एक लंगोट व एक ऐसी चद्दर रक्खे जिससे सर्व अग न ढका जावे। मस्तक ढका हो तो पग खुला

रहे, पग ढके हो तो मस्तक खुला हो जिससे इसको सरदी दंशमशक आदि की बाधा सहने का अभ्यास हो। यह श्रावक नियम से जीव दया के लिये मोर की पिच्छिका रखता है, क्योंकि वे बहुत ही मुलायम होते हैं, उनसे क्षुद्र जन्तु भी नहीं मरता है। तथा कमण्डल शौच से लिये जल के वास्ते रखते हैं। जो कई घरो से एकत्र कर भोजन करते हैं वे एक भोजन का पात्र भी रखते हैं। पांच सात घरों से एकत्र कर अन्तिम घर में जल लेकर भोजन करके अपने बर्तन को साफ कर साथ रख लेते हैं। जो क्षुल्लक एक ही घर में आहार करते हैं वे भिक्षा को जाकर आदर से भोजन दिये जाने पर एक ही घर मे थाली में बैठकर जीम लेते हैं। यह भोजन का पात्र नहीं रखते हैं। ये मुनि पद की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। स्नान नहीं करते है। एक दफे ही भोजन पान लेते हैं।

(२) **ऐलक**—जो चद्दर भी छोड देते हैं, केवल एक लंगोटी ही रखते हैं। यह साधुवत् भिक्षार्थं जाते हैं। एक ही घर में बैठकर हाथ में ग्रास रक्खे जाने पर भोजन करते हैं। यहा कमण्डल काठ का ही रखते हैं। केशो का लोच भी यह नियम से करते हैं। अपने हाथों से केश उपाड़ते हैं।

इस तरह उन ग्यारह श्रेणियो के द्वारा उन्नति करते २ श्रावक व्यवहार चारित्र के आश्रय से निराकुलता को पाकर अधिक २ निश्चय सम्यक् चारित्र रूप स्वानुभवका अभ्यास करता है। पंचम श्रेणी में अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान कषायें तो रहती ही नही, व प्रत्याख्यान कषायों का भी उदय मन्द-मन्द होता जाता है, ग्यारहवी श्रेणी में अति मन्द हो जाता है। जितनी २ कषाय कम होती है वीतरागभाव बढ़ता है उतना-उतना ही निश्चय सम्यक्चारित्र प्रगट होता जाता है। फिर प्रत्याख्यान कषाय के उदय को बिल्कुल जीत कर साधुपद में परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होकर स्वानुभव का अभ्यास करते-करते गुणस्थान क्रम से अरहन्त हो फिर गुणस्थान से बाहर सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

सहज सुख साधन—वास्तव में निश्चय रत्नत्रयमई आत्मा की एक

शुद्ध परिणति ही है। जब ही मन, वचन, काय के संयोगों को छोड़ कर आत्मा आत्मस्थ हो जाता है तब ही सहज सुख का स्वाद पाता है—चारित्र के प्रभाव से आत्मा में थिरता बढ़ती जाती है तब अधिक-अधिक सहज सुख अनुभव में आता जाता है। साधु हो या श्रावक सबके लिए स्वानुभव ही सहज सुख का साधन है।

इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी प्रयत्न किया जावे वह सहकारी है। वास्तव में सहज सुख आत्मा में ही है। आत्मा में ही रमण करने से वह प्राप्त होगा। आत्मरमणता का महात्म्य वर्णनातीत है—जीवन को सदा सुखदाई बनाने वाला है। इस जैन धर्म का भी यही सार है। प्राचीन काल में व आधुनिक जो जो महात्मा हो गए हैं उन्होने इसी गुप्त अध्यात्म विद्या का अनुभव किया व इस ही का उपदेश दिया। इसी ही को अवक्तव्य कहो या सम्यग्दर्शन कहो, या सम्यग्ज्ञान कहो या सम्यक्चारित्र कहो या केवल आत्मा कहो, या समयसार कहो, स्वसमय कहो, परमयोग कहो, धर्मध्यान कहो, शुक्लध्यान कहो, सहज सुख साधन कहो सब का एक ही अर्थ है। जो जीवन को सफल करना चाहे उनको अवश्य २ सहज सुख साधन के लिए आत्मविश्वास प्राप्त करके आत्मानुभव का अभ्यास करना चाहिए। जैनाचार्यों के सम्यक्चारित्र सम्बन्धी वाक्य नीचे प्रकार मनन करने योग्य हैं—

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥

भावार्थ—चारित्र ही धर्म है। जो समभाव है उसको ही धर्म कहा गया है। मोह, क्षोभ या रागद्वेष मोह रहित जो आत्मा का परिणाम है वही समभाव है वही चारित्र है।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥११॥

भावार्थ—धर्म से आचरण करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग

सहित होता है तो निर्वाण सुख को पाता है। यदि शुभ उपयोग सहित होता है तो स्वर्ग के सुख को पाता हैं।

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ।।१४।।

भावार्थ—जो साधु भले प्रकार जीवादि पदार्थों को और सिद्धान्त को जानने वाला है, संयम तथा तप से युक्त है, रागरहित है, सुख व दुःख में समान भाव का धारी है वही श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया हैं।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ।।८७।।

भावार्थ—मिथ्यात्व से रहित आत्मा अपने आत्मा के स्वरूप को भले प्रकार जानता हुआ जब रागद्वेष को भी छोड देता है तब शुद्ध आत्मा को पाता है।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ।।९९।।

भावार्थ—जो दर्शन मोह को नाश करने वाला है, जिनप्रणीत सिद्धान्त के ज्ञान में प्रवीण है, वीतराग चारित्र में सावधान है वही महात्मा साधु धर्मरूप है ऐसा विशेष रूप से कहा गया है।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।।१०७-२।।

भावार्थ—जो मोह की गाठ को क्षय करके साधु पद में स्थित होकर रागद्वेष को दूर करता है और दुःख तथा सुख में सम भाव का धारी होता है वही अविनाशी सुख को पाता है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ।।१०८-२।।

भावार्थ—जो महात्मा मोहरूप मैल को क्षय करता हुआ तथा पांचों इन्द्रियों के विषयो से विरक्त होता हुआ मन को रोकता हुआ चैतन्य स्वरुप में एकाग्रता से ठहर जाता हैं सो ही आत्मा का ध्याता होता है।

इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥४२-३॥

भावार्थ—जो मुनि इस लोक में विषयों की अभिलाषा से रहित है व परलोक में भी किसी पद की इच्छा नहीं रखते हैं, योग्य आहार तथा विहार के करने वाले हैं कषाय रहित हैं वे ही श्रमण हैं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥६१-३॥

भावार्थ—जो महात्मा पांच समितियो को पालते हैं, तीन गुप्ति को रखते हैं, पांचों इन्द्रियों को वश रखने वाले हैं, कषायों के विजयी हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से पूर्ण हैं, सयम को पालने वाले हैं वे ही श्रमण या साधु हैं ।

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥६२-३॥

भावार्थ—जो शत्रु तथा मित्र वर्ग को समभाव से देखते हैं । जो सुख व दुःख में समभाव के धारी हैं जो प्रशंसा तथा निन्दा किये जाने पर समभाव रखते हैं जो सुवर्ण और कंकड को एक दृष्टि से देखते हैं जिनके जीना तथा मरण एक समान है वही श्रमण कहाते हैं ।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥६३-३॥

भावार्थ—जो महात्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भावों में एक साथ भले प्रकार स्थित होते हैं व एकाग्र हो जाते हैं उन्हीं के साधुपना पूर्ण होता है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं—

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ॥१०४॥

भावार्थ—जो कोई जीवादि नव पदार्थों को जानकर उनके अनुसार आचरण करने का उद्यम करता है और मोह का क्षय कर डालता है वही जीव रागद्वेष के नाश होने पर संसार के पार पहुँच जाता है ।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित जो रागद्वेष चारित्र है वही बुद्धि व योग्यता प्राप्त भव्यो के लिए मोक्ष का मार्ग है ।

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो।।१५८।।

भावार्थ—जो महात्मा सर्व परिग्रह को त्यागकर व एकाग्र होकर अपने आत्मा को शुद्ध स्वभावमय देखता जानता है वही नियम से स्वचारित्र या निश्चय चारित्र का आचरण करता है ।

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ।।१७२।।

भावार्थ—राग मोक्ष मार्ग में बाधक है ऐसा समझकर सर्व इच्छाओं को दूर करके जो सर्व पदार्थों में किंचित् भी राग नही करता है वही भव्य जीव ससार सागर को तर जाता है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

आयारादीणाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ।।२८४।।
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।२८५।।

भावार्थ—आचारांग आदि शास्त्रो का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । जीवादि तत्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, छः काय के प्राणियों की रक्षा व्यवहार सम्यक्चारित्र है । निश्चय से मेरा ही आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है । मेरा आत्मा ही त्याग है, संवर है व ध्यान रूप है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशभावना में कहते हैं—

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं ।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।।६८।।

भावार्थ—उत्तम सुख के भोक्ता गणधरों ने श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप व मुनि का धर्म दशलक्षण रूप सम्यग्दर्शन पूर्वक कहा है।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।

बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।।६८।।

भावार्थ—देशविरत नाम पचम गुणस्थान में ग्यारह प्रतिमाए या श्रेणियां इस प्रकार हैं—:१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) प्रोषध (५) सचित्त त्याग (६) रात्रि भुक्ति त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

उत्तमखमामद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।

तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ।।७०।।

भावार्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार मुनि धर्म है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो ।

मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चितये णिच्चं ।।८२।।

भावार्थ—निश्चयनय से यह जीव श्रावक व मुनि धर्म दोनों से भिन्न है। इसलिए वीतराग भावना से मात्र शुद्धात्मा का नित्य अनुभव करना चाहिए। यही निश्चय सम्यक्चारित्र है।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।

परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ।।८६।।

भावार्थ—अनादिकालसे जितने महापुरुष मोक्ष गए हैं वे अनित्यादि बारह भावनाओं की बार-बार भले प्रकार भावना करने से गए हैं इसलिए इन बारह भावनाओं को बार-बार नमन करता हूं।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड में कहते हैं—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।।३।।

भावार्थ—जो जानता है सो ज्ञान है, जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके संयोग से चारित्र होता है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ।।४।।

भावार्थ—ये तीनो ही भाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र जीव के अक्षय और अनन्त स्वभाव हैं। इन्हीं की शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का—सम्यक्त का आचरण तथा संयम का आचरण कहा गया है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ—जो सम्यग्ज्ञानी महात्मा चारित्रवान हैं वे अपने आत्मा में किसी भी परद्रव्य को नहीं चाहते हैं। अर्थात् किसी भी पर वस्तु में रागद्वेष नही करते हैं। वे ही ज्ञानी अनुपम मोक्ष सुख को पाते हैं, ऐसा हे भव्य ! निश्चय से जानो।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड में कहते हैं—

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकषाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४५।।

भावार्थ—दीक्षा वह कही गई है जहां गृह व परिग्रह का व मोह का त्याग हो,बाईस परीषहो का सहना हो, कषायो की विजय हो व पापारंभ से विमुक्त हो।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिद्दाअलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४७।।

भावार्थ—जहां शत्रु व मित्र में समभाव है, प्रशंसा, निन्दा, लाभ व अलाभ में समभाव है, तृण व कंचन में समभाव है, वहीं जैनमुनि दीक्षा कही गई है।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४८।।

भावार्थ--जहां उत्तम राजमन्दिरादि व मध्यम घर--सामान्य मनुष्य आदि का इनमें कोई विशेष नहीं है । जो धनवान व निर्धन की कोई इच्छा नहीं रखते हैं, सर्व जगह भिक्षा लेते हैं, वही जैन दीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४६।।

भावार्थ--जो निर्ग्रन्थ हैं, असंग हैं, मान रहित हैं, आशा रहित हैं, ममकार रहित हैं, अहंकार रहित हैं, उन्हीं के मुनि दीक्षा कही गई है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५०।।

भावार्थ--जो स्नेह रहित हैं, लोभ रहित हैं, मोह रहित हैं, निर्विकार हैं, क्रोधादि कलुषता से रहित हैं, भय रहित हैं, आशारहित हैं उन्हीं के जैन दीक्षा कही गई है ।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५२।।

भावार्थ---जो शान्तभाव, क्षमा व इन्द्रिय सयम से युक्त हैं, शरीर के श्रृंगार से रहित हैं, उदासीन हैं, मद व राग व दोष से रहित हैं उन्ही के जिनदीक्षा कही गई है ।

पसुमहिलसंढसंगं कुसोलसंगं ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५७।।

भावार्थ--जो महात्मा पशु, स्त्री, नपुन्सक की संगति नहीं रखते हैं, व्यभिचारी पुरुषों की संगति नहीं करते हैं, विकथाए नहीं कहते हैं न सुनते हैं, स्वाध्याय तथा आत्मध्यान में लीन रहते हैं, उन्हीं के जिन दीक्षा कही गई है ।

तववयगुणेहिं सुध्दा संजमसम्मत्तगुणविसुध्दा य ।
सुध्दा गुणेहिं सुध्दा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५८।।

भावार्थ--जो महात्मा बारह तप, पांच महाव्रत, मूलगुण व उत्तर गुणों से शुद्ध हैं, संयम व सम्यग्दर्शन गुणों से निर्मल है व आत्मीक गुणों से शुद्ध हैं उन्हीं के शुद्ध दीक्षा कही गई है।

(७) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं-

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ।।८९।।

भावार्थ--जिन महात्माओं के भावों में शुद्धात्मा का अनुभव नहीं है उनका बाहरी परिग्रह का त्याग, पर्वत, गुफा, नदीतट, कन्दरा आदि स्थानों में तप करना, तथा सर्व ध्यान व आगम का पढ़ना निरर्थक है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।।३।।

भावार्थ--बाहरी परिग्रहका त्याग भावों की शुद्धताके निमित्त किया जाता है। यदि भीतर परिणामों में कषाय है या ममत्व है तो बाहरी त्याग निष्फल है।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ।।७।।

भावार्थ--शुद्धोपयोगमई भाव को न पाकर हे भव्य जीव ! तूने अनादि काल से लगाकर इस अनन्त संसार में बहुत बार निर्ग्रन्थरूप धार करके छोड़ा हैं।

भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ।।४८।।

भावार्थ--भाव सहित भेषधारी साधु का लिंग हो सकता है, केवल द्रव्यलिंग से या भेषमात्र से साधु नहीं हो सकता। इसलिये भावरूप साधुपने को या शुद्धोपयोग को धारण कर। भाव बिना द्रव्यलिंग कुछ नहीं कर सकता है।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।।५६।।

भावार्थ—जो साधु शरीर आदि की मूर्छा से रहित हैं, मान कषायादि से पूर्णपने अलग है तथा जिसका आत्मा आत्मा में मगन है वही भावलिंगी है ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ।।६१।।

भावार्थ—जो भव्य जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ आत्मा के स्वभाव की भावना करता है सो जरा मरण का नाश करता है और प्रगट रूप से निर्वाण को पाता है ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।।७२।।

भावार्थ—जो केवल द्रव्य से निर्ग्रन्थ हैं भेष साधु का है परन्तु शुद्धोपयोग की भावना से रहित हैं वे रागी होते हुए इस निर्मल जिन शासन मे रत्नत्रय धर्म को व आत्मसमाधि को नही पा सकते हैं ।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ।।१२२।।

भावार्थ—जो कोई भी द्रव्य लिंगी साधु हैं और वे इन्द्रियोके सुखोंमें आकुल हैं वे ससार के दुःखो को नही छेद सकते हैं परन्तु जो भाव लिंगी साधु हैं, शुद्धोपयोग की भावना करने वाले हैं वे ध्यान रूपी कुठार से संसार के दुःखो के मूल कर्मों को छेद डालते हैं।

(८) श्री कुन्दाकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते हैं—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ।।२६।।

भावार्थ—जो कोई महात्मा भयानक संसाररूपी महान समुद्र से निकलना चाहता है उसे उचित है कि कर्म रूपी ईंधन को जलाने के लिए अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे यही चरित्र है ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ।।२८।।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, पुण्य व पाप इन सब को मन वचन काय से त्यागकर योगी योग में स्थित हो, मौनव्रत के साथ आत्मा का ध्यान करे।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदा कुणह ।।३३।।

भावार्थ—साधु को उचित कि पाँच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार के चारित्र से युक्त होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित आत्मध्यान तथा शास्त्रपाठन इन दो कार्यों में सदा लगा रहे।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिवेहिं ।।४२।।

भावार्थ—कर्मरहित सर्वज्ञो ने उसे ही निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप चारित्र कहा है जिसको अनुभव करता हुआ योगी पुण्य तथा पाप बन्ध-कारक भावों का त्याग कर देवे।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ।।४९।।

भावार्थ—दृढ सम्यग्दर्शन से परिपूर्ण योगी दृढ़ चारित्रवान होकर यदि आत्मा को ध्याता है तो वह परमपद को पाता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।।५०।।

भावार्थ—आत्मा का धर्म सम्यक्चारित्र है वह धर्म आत्माका सम-भाव है वही रागद्वेष रहित आत्मा का अपना ही एकाग्र परिणाम है। आत्मस्थ भाव ही समभाव है व वही चारित्र है।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।।६१।।

भावार्थ—जो साधु बाहरी लिंग या भेष सहित है परन्तु भीतरी भावलिंग से रहित है, शुद्ध भाव से शून्य है वह निश्चय सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है।

उड्ढद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ॥८१॥

भावार्थ—इस ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक में कोई पदार्थ मेरा नहीं है, मैं एकाकी हूं। इस भावना से युक्त योगी ही अविनाशी स्थान को पाता है।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भावार्थ—निश्चयनय से जो आत्मा अपने आत्मा में अपने आत्मा के लिये मगन हो जाता है वही योगी सम्यक्चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार पचाचार में कहते हैं:—

पाणिवहमुसावादअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥८९॥

भावार्थ—प्राणीवध, मृषावाद, अदत्त ग्रहण, मैथुन, परिग्रह इनसे विरक्त होना चारित्राचार पाँच तरह का जानना चाहिये।

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदी सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥१३१॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में दृढ़ कवच पहरे हुए सिपाही सैकड़ों बाणों के पडने पर भी बाणों से नहीं भिदता है वैसे साधु ईर्या समिति आदि से कार्य सावधानी से करता हुआ पापो से लिप्त नहीं होता है।

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स ॥१३७॥

भावार्थ—जैसे खेत की रक्षा को बाड़ होती है व नगर की रक्षा

को खाई व कोट होता है, वैसे साधु के तीन गुप्तियें पापों से बचाने वाली हैं।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक में कहते हैं :—

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥३४॥

भावार्थ—सामायिक ही करने से वास्तव में साधु या श्रावक होता है इसलिये सामायिक को बहुत बार करना चाहिये।

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविण ओत्ति णादव्वो ॥८०॥

भावार्थ—जो सम्यक्चारित्र पालने का उद्यम करता है उसके पुराने कर्म झड़ते जाते हैं व नये कर्म नहीं बिनते हैं—चारित्र का प्रेम से पालन ही चारित्र विनय है।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना में कहते है :—

वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥३२॥

भावार्थ—साधुजन पृथ्वी में बिहार करते हुए किसी को भी कभी भी पीड़ा नहीं देते हैं। वे सर्व जीवों पर ऐसी ही दया रखते हैं, जैसे माता का प्रेम पुत्र पुत्री आदि पर होता है।

देहे णिरावियक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ॥४३॥

भावार्थ—साधुजन शरीर में ममत्व न रखते हुए, इन्द्रियों को निग्रह करते हुए, अपने आत्मा को वश रखते हुए, धैर्य को धारते हुए संसार के मूल कर्मों का छेदन करते हैं।

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥४९॥

भावार्थ—जैसे गाड़ी के पहिये में तेल देकर रक्षा की जाती है। वैसे

मुनिगण प्राणों की रक्षार्थ भोजन करते हैं, प्राणों को धर्म के निमित्त रखते हैं, धर्म को मोक्ष के अर्थ आचरण करते हैं।

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा।
पंचिदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ॥११५॥

भावार्थ—जो साधु पांच महाव्रत के पालने वाले हैं, पांच समितियों में प्रवर्तने वाले हैं, धीर वीर हैं, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हैं। वे ही पचमगति जो मोक्ष उसके अधिकारी हैं।

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भवंत दंतोत्ति ॥१२०॥

भावार्थ---भले प्रकार चारित्र पालने वाले साधुओं के ये नाम प्रसिद्ध हैं-(१) आत्मा को तप से परिश्रम कराने वाले श्रमण, (२) इन्द्रिय व कषायों के रोकने वाले संयत, (३) रिद्धियों को प्राप्त करने वाले ऋषि, (४) स्वपर पदार्थ के ज्ञाता मुनि (५) रत्नत्रय के साधने वाले साधु, (६) राग द्वेष रहित वीतराग, (७) सर्व कल्याण प्राप्त भदन्त, (८) इन्द्रिय विजयी दांत।

(१२) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार में कहते हैं :--

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं पावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥४॥
अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भव णिरारम्भो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥५॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यों को चारित्र के पालने का उपदेश देते हैं। भिक्षा से भोजन कर, वन में रह, थोड़ा जीम, दुःखो को सह, निद्रा को जीत,मैत्री और वैराग्य भावना को भले प्रकार विचार कर,लोक व्यवहार न कर, एकाकी रह, ध्यान में एकाग्रमन हो, आरम्भ मत कर, कषाय रूपी परिग्रह का त्याग कर, उद्योगी हो, असंग रह अर्थात् निर्मोह रह या आत्मस्थ रह।

थोवह्मि सिक्खदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ।।६।।

भावार्थ—थोड़ा शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो जो चारित्र से पूर्ण है वही संसार को जीतता है। जो चारित्र रहित है, उसके बहुत शास्त्रों के जानने से क्या लाभ है? मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है।

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि ।
समणं भट्टचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ।।१४।।
जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो ।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं।।१५।।

भावार्थ—जो कोई साधु बहुत शास्त्र को जानता है, बहुत शास्त्रों का अनुभवी हो व बहुत शास्त्रों को पढ़नेवाला हो तौ भी यदि वह चारित्र से भ्रष्ट है तौ वह सुगति को नही पा सकता है। यदि कोई दीप को हाथ में लेकर भी कुमार्ग में जाकर कूप में गिर पड़े तो उसका दीपक रखना निष्फल है वैसे ही जो शास्त्रो को सीख कर भी चारित्र को भंग करता है उसको शिक्षा देने का कोई फल नहीं है।

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ।।६१।।

भावार्थ—साधुओं को साध्वियों के या आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरना उचित नही है। न तो वहां बैठना चाहिए, न सोना चाहिए, न स्वाध्याय करना चाहिए, न साथ आहार करना चाहिए, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिए।

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ।।१०४।।

भावार्थ—जो अन्तरंग भावों से विरक्त है वही भावलिंगी साधु है। जो केवल बाहरी द्रव्यों से विरक्त है, अन्तरंग रागद्वेषादि का त्यागी नहीं है, उस द्रव्यलिंगी साधु को सुगति कभी नहीं होगी। इसलिए पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमनेवाले मन रूपी हाथी को सदा बांधकर रखना चाहिए।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥
जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३॥

भावार्थ—हे साधु ! यत्नपूर्वक देखके चल, यत्न से व्रत पाल, यत्न से भूमि शोधकर बैठ, यत्न से शयन कर, यत्न से निर्दोष आहार कर, यत्नपूर्वक सत्य वचन बोल; इस तरह वर्तन से तुझे पाप का बन्ध न होगा। जो दयावान साधु यत्नपूर्वक आचरण करता है उसके नये पाप कर्म का बन्ध नही होता है और पुरातन कर्म झड़ता है।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र में कहते हैं—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४६॥

भावार्थ—अज्ञानी कितने तपस्वी, पुत्र, धन व परलोक की तृष्णा के वश तप करते हैं परन्तु हे शीतलनाथ ! आपने जन्म जरा मरण रोग के दूर करने के लिए मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोक कर वीतरागभाव की प्राप्ति की।

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया
स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता ।
असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा परं
ततो निवृ तिधाम तावकम् ॥६८॥

भावार्थ—हे अनन्तनाथ ! आपने असंग धर्म अर्थात् ममत्वरहित वीतराग धर्मरूपी सूर्य के तेज से अपनी तृष्णारूपी नदी को सुखा डाला। इस नदी में आरम्भ करने की आकुलतारूप जल भरा है तथा भय की तरंगें उठ रही हैं इसीलिए आपका तेज मोक्षरूप है।

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरं-
स्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।।८३।।

भावार्थ—हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने आत्मध्यानरूपी आभ्यंतर तप की वृद्धि के लिए ही उपवास आदि बाहरी तप बहुत ही दुर्द्धर आचरण किया था। तथा आर्त रौद्र दो खोटे ध्यानों को दूर कर आप अतिशयपूर्ण धर्मध्यान और शुक्लध्यान में वर्तन करते हुए।

दुरितमलकलंकमष्टकं
निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसोख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशांतये ।।११५।।

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने अनुपम योगाभ्यास के बल से आठों कर्मों के महा मलीन कलंक को जला डाला तथा आप मोक्षसुख के अधिकारी हो गए। आप मेरे भी संसार के नाश के लिए कारण हों—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सातत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।११९।।

भावार्थ— सर्व प्राणियो पर अहिंसामई भाव को ही जगत में परम ब्रह्मभाव कहते हैं। जिसके आश्रम में जरासा भी आरम्भ है वहां अहिंसा नहीं रहती है। इसलिए हे नमिनाथ ! आप बड़े दयालु हैं, आपने अहिंसा ही के लिए भीतरी बाहरी परिग्रह का त्याग कर दिया और आप विकारी भेषों में रत न हुए ।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।।४७।।

भावार्थ– मिथ्यादर्शन के अन्धकार के मिटने से सम्यग्दर्शन तथा

सम्यग्ज्ञान के लाभ हो जाने पर साधु रागद्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को पालते हैं।

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्योविरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४६॥

भावार्थ—पाप कर्म के आने की मोरियां—पांच अशुभ कर्म की सेवा है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनका त्याग करना सम्यग्ज्ञानी के चारित्र है।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्व संगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥५० ॥

भावार्थ—चारित्र दो प्रकारका है—सकल और विकल। सर्व संग से रहित साधुओ के लिए सकल चारित्र है या महाव्रत है। संग सहित गृहस्थों के लिए विकल चारित्र या अणुव्रतरूप चारित्र है।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५१॥

भावार्थ—गृहस्थियों का चारित्र तीन प्रकार है—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

भावार्थ--श्री गणधरादि देवों ने श्रावकों के ग्यारह पद (प्रतिमाएँ) बनाए हैं। हरएक पद में अपने चारित्र के साथ पूर्व के पद का चारित्र क्रम से बढ़ता रहता है। जितना२ आगे के पद में जाता है, पहला चारित्र रहता है और अधिक बढ़ जाता है।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं—

वाहिरतवेण होदि हु, सव्वा सुहसीलता परिच्चत्ता ।
सल्लिहिदं च सरीरं, ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २४२ ॥
दंताणि इंदियाणि य, समाधिजोगा य फासिया होंति ।
अणिगूहिदवीरियदा, जीविदतण्हा य वोछिण्णा ॥२४३॥

भावार्थ-- उपवास ऊनोदर आदि बाहरी तप के साधन करने से सुखिया रहने का स्वभाव दूर होता है। शरीर में कृषता होती है। संसार देह भोगों से वैराग्यभाव आत्मा में जमता है। पांचों इन्द्रियां वश में होती हैं, समाधि-योगाभ्यास की सिद्धि होती है, अपने आत्मबल का प्रकाश होता है, जीवन की तृष्णा का छेद होता है।

णत्थि अणूदो अप्पं, आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह तह जाण महल्लं, ण वयमहिंसासमं अत्थि ।।७८७।।
जह पव्वएसु मेरू, उच्चाओ होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं, सीलेसु वदेसु य अहिंसा ।।७८८।।

भावार्थ--जैसे परमाणु से कोई छोटा नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है तैसे अहिंसा के समान महान व्रत नहीं है। जैसे लोक में सबसे ऊँचा मेरु पर्वत है वैसे सर्व शीलों में व सर्व व्रतों में अहिंसा व्रत ऊँचा है।

सव्वग्गंथविमुक्को, सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीइसुहं, ण चक्कवट्टी वि तं लहदि ।।११८२।।
रागविवागसतण्हाइगिद्धिअवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।११८३।।

भावार्थ--जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित हैं, शान्तचित्त है व प्रसन्न चित्त है उसको जो सुख और प्रेम प्राप्त होता है उसको चक्रवर्ती भी नहीं पा सकता है। चक्रवर्ती का सुख राग सहित, तृष्णा सहित व बहुत गृद्धता सहित है व तृप्ति रहित है जबकि असग महात्माओं को जो स्वाधीन आत्मीक सुख है उसका अनन्तवां भाग भी सुख चक्री को नहीं है।

इंदियकसायवसगो, बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खो व छिण्णपक्खो, ण उप्पददि इच्छमाणो वि ।१३४३।

भावार्थ--जो कोई बहुत शास्त्रों का ज्ञाता भी है, परन्तु पांच इन्द्रियों के विषयों के व कषायों के आधीन है वह सम्यक्चारित्र का उद्यम

नहीं कर सकता है। जैसे—पंख रहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड़ नहीं सकता है।

णासदि य सव्वं बहुगं, पि णाणमिदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिदं दुद्धं, णस्सदि जध सक्कराकढिदं।।१३४४।।

भावार्थ—इन्द्रिय विषय और कषायों से मिला हुआ बहुत बड़ा ज्ञान नाश हो जाता है जैसे—मिश्री मिलाकर औटाया हुआ दूध भी विष के मिलने से नष्ट हो जाता है।

अब्भंतरसोधीए, सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरं दोसं ।।१३५०।।

भावार्थ—अन्तरंग आत्मा के परिणामों की शुद्धता से बाहरी क्रिया की शुद्धता नियम से होती है। भीतर भावों में दोष होने से मनुष्य बाहर भी दोषों को करता है।

होइ सुतवो य दीवो, अण्णाणतमन्धयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तवो,वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ।।१४६६।।

भावार्थ—अज्ञानरूपी अंधेरे में चलते हुए उत्तम तप ही दीपक है। सर्व ही अवस्थामें यह तप प्राणियोंके लिए पिताके समान रक्षा करता है।

रक्खा भएसु सुतवो, अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।
णिस्सेणी होइ तवो,अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ।।१४७१।।

भावार्थ—भयों से रक्षा करने वाला एक तप ही है। उत्तम तप सर्व ऐश्वर्यों की खान है। यही आत्मानुभवरूपी तप मोक्ष के अविनाशी सुख पर पहुँचने की सीढ़ी है।

तं णत्थि जं ण लब्भइ, तवसा सम्मंकएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिउं,कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।।१४७२।।

भावार्थ—जगत में ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जो सम्यक् तप करने वाले पुरुष को प्राप्त न होवे। जैसे अग्नि तृण को जला देती है वैसे तप रूपी अग्नि कर्म रूपी तृणों को जला देती है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ।।१६८८।।

भावार्थ—जिसने राग को जीता है, द्वेष को जीता है, इन्द्रियों को जीता है, भय को जीता है, कषायों को जीता है, रति अरति व मोहभाव को जिसने नाश किया है वही पुरुष सदाकाल ध्यान में उपयुक्त रह सकता है।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ।।७१।।

भावार्थ—जिसके चित्त में निष्कम्प आत्मा में थिरता है उसी को अवश्य मोक्ष का लाभ होता है। जिसके चित्त में ऐसा निश्चल धैर्य नहीं है उसको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।।७२।।

भावार्थ—मानवों से वार्ता करने से मन की चंचलता होती है जिससे मन में अनेक विकल्प व भ्रम पैदा होता है, ऐसा जानकर योगी मानवों की संगति छोड़े।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।८३।।

भावार्थ—हिंसादि पापों से पाप का बन्ध होता है। जीवदया आदि व्रतों से पुण्य बन्ध होता है। मोक्ष तो पुण्य पाप के नाश से होता है। इसलिए मोक्षार्थी जैसे हिंसादि पांच अव्रतों छोड़ता है वैसे वह अहिंसादि पांच व्रतों के पालने का भी विकल्प छोड़ देता है।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ।।८४।।

भावार्थ—ज्ञानी जीव पहले अव्रतों को छोड़ कर अहिंसादि व्रतों में

अपने को जमाता है। पश्चात् आत्मा का श्रेष्ठ निर्विकल्प पद पाकर व्रतों को भी छोड़ देता है अर्थात् व्रतों के पालने का ममत्व भी उसके छूट जाता है।

(१७) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकं ॥
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलं ॥१८९॥

भावार्थ—सर्व शास्त्रों को पढ़ कर तथा दीर्घकाल तक घोर तप साधन कर यदि तू शास्त्रज्ञान और तप का फल इस लोक में लाभ बड़ाई आदि चाहता है तो तू विवेकशून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष के फूल को ही तोड डालता है। तब तू उस वृक्ष के मोक्षरूपी पक्के फल को कैसे पा सकेगा? तप का फल मोक्ष है यही भावना कर्तव्य है।

तथा श्रुतमधाव्व शश्वदिह लोकपंक्ति बिना।
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ॥
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्।
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः॥१९०॥

भावार्थ—हे भव्य ! तू इस लोक में लोगों की संगति बिना शास्त्र को ऐसा पढ़ व महान् कायक्लेश तप से शरीर को भी ऐसा शोष जिससे तू दुर्जय कषाय और विषयरूपी बैरी को विजय कर सके क्योंकि महामुनि तप व शास्त्र का फल शान्त भाव को ही मानते हैं।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे सति ॥२२४॥

भावार्थ—ससार समुद्र का तट निकट होते हुए विवेकी पुण्यात्मा

जीव को इतनी बातों की प्राप्ति होती है—(१) इन्द्रियों के विषय में विरक्तभाव, (२) परिग्रह का त्याग, (३) कषायों को जीतना, (४) शान्त भाव, (५) आजन्म अहिंसादि व्रत पालन (६) इन्द्रियों का निरोध, (७) तत्व का अभ्यास, (८) तप का उद्यम, (९) मन की वृत्ति का निरोध, (१०) जिनेन्द्र में भक्ति, (११) जीवों पर दया।

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं ॥२२६॥

भावार्थ—जब तक छोड़ने लायक मन वचन काय का सम्बन्ध है तब तक पर से निवृत्ति की या वीतरागता की भावना करनी चाहिये। और जब पर पदार्थ से सम्बन्ध न रहा तब वहां न वृत्ति का विकल्प है और न निवृत्ति का विकल्प है। वही आत्मा का अविनाशी पद है।

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनं ।
तौ च बाह्यार्थसम्बन्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

भावार्थ—राग द्वेष होना ही प्रवृत्ति है। उन्हीं का न होना निवृत्ति है। ये राग द्वेष बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध से होते हैं इसलिये बाहरी पदार्थों का त्याग करना योग्य है।

सुखं दुःखं वास्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुतः इति विकल्पाद्यदि भवेत् ।
उदासीनस्तस्य प्रगलितपुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

भावार्थ—अपने ही किये हुए कर्मों के उदय के वश से जब सुख या दुख होता है तब उनमें हर्ष या विषाद करना किसलिये ? ऐसा विचारकर जो राग द्वेष न करके उदासीन रहते हैं उनके पुरातन कर्म झड जाते हैं और नये नहीं बधते हैं। ऐसे ज्ञानी, तपस्वी महामणि की तरह सदा प्रकाशमान रहते हैं।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं —

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।३९।।

भावार्थ—सर्व पाप सम्बन्धी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र सर्व कषायों से रहित, वीतरागमय, स्पष्ट आत्मा के स्वरूप का अनुभव है अर्थात् आत्मा रूप ही है।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।।४०।।

भावार्थ—चारित्र दो प्रकार है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापों से पूर्णतया विरक्त होना महाव्रत रूप चारित्र है तथा इन पापो से एक देश विरक्त होना अणुव्रत रूप चारित्र है।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।।४१।।

भावार्थ—पाचो पापो से बिलकुल छूट जाने पर जब यह आत्मा समयसार या शुद्धानुभव रूप होता है तब वही यति या साधु है जो इनके एक देश त्याग में रत है। उसको श्रावक कहते हैं।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।४२।।

भावार्थ—हिंसादि पांचो ही पापो में आत्मा के शुद्ध भावों की हिंसा होती है, इसलिये ये सब हिंसा में गर्भित हैं। अनृत वचन, चोरी आदि चार पापो के नाम उदाहरण रूप शिष्यों के समझाने के लिये हैं।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावस्वरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।४३।।

भावार्थ—जो क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय की प्रवृत्ति से भावप्राण और द्रव्य प्राणो का वियोग करना व उनको कष्ट पहुँचना यही वास्तव म हिंसा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।४४।।

भावार्थ—अपने परिणामों में रागादि भावो का प्रगट न होने देना वही अहिंसा है और उन्हीं का प्रगट होना सो ही हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१४।।

भावार्थ—जितने अश परिणाम मे वीतराग रूप चारित्र गुण प्रगट होता है उतने अश वह गुण-बन्ध नहीं करता है। उसी के साथ जितना अश राग रहता है उतना अश बन्ध होता है।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते है—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः
श्रयति भूमिमिमां स एकः ।।४-१२।।

भावार्थ—जो कोई ज्ञानी स्याद्वादनय के ज्ञान मे कुशल है और संयम के पालने में निश्चल है और निरन्तर अपने आत्मा को तल्लीन होकर ध्याता है वही एक आत्मज्ञान और चारित्र दोनों के साथ परस्पर तीव्र मैत्री करता हुआ इस एक शुद्धोपयोग की भूमि को प्राप्त करता है जो मोक्षमार्ग है और कर्मनाशक है।

चिदात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्ड-
मेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ।।७-१२।।

भावार्थ—यह आत्मा नाना प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। यदि इसको एक-एक अपेक्षा से खण्ड रूप देखा जाय तो इसका वास्तविक

स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसलिए भेद रहते हुए भी मैं अपने को अभेदरूप अखण्ड एक परम शान्त निश्चल चैतन्य ज्योतिरूप अनुभव करता हू। यही सम्यक्चारित्र है।

(२०) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्य यतः क्षिप्यते ।।
काठिन्य परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यायविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः।।५३।।

भावार्थ- क्योकि काम, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या, मद, द्वेष,प्रमाद आदि दोषो क होने पर शुद्ध आत्मध्यान को बढाने वाली मन की स्थिरता बिगड जाती है इसलिए जैसे तापकारी अग्नि की ज्वालाओ से सुवर्ण की कठिनता मिटा दी जाती है उसी तरह आत्मा के ध्यान करने वालो को उचित है कि वे इन कामादि विकारो को दूर से ही त्याग करे।

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायक कुर्वता ।।
तप्यते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छन्ति ते निर्वृतिम् ।।८९।।

भावार्थ-- जो अपने मे शील व सयम के भार को रखते हैं,परपदार्थ की सहायता त्याग चुके है, जिनका मन शरीर से भी रागरहित है तथापि उसकी सहायता से जो बहुत कठिन तप करते हैं तो भी जिनके भीतर कोई कामना नही है वे ही इस भयभीत ससारवन को उल्लघकर मोक्ष को चले जाते हैं।

पूर्व कर्म करोति दुःखमशुभ शौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभ निहतु मनसो ये पोषयंते तपः ।।
जायते शमसयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ।।९०।।

भावार्थ—पूर्व बांधा हुआ अशुभ कर्म उदय में आकर दुःख पैदा करता है तथा शुभ कर्म सुख को पैदा करता है। ऐसा जानकर जो महात्मा अशुभ कर्म को क्षय करने के लिए तप करते हैं वे साम्यभाव व संयम के भण्डार योगी इस जगत में दुर्लभ हैं। तिस पर भी जो पुण्य व पाप दोनो ही कर्मों के नाश में तत्पर हैं, ऐसे योगियो के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ? उनका मिलना तो बहुत कठिन है ही।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रम् सताम् ।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम् ।
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।९७।।

भावार्थ—चक्रवर्ती तप करने के लिए सुदर्शन चक्र का त्याग कर देते हैं इसमें सज्जनो को कोई आश्चर्य नही होता है क्योकि वह तप वीर साधुओ को अविनाशी अनुपम मोक्षकी सम्पदा को देता है। परम आश्चर्य तो इस बात में आता है जो कोई तप को छोडकर इन्द्रिय विषय को ग्रहण कर लेता है, वह इस महान व भयानक ससार समुद्र मे पड कर अनेक दुःखों में अपने को पटक देता है।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिं ।।
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ।।९८।।

भावार्थ—जो मूढ़ प्राणी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमई मोक्ष मार्ग को छोड़ कर मात्र ज्ञान से ही इस ससार के किले को उल्लघकर अनुपम सुखमई मुक्ति की इच्छा करते हैं वे मानो कल्पकाल की उडी हुई वायु से क्षोभित और जलचरो से भरे हुए इस समुद्र को दोनो भुजाओ से तर कर अपने नगर में पहुंचना चाहते हैं सो कठिन है।

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरंतम् ।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही ।।

कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ।।११६।।

भावार्थ—शुद्ध आत्म ज्ञान धारी गृहस्थी भी घर में रहकर कभी **तो धर्म सेवता है,** कभी महान् अधर्म सेवता है, कभी दोनो को सेवता हैं, तब बताइये यह गृहवास किस तरह सर्व कर्म मल से शुद्ध करने वाला हो सकता है ? ऐसे निर्मल मन धारको ने विचार कर इस गृहवास को मन वचन काय से त्याग ही किया ।

(२१) श्री पद्मनन्दिमुनि पद्मनन्दिपच्चीसी के धर्मोपदेशामृत अधिकार में कहते हैं :—

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।।
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमल दर्शनं यत्र पूज्यं ।
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः।।१३।।

भावार्थ—जिस गृहस्थपने मे श्री जिनेन्द्र की आराधना की जावे, गुरुओं की विनय की जावे, पात्रो को भक्तिपूर्वक दान दिया जावे, आपदा से दुःखित दीनों को दया मे दान दिया जावे, अपने नियम व्रतो की रक्षा में प्रेम किया जावे, तथा निर्मल सम्यग्दर्शन पाला जावे, वही गृहस्थपना बुद्धिमानो के द्वारा माननीय है। जहाँ ये सब बातें नहीं वह गृहस्थपना नही है किन्तु दु खदाई मोह का फन्दा है ।

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या
मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न वहुभिर्नियोगैः
क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ।।५०।।

भावार्थ—हे मुने ! अपने भीतर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप का अभ्यास करो, लोगो के रिझाने से क्या लाभ ? मोह भावको कृष करो, कम करो, शरीर को दुबला करने से क्या लाभ ? यदि मोह की कमी और आत्मानु-

मव का अभ्यास ये दो बातें न हों तो बहुत भी नियम, व्रत, संयम से व काय क्लेश रूप भारी तपों से क्या लाभ ?

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि पद्मनन्दि पच्चीसी के यति भावना में कहते हैं :—

भेदज्ञानविशेषसंहृतदमनोवृत्तिः समाधिः परो ।
जायेताद्भुतधाम धन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ।।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा ।
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।।७।।

भावार्थ—इस जगतमें कितने ही साम्यभावके धारक धन्य योगीश्वर हैं जिनके भीतर भेद विज्ञान के बल से मन की वृत्ति रुक जाने से उत्तम ध्यान का प्रकाश परम निश्चल हो रहा है जिसको देखकर आश्चर्य होता है। वे ऐसे निश्चल ध्यानी हैं कि कोई प्रकार के उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलायमान नही होते। यदि मस्तक पर वज्रपात पड़े या तीन भुवनों में अग्नि जल जावे व प्राणो का नाश भी हो जावे तो भी उनके परिणामो में विकार नही होता है।

(२३) श्री पद्मनन्दि मुनि पद्मनन्दि पच्चीसी उपासक संस्कार में कहते हैं :—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ।।७।।

भावार्थ—देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान ये गृहस्थो के नित्य प्रति दिन करने के कर्म हैं।

(२४) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चय पंचाशत् में कहते हैं :—

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशं ।।१८।।

भावार्थ—चारित्र की शुद्धता से जब दर्शन ज्ञान गुण विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं तब संसार कहां से रहेगा ? अर्थात संसार नहीं रहता

है। जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि सम्बन्धी अन्धकार क्या नाश नहीं होगा ? अवश्य होगा।

(२५) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं —

छित्वा स्नेहमयान् पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

भावार्थ—वही वीर पुरुष मोक्षमार्ग मे चलने वाला है जो स्नेहमयी जालो को छेद करके व मोह की महान जजीरो को तोड़ करके सम्यक् चारित्र को धारण करता है।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः ।
संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनां ॥३०॥

भावार्थ—जो इन्द्रिय विषय रूपी सर्प से डसा हो व जिसको कषाय रूप विष से मूर्छा आ गई हो उसके लिए सयम ही महामन्त्र है, यही सर्व जगह प्राणियो का रक्षक है।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्र कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्ति शमे च परमां रतिं ॥४७॥

भावार्थ—उत्तम नर जन्म पाया है तो यत्नपूर्वक चारित्र का पालन कर, रत्नत्रय धर्म मे दृढ भक्ति कर व शान्त भाव में श्रेष्ठ प्रीति कर।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः ।
सद्धर्मं चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिण; ।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तू यत्नपूर्वक धर्म का आचरण कर, मृतक के समान मत बन। जिन मानवो के चित्त मे सच्चा धर्म है उन्ही का जीवन सफल है। जो धर्माचरण करने वाले हैं वे मरने पर भी अमर हैं परन्तु जो मानव पाप के मार्ग मे जाने वाले हैं वे जीते हुए भी मृतक के समान हैं।

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशनः ।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ।।१०३।।
दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत् ।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ।।१०४।।
तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं जिनमार्गरताः सदा ।
ये सत्खंडितां यांति स्मरशल्यं सुदुर्धरं ।।१०२।।

भावार्थ—कामभाव मन को दूषित करने वाला है, सद्गति का नाशक है, सम्यक्चारित्र को नष्ट करने वाला है। यह काम परम्परा अनर्थकारी है। काम दोषों का भण्डार है, गुणों का नाश करने वाला है, पाप का खास बन्धु है। बड़ी-बडी आपत्तियों को बुलाने वाला है इसलिये सदा जैन धर्म में लीन होकर सम्यक्चारित्र का पालन करो जिससे अति कठिन काम की शल्य चूर्ण चूर्ण हो जावे।

उपवासोऽवमोदर्यं रसानां त्यजनं तथा ।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनं ।।११५।।
असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरणं तथा ।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारिपोः ।।११६।।

भावार्थ—उपवास करना, भूख से कम खाना, रसों का छोड़ना, स्नान न करना, ताम्बूल को न खाना, काम सेवा न करना, काम की इच्छा को रोकना, काम भाव का स्मरण न करना ये सब काम रूपी महा शत्रु के नाश के उपाय हैं।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव विपत्तौ नैव दुःखिताः ।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ।।१७०।।

भावार्थ—महान् पुरुषों का यह लक्षण है कि सम्पत्ति होने पर आश्चर्य न माने व विपत्ति पड़ने पर दुःखी न हों, केवल लक्ष्मी का होना ही महापुरुष का लक्षण नहीं है।

गृहाचारकवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदंति नरशार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥१८३॥

भावार्थ—नरसिंह के समान मानव भी बन्धुजनों के बन्धनों में बधे हुए, इन्द्रिय विषय रूपी मास के लोभी होकर इस गृहस्थी के कुवास में कष्ट पाते रहते हैं ।

मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥१९४॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥१९५॥

भावार्थ—जो कोई महात्मा दृढ मान के खम्भ को चूर्ण कर डालता है, लोभ रूपी पर्वत के खण्ड-खण्ड कर देता है, माया की बेल को उखाड़ के फेंक देता है, क्रोध शत्रु को मार डालता है वही ध्यान में लीन होकर परम हितकारी यथाख्यात वीतराग चारित्र को पाकर परम पद को प्राप्त कर लेता है ।

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

भावार्थ—जो महात्मा परीषहों को जीतने में वीर हैं, इन्द्रियों के निरोध में शूर हैं, कषायो के विजय में पराक्रमी हैं, उन्हीं को बुद्धिमानों ने वीर पुरुष कहा है ।

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥२१३॥

भावार्थ—जो सज्जन सुमनधारी सर्व प्राणिमात्र में समताभाव रखता है और ममता के भाव को छोड़ देता है वही अविनाशी पद को पाता है ।

रागादिवर्जनं संगं परित्यज्य दृढव्रताः ।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः ॥२२३॥

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥२२४॥

भावार्थ—जो महा बुद्धिमान रागद्वेषादि भावों को हटाकर, परिग्रहों को त्यागकर, महाव्रतो में दृढ़ होकर, निर्मल चित्त से तप करते हैं वे ही धीर हैं। जो संसार से वैराग्यवान हैं, मोक्ष सुख की भावना रखते हैं व सर्व परिग्रह से मुक्त हैं उन्हीं का जीवन धन्य है।

संगात्संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वाञ्छति संचयम् ।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरंपरा ॥२३२॥

भावार्थ—परिग्रह से गृद्धता होती है। गृद्धता होने पर धन संचय करना चाहता है। धन के सचय से लोभ बढ़ता है, और लोभ से दुःखों की परम्परा बढ़ती जाती है।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखण्डलपुरःसरैः ।
असद्वृत्तस्तु लोकेऽस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि ॥२७५॥

भावार्थ—सम्यक्चारित्रवान की पूजा इन्द्रादि देव भी करते हैं, किन्तु जो चारित्रवान नही है उसकी इस लोकमें देवगणभी निन्दा करते हैं।

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनं ।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥३२२॥

भावार्थ—दुःखों को नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान, सयम व अर्हन्त पूजा इन सबको कारण रूप कहा गया गया है इसमें कोई संशय नहीं है।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत् ।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदं ॥३२३॥

भावार्थ—जो पर के धन को तृण समान, पर के शरीर को अपने शरीर के समान, व पर की स्त्री को माता के समान देखता है वही परम पद को पाता है।

(२६) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितं ।।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्यु दासैकलक्षणं ।।१-८।।

भावार्थ— जो आत्मा की शुद्धता का उत्कृष्ट धाम है, जो योगीश्वरों का जीवन है, सर्व पापों से दूर रखने वाला है, वही सम्यक्चारित्र है ।

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितं ।
श्री वीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलं ।।५-८।।

भावार्थ—श्री वीर भगवान ने वर्णन किया है कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल है ।

निःस्पृहत्वं महत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकं ।।२०-८।।

भावार्थ—जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशा-रहितपना, उनका कठिन तप, कायक्लेश तथा दान ये सर्व धर्म कार्य निष्फल हैं ।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ।।३२-८।।
अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ।।३३-८।।

भावार्थ—अहिंसा ही जगत की रक्षिका माता है, अहिंसा ही आनन्द की सन्तान बढ़ाने वाली है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है, अहिंसा से ही उत्तम गति होती है, अहिंसा ही मोक्ष सुख को देती है, अहिंसा ही स्वर्ग सम्पदा देती है, अहिंसा ही परम हितकारी है, अहिंसा ही सर्व आपदाओं को नाश करती है ।

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ।।४२-८।।

भावार्थ—तपस्या, शास्त्रज्ञान, महाव्रत, आत्मज्ञान, धर्म ध्यान,

दान आदि शुभ कर्म, सत्य, शील, व्रत आदि की माता अहिंसा ही कही गई है। अहिंसा के होते हुए ये सब यथार्थ हैं।

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कर्दर्थिते ।
स निर्दयः परस्यांगे कथं शस्त्रं निपातयेत् ।।४८-८।।

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शरीर में तिनका चुभने पर भी अपने को दुःखी मानता है वह निर्दयी होकर परके शरीर पर शस्त्रों को चलाता है यही बड़ा अनर्थ है।

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दितां ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरं ।।५२-८।।

भावार्थ—सर्व प्राणियों को अभय दान दो, उनके प्राणों की रक्षा करो, सर्व से प्रशंसनीय मित्रता करो, जगत के सर्व स्थावर व त्रस प्राणियों को अपने समान देखो।

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणं ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतं ।।२७-९।।

भावार्थ—यह सत्य नाम व्रत सर्व व्रतों का शास्त्र ज्ञान का व यम नियम का स्थान है। विद्या व विनय का यही भूषण है। चारित्र व ज्ञान का यही बीज है।

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखं,
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यं ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं,
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ।।२०-१०।।

भावार्थ—जिस धर्म वृक्ष की जड़ विषयों से विरक्ति है, जिसकी बड़ी शाखा संयम है, जिसके यम नियमादि पत्र हैं, व उपशम भाव पुष्प हैं। ज्ञानानन्द रूपी जिसके फल हैं। जो पण्डित रूपी पक्षियों से सेवित है। ऐसे धर्म वृक्ष को मुनि भी हो तो भी चोरी रूपी तीव्र अग्नि से भस्म कर डालता है।

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योसित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ।।६-११।।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य व्रत के पालने वाले को जो स्त्री के संग से विरक्त है, दश प्रकार मैथुन को अवश्य त्यागना चाहिये। इस मैथुन का फल अन्त में विरस होता है।

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनं ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ।।७-११।।
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितं ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतं ।।८-११।।
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणं ।।९-११।।

भावार्थ—दश प्रकार का मैथुन यह हैं (१) शरीर का शृंगार, (२) पुष्ट रस का सेवन, (३) गीत नृत्य वादित्र का देखना सुनना, (४) स्त्रियों की संगति, (५) स्त्रियों के विषयों का सकल्प करना, (६) स्त्रियों के अंग देखना, (७) देखने का सस्कार मन में रखना, (८) पूर्व के भोगों का स्मरण, (९) कामभोग की भावना करनी, (१०) वीर्य का झडना।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसंगाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यं ।।४८-११।।

भावार्थ—इस जगत को काम की अग्नि के प्रचण्ड और अनन्त सन्तापों से पीडित देखकर विषयों से विरक्त योगीश्वर प्रतिदिन सयमरूपी उपवन मे शोभायमान ऐसे शान्तिसागर के तट का ही आश्रय लेते हैं। बाहरी काम से विरक्त होकर अन्तरग आत्मानुभव करते हैं।

सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ।।१४-१५।।

भावार्थ—सत्पुरुषों की सत्संगति रूपी अमृत के झरने से पुरुषों का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसमें विवेक से प्रसन्न हुई ज्ञानरूपी लक्ष्मी निवास करती है।

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथासद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ।।१७-१५।।

भावार्थ—जैसे चन्द्रमा की किरणों की संगति से समुद्र बढ़ता है, वैसे सम्यक्चारित्र के धारी महात्माओं की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञा (भेदविज्ञान) रूपी समुद्र बढ़ता है।

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः ।
भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ।।१९-१५।।

भावार्थ—अनुभवी सुचारित्रवान वृद्धों की सेवा करने वालों के ही चारित्र आदि सम्पदाएं प्राप्त होती हैं तथा क्रोधादि कषायों से मैलापन भी निर्मल हो जाता है।

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं ।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ।।३७-१५।।

भावार्थ—महात्माओं की संगति कल्पवृक्ष के समान सर्व प्रकार के मनोवांछित फल देने को समर्थ है अतएव चारित्र की रक्षार्थ महान् पुरुषों की सेवा कर्तव्य है।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धम् लुनीते
वितरति यमसिद्धि भावशुद्धि तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ।।४१-१५।।

भावार्थ—वृद्ध महात्माओं की सेवा मानवों के लिए निश्चय से परम कल्याणकारिणी हैं, पापरूपी वन को जलाती है, कर्मबन्ध को काटती है, चारित्र को सिद्ध कराती है, भावों को शुद्ध रखती है, संसार के पार पहुंचाती है तथा ज्ञान के राज्य को या केवलज्ञान को देती है।

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचम्
विसृज विसृज मोहं विद्धि विध्दि स्वतत्त्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥४२-१५॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू परिग्रह से विरक्त हो, विरक्त हो, जगत के प्रपंच को छोड़ छोड़, मोह को बिदा कर, बिदा कर, आत्मतत्त्व को समझ, समझ, चारित्र का अभ्यास कर, अभ्यास कर, अपने आत्म-स्वरूप को देख देख तथा मोक्ष के सुख के लिए पुरुषार्थ को बारबार कर।

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम् ।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४३-१५॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा, अनन्त सुख समुद्र, केवलज्ञान के बीज, कलकरहित, निर्विकल्प, निःशंक, ज्ञानापेक्ष विश्वव्यापी, महान्, तथा निर्विकार आत्मा को ही भज, उसी का ही ध्यान कर।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्ष; स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिता ॥३३-१६॥

भावार्थ—जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, इन्द्रियविजयी है, स्थिरचित्त है वही संयमी मुनि श्री महावीर द्वारा कथित आत्म ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥४०-१६॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! यदि तू ससार के बन्ध का नाश करना

चाहता है तो तू सर्व विषयों का मूल, सर्व पापों का बीज, नरक नगर को ध्वजा रूप परिग्रह के समूह को त्याग कर, मुनियों के समूह को आनन्द देने वाले सन्तोषरूपी राज्य को अंगीकार कर।

आशा जन्मोग्रपंकाय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ।।१९-१७।।

भावार्थ—संसार के पदार्थों की आशा संसाररूपी कर्दम में फंसाने वाली है। जबकि आशा का त्याग मोक्ष को देने वाला है ऐसा भले प्रकार विचार कर, जिसमें तेरा हित हो वैसा आचरण कर।

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम्।।२४-१८।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा में स्थित सर्व क्लेशों से रहित अमूर्तीक, परम उत्कृष्ट, अविनाशी, निर्विकल्प और अतीन्द्रिय अपने ही आत्मस्वरूप का अनुभव कर। उसी को देख। यही निश्चय-चारित्र है।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैव प्रयासः ।।४६-१९।।

भावार्थ—मुनिराज विचारते हैं कि इस जगत में हम परमात्मा के ध्यान में लीन हैं, पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता हैं, संसार के मार्ग के त्यागी हैं। यदि हम ऐसा होकर के भी उपसर्ग परीषहों की कसौटी से परीक्षा में असफल हो जावें तो हमारा मुनिधर्म धारण का सर्व प्रयास वृथा ही हो जावे। इसलिए हमें कभी भी शान्तभाव का त्याग न करना चाहिए, कभी भी क्रोध के वश न होना चाहिए।

स्वसंवित्ति समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ।।७७-१९।।

भावार्थ—जब कषायों का विषमज्वर बिल्कुल शान्त हो जाता है तब ही संयमी मुनियों के भीतर उत्तम आत्मतत्व स्वसंवेदनरूप झलकता है। अर्थात् तब ही वे शुद्धात्मा का अनुभव कर सकते हैं।

रागादिपंकविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७—२३॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कर्दम के अभाव से जब चित्तरूपी जल प्रसन्न या शुद्ध हो जाता है तब मुनि को सर्व वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट भासता है।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८-२३॥

भावार्थ—वीतरागी साधु के भीतर ऐसा कोई अपूर्व परमानन्द पैदा होता है कि जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

निखिलभुवनतत्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३—३२॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू अपने ही आत्मा के द्वारा सर्व जगत के तत्वों को दिखाने के लिए अनुपम दीपक के समान, उपाधिरहित, परमानन्दमय, परममुनियों को भेदविज्ञानसे प्रगट ऐसे आत्मा का अनुभव कर।

(२७) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं—

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥५-३॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा इच्छा रहित होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए परिग्रह को त्याग कर एकान्त स्थान पर्वत की गुफा आदि में तिष्ठते हैं।

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ।।१४—१२।।

भावार्थ—जहां पापों से विरक्ति हो व शुभ कामों में प्रवृत्ति हो वह व्यवहारनय से चारित्र है। मुनियों के वह तेरह प्रकार है।

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ।।१६-१२।।

भावार्थ—जो कोई परिग्रह को त्याग कर व जिनेन्द्र के समान निर्ग्रंथरूप धारण कर समता, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का धारी हो, शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ध्यान करता है, उसी के उत्तम चारित्र होता है।

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरनिश्चला ।
तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ।।१८-१२।।

भावार्थ—निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में जो निश्चलता से स्थिति प्राप्त करना वह कर्मों का नाशक निश्चय सम्यक्चारित्र है ऐसा जानो।

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कमावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै ।।४-१३।।

भावार्थ—श्री अरहन्त भगवन्तों ने अत्यन्त कृपा करके बताया है कि ये सब काम आत्मा की शुद्धि के लिए ही करने योग्य हैं—(१) परम पूज्य देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति, वन्दना व पूजा। (२) सामायिक प्रतिक्रमण आदि छः नित्य कर्मों का तथा सम्यक्चारित्र का दृढ़ता से पालना। (३) उत्तम तप करना, (४) तीर्थयात्रा करनी, (५) परिग्रह आरम्भ आदि का त्यागना, (६) क्रोध, मान आदि कषायों का जीतना।

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं खसुखानि धनानि च ।।१७-१३।।

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धि के लिए अनुपम राज्य, इन्द्रियसुख तथा धनादि परिग्रह को त्याग कर पर्वत की गुफा में निवास करते हैं।

विशुद्धः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।
परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ।।१९-१३।।
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा है
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।।२०-१३।।

भावार्थ—आत्म-विशुद्धि ही परम धर्म है, यही आत्मा को सुख की खान है। यही परम चारित्र है, यही मोक्ष का मार्ग है। इसलिए बुद्धिमान मुनि का कर्तव्य है कि प्रतिक्षण सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के मनन से इसी आत्म शुद्धि का अभ्यास करे।

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि
निर्जने निवासमंतर्बहिःसंगमोचनं ।
मौनं क्षमातापनयोगधारणं
चिच्चितयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ।।११-१४।।

भावार्थ—जो कोई महात्मा शुद्ध चैतन्यरूप के मनन के साथ-साथ व्रतों को पालता है, शास्त्रों को पढता है, तप करता है, निर्जन स्थान में रहता है, बाहरी भीतरी परिग्रह का त्याग करता है, मौन धारता है, क्षमा पालता है व आतापनयोग धारता है वही मोक्ष को पाता है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ।।१०—१५।।

भावार्थ—शास्त्र को पढकर, गुरु से समझकर व साधर्मी की संगति से आत्मा के ज्ञान को पाकर उसी का सहारा लेकर बैठ और ध्यान कर, अन्य संगति का त्याग कर।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च
तत्त्वज्ञानं सर्वचितावमुक्तिः ।

निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां
मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८—१६॥

भावार्थ—परिग्रह का त्याग, निर्जन स्थान, तत्वज्ञान, सर्व चिन्ताओं का त्याग, बाधारहितपना, मन वचन काय का निरोध, ये ही ध्यान के साधन मोक्ष के प्रयोजन से कहे गए हैं।

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचितया।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतेव न संशयः ॥९—१८॥

भावार्थ—यदि शुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तवन किया जावे तो क्षण-क्षण में कर्मों से मुक्ति होती चली जाएगी और यदि परपदार्थों का चिन्तवन होगा तो प्रति समय कर्मों का बन्ध होता ही रहेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

(२८) प० बनारसीदासजी बनारसीविलास में कहते हैं—

छप्पै

जिन पूजहु गुरुनमहु, जैनमतबैन बखानहु।
संघ भक्ति आदरहु,जीव हिंसा न विधानहु॥
झूठ अदत्त कुशील, त्याग परिग्रह परमानहु।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु॥
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमें जीवनमुकत॥८॥

सवैया ३१

सुकृत को खान इन्द्रपुरी की नसैनी जान,
पाप रज खण्डन को, पौनरासि पेखिये।
भव दुख पावक बुझायवे को मेघ माला,
कमला मिलायवे को दूती ज्यों विशेखिये॥
सुगति बधू सों प्रीत; पालवेकों आलीसम,
कुगति के द्वार दृढ़; आगलसी देखिये।
ऐसी दया कीजे चित; तिहूं लोक प्राणी हित,
और करतूत काहू; लेखे में न लेखिये॥२५॥

जाके आदरत महा रिद्धि सो मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिये।
विघन विनास होय गीरबाण दास होय,
ज्ञान को प्रकाश होय भो समुद्र थाहिये॥
देवपद खेल होय मंगल सों मेल होय,
इन्द्रिनि की जेल होय मोषपथ गाहिये।
जाकी ऐसी महिमा प्रघट कहै कौंरपाल,
तिहुँ लोक तिहुँकाल सो तप सराहिये ॥८२॥

पूरब करम दहै; सरवज्ञ पद लहैं;
गहै पुण्यपंथ फिर पाप मैं न आवना।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दानशील तप सफल सुहावना॥
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा मैं करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ॥८६॥

सवैया २३।

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महा रुचि मासी।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा मति, पुत्रवधू समता प्रति भासी॥
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र महोदय दासी।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिंग, यो मुनि को कहिए गृहवासी ॥७॥

(२६) प० बनारसीदास जी नाटक समयसार में कहते हैं—

सवैया ३१।

लज्जावत दयावन्त प्रसन्न प्रतीतवंत,
पर दोष को ढकैया पर उपकारी है।
सौम्यदृष्टि गुणग्राही गरिष्ट सबकों इष्ट,
सिष्ट पक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ,
न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी है।
सहज विनीत पाप क्रियासो अतीत ऐसो,
श्रावक पुनीत इकवीस गुणधारी है ॥५५॥

कोई क्रूर कष्ट सहे तप सों शरीर दहे,
धूम्रपान करे अधो मुख व्हैके झूले हैं।
केई महाव्रत गहे क्रिया में मगन रहे,
वहे मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं॥
इत्यादिक जीवनि को सर्वथा मुकति नांहि,
फिरे जगमांहि ज्यों बयार के बघूले हैं।
जिन्ह के हिये में ज्ञान तिन्ह ही को निरवाण,
करम के करतार भरम में भूले हैं॥२०॥

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवन्त कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप हैं।
काल सो अतीत कर्म चाल सो अभीत जोग,
जाल सों अजीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोह को विलास यह जगत को वास मैं तो,
जगत सों शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कौन,
क्रिया को विचार सुपने की दौर धूप है॥११॥

भेष में न ज्ञान नहि ज्ञान गुरु वर्तन में,
मन्त्र जन्त्र गुरु तन्त्र में न ज्ञान की कहानी है।
ग्रन्थ में न ज्ञान नही ज्ञान कवि चातुरी में,
बातनि में ज्ञान नहीं ज्ञान कहा बानी है।
ताते वेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मन्त्र बात,
इनीते अतीत ज्ञान चेतना निशानी है।
ज्ञानही में ज्ञान नहीं ज्ञान और ठोर कहूं,
जाके घट ज्ञान सोही ज्ञान की निदानी है॥१११॥

हासी में विषाद बसे विद्या में विवाद बसे,
काया में मरण गुरु वर्तन में हीनता।
शुचि में गिलानि बसे प्रापती में हानि बसे,
जय में हारि सुन्दर दशा में छबि छीनता॥
रोग बसे भोग में संयोग में वियोग बसे,
गुण में गरब बसे सेवा माहि दीनता।
और जग रीत जेती गर्भित असाता तेति,
साता की सहेली है अकेली उदासीनता॥१॥

जे जीव दरवरूप तथा परयायरूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है ।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसो विमुख ह्वै विरागता चहत है ।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है ।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ।।३५।।

(३०) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं—

सवैया ३१ ।

काहूंसौ ना बोलें बैना जो बोलै तौ साता दैना,
देखै नाहीं नैनासेती रागी दोषी होइ कै ।
आसा दासी जानै पाखै माया मिथ्या दूर नाखैं,
राधा हीये माही राखै सूधी दृष्टी जोइ कै ।।
इन्द्री कोई दौरै नाही आपा जानै आपामाही,
तेई पावै मोख ठाही कर्मै मैल धोइ कै ।
ऐसे साधू बन्दौ प्रानी हीया वाचा काया ठानी,
जातै कीजे आपा ज्ञानी भर्मै बुद्धी खोइ कै ।।२०।।

छप्पै

एक दया उर धरौ, करौ हिंसा कछु नाहीं ।
जति श्रावक आचरौ, मरो मति अव्रतमाहीं ।।
रतनत्रै अनुसरौ, हरौ मिथ्यात अंधेरा ।
दसलच्छन गुन वरौ, तरौ दुख नीर सबेरा ।।
इक सुद्ध भाव जल घट भरौ, डरौ न सु-पर-विचार मैं ।।
ए धर्म पंच पालौ नरौ, परौ न फिरि संसार मैं ।।११।।

सवैया ३१

आव के बरस घनै ताके दिन केई गनै,
दिन में अनेक स्वास स्वासमांहि आवली ।
ताके बहु समै धार तामैं दोष हैं अपार,
जीव भाव के विकार जे जे बात बावली ।।
ताको दन्ड अब कहा लैन जोग सकित महा,
हौं तौ बलहीन जरा आवति उतावली ।

द्यानत प्रनाम करै चित्तमाँहि प्रीत धरै,
नासियै दया प्रकास दास को भवावली ।।११।।

सवैया २३

भोतन-भोग तज्यौ गहि जोग, संजोग वियोग समान निहारैं।
चन्दन लावत सर्प कटावत, पुष्प चढ़ावत खर्ग प्रहारैं ।।
देहसौं भिन्न लखैं निज चिन्न, न खिन्न परीसह मैं सुख धारैं।
द्यानत साध समाधि आराधिकै, मोह निवारिकैं जोति विचारैं ।।१६।।
आठ धरैं गुनमूल दुआदस, वृत्त गहैं तप द्वादस साधैं।
चारि हु दान पिबैं जल छान, न राति भखैं समता रस लाधैं ।।
ग्यारह भेद लहैं प्रतिमा सुभ, दर्सन ग्यान चरित्त अराधैं।
द्यानत त्रेपन भेद क्रिया यह, पालत टालत कर्म उपाधैं ।।१६।।
लोगनिसो मिलनौं हमको दुःख, साहनिसौं मिलनौं दुःख भारी।
भूपतिसौं मिलनौं मरनै सम, एक दसा मोहि लागत प्यारी ।।
चाह की दाह जलैं जिय मूरख, बेपरवाह महा सुखकारी।
द्यानत याहीतैं ग्यानी अबंछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।
निन्दक नाहिं क्षमा उर माहिं, दुःखी लखि भाव दयाल करैं हैं।
जीव को घात न झूठ की बात न, लेहि अदात न सील धरैं हैं ।।
गर्ब गयौ गल नाहिं कहूं छल, मोम सुभाव सौं जोम हरैं हैं।
देह सौं छीन हैं ग्यान में लीन हैं, द्यानत ते सिवनारि वरैं हैं ।।४६।।

सवैया ३१

वृच्छ फलैं पर--काज नदी और के इलाज,
गाय-दूध सन्त-धन लोक-सुखकार है।
चन्दन घसाइ देखो कंचन तपाई देखौ,
अगर जलाई देखौ शोभा विसतार है ।।
सुधा होत चन्दमाँहि जैसे छाँहि तरु माँहि,
पाले मैं सहज सीत आतप निवार है।
तैसें साध लोग सब लोगनि कौं सुखकारी,
तिनही कौ जीवन जगत माँहि सार है ।। ८ ।।

सवैया २३

क्रोध सुई जु करै करमौं पर, मान सुई दिढ़ भक्ति बढ़ावैं।
माया सुई परकष्ट निवारत, लोभ सुई तप सौं तन तावै ।।

राग सुई गुरु देव पै कीजिये, दोष सुई न विषै सुख भावै।
मोह सुई जु लखै सब आपसे, द्यानत सज्जन सो कहिलावै ॥११॥
पीर सुई पर पीर विडारत, धीर सुई जु कषाय सौ जूझै।
नीति सुई जो अनीति निवारत, मीत सुई अघसौ न अरूझै॥
औगुन सों गुन दोष विचारत, जो गुन सो समता रस बूझै।
मंजन सो जु करे मन मंजन, अजन सो जु निरजन सूझै ॥१२॥

(३१) भैया भगवतीदास जी ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

सवैया ३१

दहिकै करम--अघ लहिके परम मग,
गहिकैं परम ध्यान ज्ञान की लगन है।
शुद्ध निज रूप धरै परसौं न प्रीति करै,
बसत शरीर पै अलिप्त ज्यो गगन है॥
निश्चे परिणाम साधि अपने गुणें अराधि,
अपनी समाधि मध्य अपनी जगन है।
शुद्ध उपयोगी मुनि राग द्वेष भये शून्य,
परसों लगन नाहिं आपमे मगन है ॥ ६ ॥
मिथ्यामतरीत टारी, भयो अणुव्रतधारी,
एकादश भेद भारी हिरदै बहतु है।
सेवा जिनराज की है, यहै शिरताज की है,
भक्ति मुनिराज की है चित्त में चहतु है॥
बीसद्वै निवारी राति भोजन न अक्ष प्रीति,
इन्द्रिनि को जीति चित्त थिरता गहतु है।
दयाभाव सदा धरै, मित्रता प्रगट करै,
पाप मल पक हरै मुनि यो कहतु है ॥ ७ ॥
आतम सरूप ध्रुव निर्मल तत्त्व जानि,
महाव्रतधारी वन मांहि जाहि बसे हैं।
मोहनी जनित जे जे विकलप जाल हुते,
तिनको मिटाइ निज अन्तरंग बसे है॥
मन रूप पवन सों अचल भयो है ज्ञान,
ध्यान लाइ ताही के आनन्द रस रसे हैं।
तजि सब संग भए गिरि ज्यो अडोल अंग,
तेई मुनि जयवन्त जगत में लसे हैं ॥ ७ ॥

परमाणु मात्र पर वस्तु सों न राग भाव,
विषय कषाय जिन्हें कबही न छाय हैं।
मन वच काय के विकार की न छाया रही,
पाया शुद्ध पद तहा थिरभाव धाय हैं॥
जिनके विलास में विनाश दीसें बन्ध ही को,
सहज प्रकाश होई मोक्ष को मिलाप है।
धर्म के जहाज मुनिराज गुन के समाज,
आपने स्वरूप में विराजिहै आप हैं॥ ५॥

सवैया २३

पंथ वहै सरवज्ञ जहाँ प्रभु, जीव अजीव के भेद बतैये।
पंथ वहै जु निग्रन्थ महामुनि, देखत रूप महासुख पैये॥
पंथ वहै जहँ ग्रन्थ विरोध न, आदि औ अन्तलों एक लखैये।
पंथ वहै जहाँ जीव दया वृष, कर्म खपाइकें सिद्ध में जैये॥२३॥
पंथ वहै जहँ साधु चलै, सब चेतन की चरचा चित लैये।
पंथ वहै जहँ आप विराजत, लोक अलोक के ईश जु गैये॥
पंथ वहै परमान चिदानन्द, जाके चलै भव भूल न ऐये।
पंथ वहै जहँ मोक्ष को मारग, सूधे चले शिवलोक में जैये॥२४॥

सवैया ३१

नर देह पाये कहा पण्डित कहाये कहा,
तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहै रे।
लच्छि के कमाये कहा लच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे॥
केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा, जराहू न खैहै रे।
भ्रम को विलास कहा दुर्जन में वास कहा,
आतम प्रकाश बिन पीछे पछितैहै रे॥ ६॥
जाके होय क्रोध ताके बोध को न लेश कहूं,
जाके उर मान ताके गुरु को न ज्ञान है।
जाके मुख माया बसै ताके पाप केई लसै,
लोभ के धरैया ताको आरत को ध्यान है॥

चारों ये कषाय सु तौ दुर्गति ले जाय 'भैया',
इहां न वसाय कछू जोर बल प्रान है।
आतम अधार एक सम्यक प्रकार लखै,
याही ते आधार निज थान दरम्यान है ॥ २३ ॥

छप्पै

जो अरहन्त सुजीव, जीव सब सिद्ध भणिज्जे।
आचारज पुन जीव, जीव उवझाय गणिज्जे ॥
साधु पुरुष सब जीव, जीव चेतन पद राजे।
सो तेरे घट निकट, देख निज शुद्ध विराजे ॥
सब जीव द्रव्य नय एकसे, केवल ज्ञान स्वरूप मय।
तस ध्यान करहु हो भव्यजन, जो पावहु पदवी अखय ॥११॥

सवैया २३

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिनदेव सो आप निहारै।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्ध विचारै ॥
आप में आप लखै अपनो पद, पापरु पुण्य दुहूं निरवारै।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भांति क्रिया करतारै ॥१२॥

सवैया ३१

एक जीव द्रव्य में अनन्त गुण विद्यमान,
एक एक गुण में अनन्त शक्ति देखिये।
ज्ञान को निहारिये तो पार याको कहुं नाहिं,
लोक औ अलोक सब याही में विशेखिये ॥
दर्शन की ओर जो विलोकिये तो वहै जोर,
छहौं द्रव्य भिन्न भिन्न विद्यमान पेखिये।
चारित सों थिरता अनन्त काल थिर रूप,
ऐसे ही अनन्त गुण भैया सब लेखिये ॥१३॥
महा मन्त्र यहै सार पंच पर्म नमस्कार,
भौ जल उतारै पार भव्य को अधार है।

विघ्न को विनाश करै, पाप कर्म नाश करै,
आतम प्रकाश करै पूरव को सार है ।।
दुःख चकचूर करै, दुर्जन को दूर करै,
सुख भरपूर करै परम उदार है ।
तिहूँ लोक तारन को आत्मा सुधारन को,
ज्ञान विस्तारन को यहै नमस्कार है ।। ६ ।।

छप्पै

दुविधि परिग्रह त्याग, त्याग पुनि प्रकृति पंच दश ।
गहहिं महा व्रत भार, लहहिं निज सार शुद्ध रस ।।
धरहिं सुध्यान प्रधान, ज्ञान अम्रत रस चक्खहिं ।
सहहिं परीषह जोर, व्रत निज नीके रक्खहिं ।।
पुनि चढ़हि श्रेणि गुण थान पथ, केवल पद प्रापति करहिं ।
तत चरण कमल वन्दन करत, पाप पुंज पंकति हरहिं ।।११।।

सवैया ३१

भरम की रीति भानी परम सों प्रीति ठानी,
धरम की बात जानी ध्यावत घरी घरी ।
जिनकी बखानी बानी सोई उर नीके आनी,
निहचै ठहरानी दृढ़ ह्वैके खरी खरी ।।
निज निधि पहचानी तब भयौ ब्रह्म ज्ञानी,
शिवलोक की निशानी आपमें धरी धरी ।
मौ थिति विलानी अरि सत्ता जु हठानी,
तब भयो शुद्ध प्रानी जिन वैसी जे करी करी ।।१२।।

—: ० :—

अन्तिम मंगल और प्रशस्ति

मंगल श्री अरहन्त पद, मंगल सिद्ध महान।
मंगल श्री आचार्य हैं, मंगल पाठक जान ॥ १ ॥

मंगल श्री जिन साधु हैं, पंच परम पद मान।
भक्ति करें गुण हिय धरे, पावें नित कल्याण ॥ २ ॥

सहज समाधि दशा भई, है आतम अविकार।
ज्ञान देश सुख वीर्य मय, परम ब्रह्म सुखकार ॥ ३ ॥

नहीं कर्म आठों जहां, नहीं शरीर मलीन।
राग द्वेष मोहादि की नहीं व्यथा नहिं हीन ॥ ४ ॥

परमातम परमेश जिन, परम ब्रह्म भगवान।
आतमराम सदा सुखी, गुण अनन्त अमलान ॥ ५ ॥

जो जाने निज द्रव्य को, शुद्ध सिद्ध सम सार।
करै रमण होवे मगन, पावै गुण अविकार ॥ ६ ॥

आतम ज्ञान विलास से, सुखी होय यह जीव।
भव दुःख सुख में सम रहे, समता लहै सदीव ॥ ७ ॥

गृही होय या साधु हो, जो जानै अध्यात्म।
नर भव सफल करै वही, चाखै रस निज आत्म ॥ ८ ॥

आतम ज्ञान विचार से, जग नाटक को खेल।
देखत है ज्ञानी सदा करत न तासें मेल ॥ ९ ॥

निर्धन हो या हो धनिक, सेवक स्वामी होय।
सदा सुखी आध्यात्म से, दुःखी न कबहूं होय ॥१०॥

जगत जीव जानै सभी, निज सम भ्रात समान।
मैत्री भाव सदा करै, हो सहाय सुख मान ॥११॥

दुःखित भुखित रोगी जगत, तापै करुणा धार।
मदद करै दुःख सब हरैं, धरै विनय हर बार ॥१२॥

गुणजन धर्मी तत्व वित, देख प्रसन्न अपार।
गुण ग्राही सज्जन सदा, शुद्ध भावना सार ॥१३॥

विनय रहित हठ जो, करें धरें उपेक्षा भाव।
द्वेष भाव चित ना धरें, हैं सम्यक्त स्वभाव ॥१४॥

पर उपकार स्वभाव से, करें वृक्ष सम सार।
अथवा सरिता जल समा, करें दान उपकार ॥१५॥

लक्ष्मी बल अधिकार सब, पर हित आवे काज।
यही बान सम्यक्त की, धरें सुजन तज लाज ॥१६॥

राष्ट्र जाति जन जगत हित, करें धरें नहिं चाह।
महिमा सम्यक् ज्ञान की, प्रगटे हृदय प्रवाह ॥१७॥

लाभ हानि में सम रहे, जीवन मरण समान।
सम्यक्ती सम भाव से, करें कर्म की हान ॥१८॥

सहज परम सुख आप गुण, आपी में हर आन।
जो आपा को जानता, पावे सुख अघ हान ॥१९॥

ताके साधन कथन को, लिखा ग्रन्थ मन लाय।
रुचि धारी अध्यात्म के, पढ़ो सुनो हरखाय ॥२०॥

आपी साधन साध्य हैं, आपी शिव मग जाय।
आपी शिवमय होत हैं, आपी आप समाय ॥२१॥

धर्म आप माहीं बसे, आपो धर्मी जान।
जो धर्मी सो मुक्ति पथ, वही मुक्त सुख ज्ञान ॥२२॥

इसी तत्व को जानकर, रहिये ज्ञानी होय।
सम दम से निज ध्यान कर, बन्धे कर्म सब खोय ॥२३॥

होय निरंजन सिद्ध प्रभु, परमातम यति नाथ।
नित्य सुखी बाधा रहित, मूरत बिन जगनाथ ॥२४॥

श्रीमद् रायचन्द्र कवि, शत अवधान कराय।
गुर्जर भू भूषित कियो, परम बुद्धि प्रगटाय ॥२५॥

जैन शास्त्र बहु देखकर, अध्यातम रुचि धार।
निश्चय नय के मनन से, उपजो सम्यक् सार ॥२६॥

सहजानन्द विलास में, रत्नत्रय को पाय।
सफल जन्म कवि ने किया, चारित पन्थ बढ़ाय ॥२७॥

दिव्य ज्योति निज तत्व की, प्रगट भई उमगाय।
बाणी सरस सुहावनी, बुधजन प्रेम बढ़ाय ॥२८॥

व्यवहारी कितने हुते, किया काण्ड में लीन।
आतम तत्व लखे नहीं, कहैं साधु संगहीन ॥२९॥

निजको तत्त्व दिखाइयो, भए सत्य पथ धार।
निजानन्द को पाय के, उमगे अधिक अपार ॥३०॥

थानक धारी साधुवर, बहु व्यवहार प्रवीण।
निश्चय पथ ज्ञाता नहो, बाहर तप में लीन ॥३१॥

सो श्रीमद् परसाद से, पायो तत्त्व प्रसंग।
परम शिष्य उनके भए, श्री लघुराज प्रभंग ॥३२॥

श्रीमद् के पश्चात् बहु, किया प्रकाश स्वतत्व।
बहुजन शिव मारग लखो, तजा स्वकल्पित तत्व ॥३३॥

निकटानन्द अगास में, आश्रम रम्य बनाय।
नाम सनातन जैन का, दियो सकल सुखदाय ॥३४॥

श्री निज मन्दिर तहं लस, उभय जु एकी धाम।
दिगम्बरी श्वेताम्बरी, करें भक्ति सब आन ॥३५॥

सर्व धर्म पुस्तक मिले, अध्यातम रस पोष।
पढ़ें बहुत नर नारि तहं, जानें मारग मोष ॥३६॥

नित प्रति धर्म उपदेश की, चर्चा करत महान।
श्री लघुराज दयालु हो, सुनें भव्य दे कान ॥३७॥

बहुत बार संगति मिली, महाराज लघुराज।
अध्यातम चर्चा चली, भयो सु आतम काज ॥३८॥

सहज सुख साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य।
जो संग्रह हो जाये तो, पढ़ें भविक ते वाक्य ॥३९॥

ऐसी इच्छा पाय के, लिखा ग्रन्थ यह सार।
भूल चूक कुछ होय तो, विद्वन् लेहु सम्हार ॥४०॥

लेखक नाम निक्षेप से, है सीतल परसाद।
लक्ष्मणपुर वासी सही, भ्रमत हरत परमाद ॥४१॥

ब्रह्मचारि श्रावक कहें, लोग भेष को देख।
प्रेम कछुक वर्ते सही, श्री जिन आगम पेख ॥४२॥

छप्पन वय अनुमान मे, अमरावतिपुर आय।
वर्षा काल बिताइयो, बहु श्रावक संग पाय ॥४३॥

सिंहई पन्नालाल जी, प्रोफेसर हीरालाल।
श्री जमना परसाद हैं, सब जज चित्त रसाल ॥४४॥

साधर्मी जन संग में, सुख से काल बिताय।
लिखो ग्रन्थ निज हेतु ही, ज्ञान ध्यान मन लाय ॥४५॥

आश्विन सुदि अष्टम दिना, मंगल दिन शुभ पूर्ण।
वीर मुकत सम्वत् सभो, चौविस साठ अपूर्ण ॥४६॥

विक्रम उन्निस इक्यानवे, सन् उन्निस चौंतीस।
सोलह अक्टूबर सुभग, बन्दहुं वीर मुनीश ॥४७॥

जग जन भाव बढ़ाय के, पढ़ें सुनें यह सार।
मनन करें धारण करें, लहैं तत्त्व अधिकार ॥४८॥

यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवाणी।
इह विधि गये न मिलै सुमनि ज्यों उदधि समानी॥

प्रत्येक प्राणी को अनन्तकाल निगोद में रहने के बाद मात्र २००० दो हजार सागर कुछ अधिक समय के लिए त्रसपर्याय मिलती है जिसमें १६ भव मनुष्य, १६ भव स्त्री पर्याय एवं १६ नपुंसक के जन्म प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य भव में अपना आत्म-कल्याण नहीं किया तो फिर अनन्तकाल के लिए निगोद में जाना पड़ता है। अनन्त भविष्य के जन्मों का अन्त इसी पर्याय में करना होगा। जितनी चिन्ता शरीर की है उससे लाख गुणी चिन्ता आत्म-कल्याण की इसी भव में करनी होगी तभी दुःखों से छुटकारा होगा।

भजन (ब्र० शीतल प्रसाद जी कृत)

सुन मूरख प्राणी, कै दिन की जिन्दगानी॥ टेक॥
दिन-दिन आयु घटत है तेरी, ज्यों अंजुली का पानी,
काल अचानक आन पड़े, तब चले न आना कानी॥ १॥

कोड़ी कौड़ी माया जोड़ी, बन गये लाख करोरी।
अंत समय सब छूट जायेगा, न तोरी न मोरी॥ २॥

ताल गगन पाताल बनों में, मौत कही न छोड़ी।
तहखानों तालों के अन्दर, गर्दन आन मरोड़ी॥ ३॥

अहू मिक्को खलु सुद्धो दसंण णाण-मइयो सदा रुवी।
ण वि अत्थिमज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तंपि॥ ३८॥

निश्चय से मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय हूं, सदाकाल अरूपी हू, अन्य पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है।

तत्प्रति प्रीतिः चित्तेन तस्य वार्तापि ही श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाव निर्वाण भावनम्॥

जो व्यक्ति आत्मा के गुणों की चर्चा भी यदि प्रसन्नचित्त से सुनता है तो वो भव्य निश्चित ही (शीघ्र) निर्वाण का पात्र है।

श्री महावीर भगवान की जय